62156

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक

लेखक

डॉ॰ अच्युतानन्द घिल्डियाल

एम॰ ए॰ पी-एच॰ डी॰

अवैतनिक प्राध्यापक–अर्थशास्त्र विभाग

काशी विद्यापीठ, वाराणसी

प्रकाशक

विवेक घिल्डियाल बन्धु

डी॰ ५८।९ सिगरा वाराणसी

एवं

२६, गांधी नगर, आगरा

प्रकाशक

विवेक घिल्डियाल बन्धु

डी० ५८।९ सिगरा-वाराणसी

२६, गांधी नगर, आगरा

प्रथम संस्करण १९७२

द्वितीय संस्करण १९७३

मूल्य

छात्र संस्करण—तेरह रुपया

पुस्तकालय संस्करण—पन्द्रह रुपया

मुद्रक

शिवमूरत पाठक, व्यवस्थापक,

काशी विद्यापीठ मुद्रणालय,

वाराणसी

अपने अग्रज

पण्डित गोवर्धनप्रसाद घिल्डियाल

(खोला-श्रीनगर-गढ़वाल उ० प्र० निवासी)

असिस्टेंट रजिस्ट्रार

आगरा विश्वविद्यालय आगरा

को

जिनके प्रोत्साहन से मैं कुछ करने योग्य बना

सादर समर्पित

अच्युत

विषय सूची

प्रथम अध्याय—प्राचीन भारतीय आर्थिक व्यवस्थापक मनु

द्वितीय अध्याय—आचार्य शुक्र

तृतीय अध्याय—आचार्य भीष्म पितामह

पंचम अध्याय—आचार्य कामन्दकी

प्राक्कथन

आचार्य अच्युतानन्द घिल्डियाल को मैं पिछले लगभग २० वर्षों से जानता हूँ। इनके ज्ञान भण्डार, इनकी प्रतिभा का किसी रचना के रूप में हम परिचित नहीं थे। इनकी कर्तव्यनिष्ठा, लगन, कर्तव्यपरायणता, अथक परिश्रम, उत्तरदायित्व निर्वाह करने की क्षमता, व्यवहार पटुता से मैं पूर्ण प्रभावित था। इनके हृदय में सरस्वती का इतना भण्डार छिपा है यह इनकी इस रचना से मैं जान सका हूँ।

एम. ए. अर्थशास्त्र के पाठ्यक्रम 'प्राचीन भारतीय अर्थ विचार' के अध्यापन का भार मैंने इनके ऊपर सौंप दिया है। इनकी विद्वता विषय की गहन जानकारी वाक्पटुता, विषय का प्रतिपादान मुग्धकारी अध्यापनकला से हम सभी को मुग्ध होना पड़ा।

मेरा पूर्ण विश्वास है कि आचार्य घिल्डियाल एक बहुत ही प्रतिभा सम्पन्न, अच्छा व्याख्याता और सफल अध्यापक हैं।

यह 'प्राचीन भातीय आर्थिक विचारक' आज हम पाठकों के समक्ष है। जिस प्रकार का विषय विश्लेषण इसमें उपस्थित किया गया है, वह सराहनीय तो है ही साथ ही सुबोध और सरल शैली में सहज ही बोधगम्य भी है।

भारतीय वाङ्मय में विशाल आध्यात्म के सागर में से इन्होंने इन आर्थिक रत्नों का जो विलोडन द्वारा संचय किया है उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि एक उच्च लेखक की कला का इनमें पूर्ण विकास हुआ है। अर्थ विज्ञान की इस दुनिया में भारतीय चिन्तकों द्वारा कितना महान् योगदान हुआ है, इसकी पुष्टि आचार्य घिल्डियाल की इस रचना से हो रही है।

विषय वस्तु पाठकों के समक्ष है। अभी इस कार्य का श्रीगणेश इन्होंने किया है। इसे पूर्ण करने का इनका संकल्प पुष्पित और फलित होगा इनके इस शुभारम्भ के महान् प्रयास का मैं अभिनन्दन करता हूँ।

प्राचीन भारतीय आचार्यों, मनीषियों, ऋषियों और विद्वानों के विचार आचार्य घिल्डियाल के जीवन में उतरें ताकि इनके उस ज्ञान द्वारा आज की पीढ़ी ही नहीं अपितु आगे आने वाली पीढ़ी भी पूर्ण लाभान्वित हो सके।

अन्त में मैं इस रचना हेतु आचार्य घिल्डियाल को बधाई देता हूँ।

१३, वैशाख, २०२९
काशी विद्यापीठ,
वा रा ण सी

डी. एन. चतुर्वेदी
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
अर्थशास्त्र विभाग

पुस्तक परिचय

'प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक' लेखक—डाक्टर अच्युतानन्द घिल्डियाल एम० ए० पी-एच० डी०, अवैतनिक प्राध्यापक, काशी विद्यापीठ, वाराणसी ने राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रथम बार प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों के विचारों को प्रस्तुत कर प्रकाश में लाने का एक सराहनीय कार्य किया है।

भारतीय विश्वविद्यालयों में प्रायः अर्थशास्त्र में पाश्चात्य विचारकों के विचारों का ही अध्ययन, अध्यापन होता चला आ रहा है। प्रस्तुत पुस्तक में प्राचीन भारतीय अर्थ शास्त्रियों के चिन्तन को एकत्रित करने का अच्छा प्रयास किया गया है। हिन्दी अनुवाद के साथ मूल संस्कृत के उद्धरण देकर उनकी प्रमाणिकता सिद्ध की गई है। अर्थागम के उपाय, स्रोत, अर्थ विनियोग के स्थान, मुद्रा, कोष, बाह्य, आभ्यन्तर तथा आतिथ्य नाम शुल्कों का विवेचन और शासक द्वारा विभिन्न उद्योगों को प्रोत्साहित करना, प्रजा में विनयाधान, प्रजा की रक्षा एवं भरण-पोषण का उत्तरदायित्व आदि तथ्यों का इस ग्रन्थ में सरल-भाषा, रोचक शैली में वर्णन किया है। मननशील छात्रों एवं प्राध्यापकों के लिए यह पुस्तक विचारोत्तेजक और ज्ञानवर्द्धक सिद्ध होगी। ग्रन्थ सर्वथा पठनीय और संग्रहणीय है।

विद्वान् लेखक यदि प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों के विचारों को अधिक विस्तार पूर्वक एवं पाश्चात्य विचारकों के साथ तुलनात्मक दृष्टिकोण से प्रस्तुत करता तो यह पुस्तक अर्थशास्त्रियों के लिये परमोपादेय सिद्ध होती। इतने पर भी डाक्टर घिल्डियाल इस प्रयास के लिए धन्यवाद के पात्र हैं। आशा है लेखक द्वितीय संस्करण में पूर्व वर्णित सुझावों पर अवश्य ध्यान देगा।

आचार्य कैलासचन्द्र मिश्र
अवसर प्राप्त—प्रोफेसर
आगरा कालेज, आगरा

१८ नवम्बर १९७२

पुस्तक समीक्षा

'प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक'

लेखक डा० अच्युतानन्द घिल्डियाल, प्रकाशक : विवेक घिल्डियाल बन्धु, डी० ५८/९, सिगरा, वाराणसी एवं २६ गांधी नगर, आगरा।

आलोच्य पुस्तक में तीन प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों—आचार्य कौटिल्य, आचार्य भीष्म पितामह एवं आचार्य शुक्र के आर्थिक विचारों का विवेचन संक्षेप में प्रथम बार विद्यार्थियों के लाभार्थ एक अनुभवी लेखक ने प्रस्तुत किया है। सम्भवतः हिन्दी में इस दिशा की ओर कि हम अपने प्राचीन मनीषियों के विचारों का विश्लेपण करें, अभी बहुत कुछ होना है और प्रस्तुत पुस्तक का प्रणयन करके विद्वान् लेखक ने सही दिशा में कार्य किया है।

आज यह अत्यन्त दुःख की बात है कि हमारे विश्वविद्यालयों में अर्थशास्त्र कहकर जो कुछ भी पढ़ाया जाता है वह केवल एडमस्मिथ, मार्शल, राबिन्स, कीन्स आदि पश्चिमी विचारकों के मत हैं। सम्भवतः भारतीय शिक्षाविद् यह सोचते हैं कि भारतीय विचारकों की 'सैद्धान्तिक पूर्णता' अपूर्ण एवं धार्मिक थी उसमें कुछ भी विश्लेषण या सिद्धान्त नया नहीं है। अब तक लगभग दो सौ से ऊपर अंग्रेजी ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों को श्रेष्ठ विद्वान् और सैद्धान्तिक विचारक स्वीकार किया गया है। फिर भी हमारे भारतीय विद्वान् लेखक इस विषय पर कलम उठाने में संकोच करते हैं।

यह पुस्तक अर्थशास्त्र को एक नई दिशा देती है। इसके कुछ दोष भी हैं। यदि विषय को और विस्तार से तुलनात्मक आधुनिक सिद्धान्तों के साथ कहा गया होता तो पुस्तक की उपयोगिता और बढ़ती। आचार्यों की विचारधारा का वर्णन करने से पूर्व उनका संक्षिप्त परिचय देना भी आवश्यक है। फिर भी नई दिशा में प्रयास करने के कारण और विशेषकर हमारे विस्मृत प्राचीन भारतीय आर्थिक मनीषियों के विचारों का संक्षिप्त परिचय देने के कारण लेखक बधाई का पात्र हैं। कागज, मेकअप और मूल्य उचित है। भारतीय आर्थिक विचारधारा का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी और सामान्य जिज्ञासु पाठकों के द्वारा इस उपयोगी प्रकाशन का उचित स्वागत होना ही चाहिये।

जुलाई १९७२
काशी विद्यापीठ,
वाराणसी।

डॉ० सुधाकान्त मिश्र
प्रधान सम्पादक—'आर्थिकी'
अर्थशास्त्र विभाग

पुस्तक समीक्षा

साप्ताहिक 'सत्यपथ' एवं 'कर्मभूमि' कोटद्वारा—गढ़वाल में प्रकाशित

अन्य शास्त्रों के सदृश्य अर्थशास्त्री भी प्राचीन भारतीय विचारकों की एक अपनी परम्परा है। उसे मान्यता देकर विचारकों के प्रति हम भारतीयों ने कृतज्ञता प्रकट करने में कम प्रयत्न किया है। विदेशी अर्थशास्त्रियों और शिक्षा के प्रभाव से हम इतने प्रभावित हैं कि हम अपने प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों को वास्तविक मान्यता न दे सके।

प्रस्तुत 'प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक' पुस्तक में डाक्टर अच्युतानन्द घिल्डियाल अवैतनिक प्राध्यापक–अर्थशास्त्र विभाग–काशी विद्यापीठ, वाराणसी ने तुलनात्मक अध्ययन द्वारा निष्पक्ष भाव से विचार कर यह सिद्ध किया है कि प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों का अर्थशास्त्र के इतिहास के क्रमिक विकास में अद्वितीय योगदान है। लेखक का प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों को प्रकाश में लाने का यह सराहनीय और उत्तम प्रयास है। वस्तुतः इस प्रकार की प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों को प्रकाश में लाने वाली ऐसी पुस्तकों का हिन्दी में सर्वथा अभाव है। लेखक ने प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों की मूल पुस्तकों के उद्धरणों को पाद टिप्पणियों में उद्धरित कर एक स्तुत्य कार्य किया है। इससे अर्थशास्त्र के अध्येताओं को वास्तविकता का ज्ञान हो सकेगा और प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों के प्रति अनुराग होगा। प्राचीन संस्कृत में वर्णित भारतीय अर्थशास्त्रियों के विचारकों को सुगम भाषा में प्रस्तुत करना लेखक की विद्वता का परिचायक है।

काशी विद्यापीठ वाराणसी में अर्थशास्त्र एम. ए. विषय में प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक आचार्य शुक्र, आचार्य भीष्म, आचार्य कौटिल्य और आचार्य कामन्दकी पढ़ाये जाते हैं। यह अत्यधिक उपयोगी बात होती यदि अन्य भारतीय विश्वविद्यालयों की अध्ययन समितियाँ भी इन विचारकों को अर्थशास्त्र के अध्ययन में स्थान देने के प्रश्न पर सहानुभूति पूर्वक विचार करें।

लेखक ने भारतीय वाङ्मय के विशाल सागर को मन्थन कर कुछ रत्नों का विलोडन कर एक अच्छा संचय किया है। आचार्य कौटिल्य ने अपनी अद्वितीय आर्थिक नीति द्वारा मगध को एक अर्थ सम्पन्न सुखी एवं विशाल साम्राज्य के रूप में परिणित किया। मनु ने मानवीय सिद्धान्तों को दिया, शुक्र

ने नीति द्वारा व्यवहारशास्त्र का ज्ञान दिया, भीष्म ने राज्य की आर्थिक व्यवस्था को सुनियोजित किया, कामन्दक ने कौटिल्य को प्रमाण मान कर उसके सिद्धान्तों को नवीन रूप दिया। सभी प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों के आर्थिक सिद्धान्तों का बोधगम्य और ओजपूर्ण भाषा में लेखक ने तथ्यों सहित प्रस्तुत किया है।

लेखक संस्कृत, पालि, प्राचीन इतिहास, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजशास्त्र एवं हिन्दी का उच्चकोटि का विद्वान् है। इन सभी विषयों पर उसकी पुस्तकें हैं। यह अधिक उपयोगी होता यदि लेखक आधुनिक भारतीय आर्थिक विचारों पर भी प्रकाश डालने की कृपा करता। इस नवीन योजना के लिए विद्वान् लेखक बधाई का पात्र है। आशा है पाठक इस 'प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक' पुस्तक से लाभ उठायेंगे।

डॉक्टर रामप्रसाद ध्यानी
एम. ए. (अर्थशास्त्र–अंग्रेजी) पी एच. डी.
एम. एड. साहित्यरत्न

प्रिन्सिपल
पब्लिक कालेज कोटद्वारा
गढ़वाल (उत्तर प्रदेश)
२३ जून १९७२

प्रथम संस्करण की भूमिका

प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं संस्कृत साहित्य का विद्यार्थी होने के कारण मैं वर्षों से प्राचीन भारतीय विचारकों के विचारों को अध्ययन करता आरहा था किन्तु शोधकार्य करने के पश्चात् इस ओर लिखने की भावना जाग्रत हुई। वस्तुतः प्रत्येक कार्य समय के आने पर स्वतः सिद्ध हो जाता है यदि निष्ठावान् और कर्मण्य व्यक्ति अपनी साधना में लगा रहे। वैसे मानवीय स्वभाव, अज्ञान, किसी छोटे-बड़े कार्यो में लगे रहने अथवा आर्थिक कष्ट के कारण व्यक्ति धैर्य छोड़ बैठे या हताश हो जाये किन्तु एक दिन सफलता अवश्य मिलती है। कोई भी कार्य बड़ा छोटा नहीं अपितु व्यक्ति कार्य के कारण छोटा, प्रमाद और उच्चस्थान के कारण बड़ा समझने लगता है। जीवन यापन और शरीर रक्षा के लिए व्यवहारकुशल और नीतिज्ञ व्यक्ति को शरीर से धनो-पार्जन करने का कोई मार्ग खोजना ही पड़ता है। इसके साथ ही अपनी जन्मजात प्रवृत्ति की रक्षा के लिये स्वाध्याय में लगा कर ही प्रतिभा को एक न एक दिन प्रकाश में आने का अवसर मिलेगा। आचार्य कौटिल्य के जीवन से मैंने भी कुछ कार्य करने की लगन और उद्देश्य प्राप्ति की दिशा ग्रहण की।

सहसा मुझे डाक्टर दूधनाथ चतुर्वेदी जी, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष-अर्थशास्त्र विभाग-काशी विद्यापीठ-वाराणसी की अनुकम्पा से अर्थशास्त्र की स्नातकोत्तर कक्षा में प्राचीन भारतीय विचारकों के बिचार पढ़ाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अध्ययन-अध्यापन की प्रवृत्ति एवं रुचि को देखते हुए—अर्थशास्त्र विभाग के कतिपय सहयोगी प्राध्यापकों ने मुझे कक्षा के व्याख्यानों को पुस्तकाकार रूप देने के लिये प्रोत्साहित किया और दिशा दिखाई। मैं हृदय से उन मित्रों का आभारी हूँ जिन्होंने मेरी लेखनी को प्रेरणा और मुझे साहस दिया। सर्वप्रथम मैं श्री कृष्णनाथ शर्मा, श्री कृष्णकुमार कौल, श्री ब्रजेन्द्रकिशोर अग्रवाल, डा० पुरुषोत्तम पांडेय एवं डा० ईश्वरदत्त सिंह को धन्यवाद देता हूँ।

मैंने विद्यार्थियों के विशेष आग्रह और हिन्दी में इस विषय पर कोई पुस्तक न होने के कारण शीघ्रता से इस छोटी सी पुस्तक को प्रकाशित करने की चेष्टा की। कम समय और शीघ्रता के कारण त्रुटियों का इसमें होना स्वाभाविक ही है तदपि उन सारग्राही विद्वानों का मैं हृदय से आभारी

रहूँगा जो अपने अमूल्य परामर्शों द्वारा अगले संस्करण के लिये मुझे इस पुस्तक की त्रुटियों से अवगत करायेंगे ।

इस पुस्तक में प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों के विचारों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । वैसे तो सर्व प्रथम आचार्य शुक्र, आचार्य भीष्म पितामह और उसके पश्चात् आचार्य कौटिल्य का नाम आना चाहिये था किन्तु सर्व प्रथम व्याख्यान के रूप में और पुनः मुद्रण के लिये प्रेस में चले जाने के कारण क्रमबद्धता में त्रुटि आगई । तदपि यह त्रुटि द्वितीय संस्करण में सुधारी जायेगी ।

कौटिल्य अर्थशास्त्र स्वयं अपने में एक विस्तृत ग्रन्थ है किन्तु यदि वास्तविकता से देखा जाये तो इन प्राचीन विचारकों ने अपने ग्रन्थों में जीवनोपयोगी क्या चीज छोड़ी हैं ? यह बताना अत्यन्त कठिन है । किसी एक ही विषय पर कुछ विशेष लिखा है यह कहना पूर्व मत से भी अधिक कठिन है । कुछ प्राचीन समय में अर्थशास्त्र का नाम अधिक प्रचलित और लोकप्रिय था । अतः इस शास्त्र में सभी अन्य शास्त्र सम्मिलित थे और वे भी अथशास्त्र के ही नाम से सम्बोधित होने लगे थे सम्भवतया तभी सभी शास्त्रों की थोड़ी बहुत विषय सामग्री इस अर्थशास्त्र में मिलती है । प्राचीन भारतीयों ने जीवन के सम्पूर्ण पक्षोंपर गम्भीरता पूर्वक अध्ययन किया है और पाश्चात्यों ने केवल एक पक्षीय अध्ययन किया है ।

राजा, राज्यप्रणाली, राज्याधिकारी, उनके कार्य, जीवन में अर्थ का महत्त्व, अर्थ कैसे आये, उसके प्राप्त करने के साधन, उसकी सुरक्षा के उपाय, उसका उपयोग और वितरण, इन महान् कार्यों को एक व्यक्ति कैसे कर सकता था । अतः एक शक्तिशाली, सुयोग्य, न्यायकारी शासक की आवश्यकता प्रतीत हुई । जीवन रक्षा का उपाय कृषि, आय का साधन कृषि से उत्पन्न सामग्री जिससे व्यापार का जन्म हुआ, पशु-जिसने कृषि को उत्पादन के योग्य बनाया और मानव मस्तिष्क को दूध, घी से चेतना दे चिन्तन की ओर लगाकर उद्योगी बनाया । उद्योगी बनने पर उद्योग के कार्यों द्वारा समाज को संगठित कर आर्थिक विकास की ओर अग्रसरित किया । अर्थ ही जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग बन गया । अर्थ के लिये मनुष्य अनर्थ करने लगा । इसके लिये हमारे प्राचीन विचारकों ने सही मार्ग प्रशस्त कर धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष चार पदार्थों को बताकर मानव को वास्तविकता की ओर लाकर अपने चिन्तन का सार मानव समाज के कल्याण के लिए दिया ।

इस वास्तविकता का पाठक तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने के पश्चात् ही स्वयं निर्णय दे सकेगें।

इन प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों की पुस्तकों में आचार, व्यवहार, नीति, धर्म, दर्शन, इतिहास, राजशास्त्र, समाजशास्त्र और अर्थ प्राप्ति के साधनों का वर्णन विशद रूप से किया गया है। पापबुद्धि से उपार्जित धन से कैसा सुख दुख प्राप्त होता है और धर्मबुद्धि से उपार्जित अर्थ से कैसी अनुभूति होती है। सभी प्राचीन भारतीय विचारकों ने यही बताया है कि सही कार्यों और सत्य मार्ग से धन एकत्रित कर शरीर की रक्षा, परिवार की सेवा, समाज के नियमों का परिपालन, कर्म की उपासना, मानवता की पूजा, वास्तविकता की जिज्ञासा और अपने ही समान दूसरों को भी समझ कर सच्चे सामाजिक बनने का निर्देश दिया है।

आचार्य कौटिल्य ने अपनी ज्ञानराशि से मगध को एक विशाल साम्राज्य के रूप में परिणित किया और अपने अर्थशास्त्र का समस्त प्रयोग उसी राज्य में किया। अन्त में उस सच्चे विचारक का ग्रन्थ राजाओं के लिये प्रेरणा का स्रोत बना।

आचार्य भीष्म पितामह ने अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में अपनी उपार्जित और अनुभूत समस्त ज्ञान राशि का सार शान्तिपर्व में युधिष्ठिर को दिया।

आचार्य शुक्र ने अपने नीतिशास्त्र में क्या करना चाहिये? क्यों करना चाहिये और कैसे जीवन यापन करना चाहिये? ऐसे विचारों का प्रतिपादन किया है।

इन प्राचीन भारतीय विचारकों के विचारों का सार मैंने इस छोटी सी पुस्तक में आर्थिक विचारों के रूप में एकत्रित करने की चेष्टा की है।

मैं डाक्टर-प्रोफेसर गणेशप्रसाद उनियाल, डॉ० आनन्दशरण रतूड़ी, डाक्टर राजपति दीक्षित, डाक्टर मुरलीधर भगत, श्री रमेशचन्द्र तिवारी एवं डाक्टर सुधाकान्त मिश्र का कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मुझे इन विचारकों को लिखने के लिये प्रोत्साहित किया।

२३ मार्च, रामनवमी, १९७२
डी ५८।९ सिगरा,
वाराणसी

विनीत
अच्युतानन्द घिल्डियाल

द्वितीय संस्करण की भूमिका

मुझे 'प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक' पुस्तक के इस द्वितीय संस्करण के प्रकाशन में अत्यधिक प्रसन्नता हो रही है क्योंकि कुछ ही दिनों में इस पुस्तक का प्रथम संस्करण समाप्त हो गया था। पुस्तक के समाप्त होने पर कई दिनों से इसकी माँग थी, किन्तु परिवर्तित और परिवर्धित होने के कारण विलम्ब का होना स्वाभाविक ही था। मैं अर्थशास्त्र के छात्रों एवं अध्येताओं का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ जिन्होंने प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों के प्रति अपना अनुराग व्यक्त किया है और इस पुस्तक को अपनाया है। अब मैं इस द्वितीय संस्करण को परिवर्तित और परिवर्धित रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ। आशा है, पाठक इस द्वितीय संस्करण में पूर्व संस्करण की अपेक्षा अधिक तथ्य पूर्ण सामग्री पा सकेंगे। इस संस्करण में मनु और कामन्दकी दो प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों को अधिक बढ़ाया गया है। मनु को प्राचीन भारत का प्रथम आर्थिक विचारक माना गया है और आचार्य कामन्दकी के नीतिसार के अध्ययन से आचार्य कौटिल्य और उसके "कौटिल्य अर्थशास्त्र" की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। अतः मैंने इन दोनों आर्थिक विचारकों को भी इस संस्करण में देना अत्यावश्यक समझा है। इस पुस्तक के प्रथम संस्करण को देखकर कुछ विद्वानों ने मुझे प्रोत्साहित कर इस संस्करण को अध्येताओं के लिये विस्तृत रूप से लिखने, उनका संक्षिप्त परिचय देने एवं तुलनात्मक अध्ययन करने का सुझाव दिया है। उसी का परिणाम है कि यह प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक लघु पुस्तक इस विस्तृत रूप में पाठकों के सामने आ सकी है।

आधुनिक युग में अर्थशास्त्र विषय का भारतीय विश्वविद्यालयों में स्वतंत्र रूप से पठन-पाठन होता चला आ रहा है, किन्तु अध्ययन अध्यापन की पद्धति पाश्चात्य परम्पराओं पर ही चलती आ रही है। इस पद्धति से ऐसा प्रतीत होता है कि पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों का आधुनिक भारतीय अर्थशास्त्रियों पर ऐसा प्रभाव पड़ा हुआ है एवं उनकी ऐसी धारणा बनी है कि पाश्चात्य अर्थ-शास्त्री ही अर्थ के विषय में अधिक जानकारी रखते हैं और हमारे देश के प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने इस क्षेत्र में कुछ भी कार्य नहीं किया है। इस प्रकार की विचारधारा से तो ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे देश के अर्थशास्त्रियों ने

पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों के विचारों से प्रभावित होकर प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों को विस्मृत कर दिया है। यह हमारे लिए दुर्भाग्य का विषय है कि हम पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों के विषय में अधिक जानकारी रखते हैं किन्तु जिस धरती में रहते हैं एवं जिस धरती का अन्न-जल और स्वस्थ्य परम्पराओं को पाकर उच्च उत्तरदायित्वपूर्ण एवं विद्यामन्दिरों के शिक्षाविद् बनकर शिक्षा दे रहे हैं उसके और उस देश के प्राचीन अर्थशास्त्रियों के विचारों से हम दूर हैं। विश्वविद्यालयों के उच्च पदासीन अर्थशास्त्रवेत्ता प्राचीन अर्थशास्त्रियों के विषय में इतने उदासीन क्यों है? जिससे अपने विश्वविद्यालयीय अर्थशास्त्र के पाठ्यक्रम में उन प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों को स्वाध्याय का विषय नहीं बनाना चाहते। कुछ भारतीय विश्वविद्यालयों ने 'प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों' को अपने पाठ्यक्रमों में स्थान दिया है, वे शिक्षाविद् और निष्पक्ष चिन्तन करने वाले अर्थशास्त्री धन्यवाद के पात्र हैं। उनके इस प्रशंसनीय कार्य का भारतीय अन्य विश्वविद्यालयों को भी अनुकरण करना चाहिये। इस परम्परा से आधुनिक युग के उत्तराधिकारी युवापीढ़ी के नवयुवक अर्थशास्त्र के विद्यार्थी वस्तुस्थिति का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे, उन्हें पाश्चात्य एवं प्राचीन आर्थिक विचारकों के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करने का सुयोग प्राप्त होगा और प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों की चिन्तन प्रक्रिया प्रकाश में आयेगी जिससे प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों का वास्तविक मूल्यांकन हो सकेगा।

आज के युग में अर्थशास्त्री "एडम स्मिथ" को आधुनिक अर्थशास्त्र का पिता कहकर पुकारते हैं और उसका प्रभाव भारतीय अध्येताओं पर अत्यधिक पड़ा हुआ है। यह सत्य है कि "एडम स्मिथ" ने श्रम को ही अर्थ का मूल कारण माना है। जो वास्तव में ध्रुव सत्य है क्योंकि "एडम स्मिथ" ने अपनी पुस्तक वैल्थ ऑफ नेशन्स में बताया है कि "किसी भी वस्तु का वास्तविक मूल्य उसके निर्माण में व्यय किये हुए श्रम पर ही निर्भर करता है।" इस दृष्टि से श्रम वस्तुतः अर्थ का मूल कारण हुआ। "एडम स्मिथ" का जन्म सन् १७२३ में हुआ, और मृत्यु १७९० में हुई। प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक आचार्य कौटिल्य को ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी में माना गया है। आचार्य कौटिल्य ने 'एडम स्मिथ' से पूर्व ही श्रम को महत्त्वपूर्ण स्थान देते हुए श्रम को अर्थ का साधक माना है। श्रमहीन व्यक्ति कभी भी अपनी उन्नति नहीं कर सकता है। आचार्य कौटिल्य ने आज से २४०० वर्ष पूर्व एडम स्मिथ से पहले श्रम को आर्थिक विकास में सर्वोच्च स्थान दिया है। जैसे—"उद्योग ही अर्थ का मूल है"

(अर्थस्य मूलं-उत्थानम् । कौटिल्य १ अधिकरण १९ अध्याय ४० श्लोक उत्तरार्ध) श्रमहीन को प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने बहुत ही बुरा माना है, क्योंकि उससे मनुष्य शीघ्र ही अनर्थों से घिर जाता है । जैसे—"श्रम के विरुद्ध रहने पर सभी प्रकार के अनर्थं घेर लेते हैं" (अनर्थस्य विपर्ययः) "श्रमहीन रहने पर निश्चय ही पूर्व उपार्जित अर्थ एवं भविष्य में प्राप्त होने वाला अर्थ नष्ट हो जाता है" (अनुत्थाने ध्रुवोनाशः) आचार्य कौटिल्य ने तो साधारण जन का ही (श्रम) उद्योग के विना अनर्थ ही नहीं माना अपितु शक्ति सम्पन्न राजा को भी चेतावनी दी है कि राजा को भी श्रमयुक्त होना चाहिये यहाँ तक कि उद्योग (श्रम) करना ही उसका व्रत अर्थात् एक परम कर्त्तव्य होना चाहिये जैसे—"राज्ञोहि व्रतं उत्थानम्" कौटिल्य अधिकरण १९ अध्याय ३८ श्लोक । उद्योगी पुरुष सिंह रूपी लक्ष्मी को भी प्राप्त कर लेता है । "उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी" इस प्रकार के पुरुपार्थ युक्त वाक्यों से उद्योग (श्रम) का प्राचीन आर्थिक विचारकों के आर्थिक बिचारों में पर्याप्त मात्रा में वर्णन मिलता है जिससे पूर्ण रूप से एवं निष्पक्ष भाव से यह सिद्ध होता है कि पाश्चात्य अर्थशास्त्र के पिता 'एडम स्मिथ' से हजारों वर्ष पूर्व श्रम के सिद्धान्त का विवेचन कर चुके थे और श्रम को रचनात्मक रूप से अर्थ का मूल कारण मान चुके थे ।

यदि 'एडमस्मिथ' श्रम के सिद्धान्त के कारण अर्थशास्त्र का पिता माना गया है तो प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्री आचार्य कौटिल्य आदि जिन्होंने हजारों वर्ष पूर्व अर्थ प्राप्ति का मूल कारण (श्रम) उद्योग को माना है । उन्हें अर्थशास्त्र के अध्येता 'एडमस्मिथ' की तुलना एवं सिद्धान्त के समक्ष क्या मानेंगे ? यहाँ तक कि आधुनिक अर्थशास्त्र में आज के अर्थशास्त्री उन प्राचीन अर्थशास्त्रियों के आर्थिक विचारों का मूल्यांकन करते हुए मान्यता देने को तैयार नहीं हैं । आचार्य कौटिल्य ने तो (श्रम) उद्योग को अर्थ सम्पत्तियों को प्राप्त करने का मूल कारण मानकर इस प्रकार कहा है :—"उद्योग के कारण ही परिश्रमी उद्योग-श्रम का फल और अर्थ सम्पति को प्राप्त कर लेता है" । प्राप्यतेत फलं-उत्थानात्-लभते च-अर्थसम्पदम् । कौटिल्य १ अधिकरण १८ अध्याय ४१ श्लोक)

उद्योगहीन (अनुद्योगी, आलसी) लोगों को राष्ट्र का शत्रु, आर्थिक विकास का बाधक और आलस्य की बीमारी फैलानेवाला माना जाता है ।

प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों के आर्थिक विचारों से आधुनिक युग के अर्थशास्त्री सर्वथा अपरिचित से प्रतीत होते हैं । जिससे एक 'श्रम सिद्धान्त'

के कारण ही 'एडमस्मिथ' को अर्थशास्त्र का पिता कहा जाता है, जबकि 'एडमस्त्रिथ' पर किसी न किसी रुप में आर्थिक विचारक आचार्य कौटिल्य के विचारों का प्रभाव अवश्य पड़ा है। 'एडमस्मिथ' से पूर्व पाश्चात्यों ने आचार्य कौटिल्य जैसे आर्थिक विचारकों का अध्ययन कर लिया था। इस आधार पर यह भी सिद्ध होता है कि एडमस्मिथ ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "राष्ट्रों की सम्पत्ति" लिखने से पूर्व प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्रीय विषय का अध्ययन अवश्य किया होगा एवं जिस समय और जिस परिस्थिति में 'एडमस्मिथ' ने जन्म लिया उस समय श्रम के प्रति उनका देश इतना जागरूक और श्रम सिद्धान्त के प्रति इतना चैतन्य न रहा होगा तभी उसने पाश्चात्य अर्थशास्त्र में श्रम और श्रम के विभाजन का नवीन दृष्टिकोण देकर अर्थशास्त्र में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया और उसके अनुयायियों ने उसके इन्हीं आर्थिक विचारों के आधार पर उसे अर्थशास्त्र का पिता मानकर सम्मानित स्थान दिया एवं उसके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रगट की।

एडमस्मिथ का श्रम विभाजन भी प्राचीय भारतीय आर्थिक विचारकों के समक्ष कोई नवीन विचार एवं नवीन दिशा नहीं है। प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने आर्थिक विकास के लिए जहाँ उद्योग को महत्वपूर्ण एवं प्रथम स्थान दिया वहाँ दूसरी ओर यह भी अनुभव किया कि केवल एक व्यक्ति ही आर्थिक योजनाओं को सफल बनाने में एकाकी समर्थ न हो सकेगा। अतः उन्होंने श्रम के विभाजन के लिये वर्णव्यवस्था को आर्थिक विकास के लिए आवश्यक माना था। प्राचीन भारतीय सभी आर्थिक विचारकों के आर्थिक विचारों का अध्ययन करने पर अर्थशास्त्र के अध्येता यह अनुभव करेगें कि सभी प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने श्रम एवं श्रम विभाजन में वर्णव्यवस्था को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। ग्रीक आदि देशों के इतिहास का अनुशीलन करने पर कार्य विभाजन के लिये वहाँ भी भारतीय वर्णव्यवस्था से मिलते जुलते सिद्धान्तों का प्रतिपादन दिखाई देता है। अतः इस प्रकार के श्रम और श्रम विभाजन के तथ्यपूर्ण आधारों से यह परिपुष्ट होता है कि 'एडमस्मिथ' से पूर्व प्राचीन भारत ने श्रम और श्रम का सिद्धान्त आर्थिक विकास के रुप में प्रचलित हो चुका था इस आधार पर 'एडमस्मिथ' का सिद्धान्त प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों के लिये कोई नवीन चीज नहीं, हां उन लोगों के लिये पाश्चात्य अर्थशास्त्री प्रेरणा के श्रोत हो सकते हैं जिन्होंने प्राचीन भारतीयों के आर्थिक सिद्धान्तों एवं आर्थिक प्रणालियों का अवलोकन न किया हो।

अर्थशास्त्र में पाश्चात्य विचारधारा का अत्यधिक प्रभाव देखकर मैंने प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों के विचारों को आधुनिक युग के अर्थशास्त्र के अध्येताओं के समक्ष तुलना और चिन्तन करने के लिए प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। इधर मैं कई वर्षों से काशी विद्यापीठ में एम. ए. अर्थशास्त्र में इन प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों का अध्ययन-अध्यापन करता-कराता आरहा हूँ। प्राचीन, पाश्चात्य एवं आधुनिक अर्थशास्त्रियों के आर्थिक विचारों का एक तुलनात्मक अध्ययन भी करता आ रहा हूँ। इस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन से मैं जो कुछ अध्ययन कर सका उसको मैंने इस पुस्तक में देने का प्रयास किया है। प्राचीन और पाश्चात्य आर्थिक प्रणालियों को युग के अनुरूप देखने का कार्य मैंने अध्येताओं पर छोड़ दिया है। प्राचीन भारतीयों की आर्थिक प्रणालियों को कुछ लोगों ने धार्मिक ग्रंथ जैसा समझकर अध्ययन करना उचित नहीं समझा और यह कह कर प्राचीन भारतीय आर्थिक प्रणालियों की एवं आर्थिक विचारकों की अवेहलना की गई। इसमें दोष उन विचारकों का नहीं अपितु अध्ययन न करने वालों का है। वस्तुतः प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने अपने समय के अनुकूल प्रयुक्त होने वाले सभी विषयों का एक समन्वयात्मक दृष्टि से अपने ग्रंथों में आर्थिक विचारों के साथ वर्णन किया है। यदि गंभीरता पूर्वक, निष्पक्षभाव से सारग्राहिता से दुराग्रह को छोड़ एवं सत्य और तथ्य के निकट आकर देखा जाय तो वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जावेगी। इस प्रकार की विचारधाराओं से अनुप्राणित होकर ही मैंने प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों के मूल ग्रंथों का वर्षो अध्ययन करके उनके आर्थिक विचारों को एकत्रितकर सप्रमाण पाद टिप्पणियों के रूप में उद्धरित करने का प्रयास किया है। जिससे अर्थशास्त्र के अध्येता स्वयं वास्तविकता को समझकर प्राचीन भारतोय आर्थिक विचारकों के विचारों को जानने में रुचि लेगें और अर्थशास्त्र के पाठ्यक्रम में भारतीय अर्थशास्त्री इनकी वास्तविकता समझकर इन्हें स्थान देकर प्राचीन विचारकों के प्रति अपने कर्त्तव्य का निर्वाह और कृतज्ञता ज्ञापन करेगें।

अंत में मैं अर्थशास्त्र के उन अध्येताओं का कृतज्ञ हूँ जिनके प्रोत्साहन से मैं प्राचीन भारतीय विचारकों के विचारों को तीन रूपों में पृथक-पृथक पुस्तकाकार में प्रकाशित कर चुका हूँ। मेरे उस प्रयास से प्राचीन साहित्य के जिज्ञासु भारतीय वाङ्मय के प्रेमी और वागदेवी के उपासक १—प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक, २—प्राचीन भारतीय सामाजिक विचारक और ३—प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारक के रूप में उनके विचारों को एकत्रित पायेगें।

मुझे पूर्ण आशा है कि भारतीय विश्वविद्यालयों में अर्थशास्त्र का अध्यापन कराने वाले अर्थशास्त्री प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों के आर्थिक विचारों एवं आर्थिक प्रणालियों का आदर करते हुए उनके मौलिक चिन्तन को अपने विश्वविद्यालयीय पाठ्यक्रमों में स्थान देकर एक नई परम्परा स्थापित करेंगें। इस परम्परा की स्थापना से नव भारत के नवीन निर्माताओं को प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों के आर्थिक विचारकों के विचारों के पठन-पाठन का सुयोग प्राप्त हो सकेगा, और पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों के विचारों के साथ वास्तविकता से तुलनात्मक अध्ययन हो सकेगा। एक पक्षीय अध्ययन की अपेक्षा बहुपक्षीय अध्ययन और बहुमुखी चिन्तन का भी पाठक लाभ उठा सकेगें। अंत में मैं उन अध्येताओं का आभारी हूँ जो मेरी रचनाओं को अध्ययन कर मुझे आगे लिखने के लिए प्रोत्साहित करते हुए अपने सद्परामर्शों से लाभान्वित करते रहते हैं। उन विद्वान् लेखकों का भी मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ जिनकी रचनाओं से मैंने पुस्तक को लिखने में लाभ उठाया हैं।

डी ५८/९ सिगरा
वाराणसी
६ अगस्त १९७३

विनीत
अच्युतानन्द घिल्डियाल

"आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः ।
कर्मण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते ।"

(मनु ९ अध्याय ३०० श्लोक)

(अपने राष्ट्र को उन्नत करने वाले कार्यों को कष्ट सहन करने पर भी बार-बार प्रारम्भ रखना चाहिये, क्योंकि कार्यारम्भ करने वाले उद्योगी व्यक्ति को अर्थ (श्री) निश्चय ही स्वयं सेवन करता है ।)

१

प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्थापक मनु

प्रथम अध्याय

अर्थव्यवस्थापक मनु

परिचय

भारतीय दृष्टिकोण संसार के सभी देशों के दृष्टिकोणों से सर्वथा भिन्न, मौलिक और वैज्ञानिक पद्धतियों से परिपूर्ण है। जगत का निर्माण किस प्रकार हुआ और किसने किया? इसको संसार के सभी लोग किसी न किसी रूप में स्वीकृत करते ही हैं कि किये हुये काम का फल पाने अथवा अच्छे काम करने के लिये इस संसार की उत्पत्ति हुई है। जीवन का वास्तविक सुख-दुख यदि मनुष्य एक साथ कहीं देख सकता है तो वह इस जगत में ही देख सकता है।

मानव का अपना एक मानवीय स्वभाव है जिसके कारण वह स्वार्थ की ओर शीघ्र अग्रसरित होता है। यहाँ तक कि कई बार वह अपने स्वार्थ में दूसरों का अहित कर जाता है। इस प्रकार की भावनायें मनुष्य के मस्तिष्क से दूर हों और वह निरंकुश होकर समाज का अहित न करे। अतः समाज की सुव्यवस्था के लिये किसी योग्य, न्यायप्रिय, समदृष्टि अर्थव्यवस्थापक की आवश्यकता हुई। मनु को भी ऐसे ही समय में शासन का भार देकर अर्थ-व्यवस्थापक बनाया गया है। हिन्दुओं का ऐसा ही विश्वास है कि मनु विधान का पहला निर्माता है जिसने नियमों को दृढ़ बनाकर प्राणिमात्र के प्रति अच्छे व्यवहार करने का प्राविधान दिया है। कुछ ऐसी धारणायें भी मनु के संविधान में हैं जो आर्यों और अनार्यों की भाँति ऊँच-नीच की भावनायें व्यक्त करती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वैवाहिक सम्बन्धों के कारण या बहुत बाद में कुछ लोगों ने स्वार्थ की भावनाओं से ऐसा पाठ बढ़ा दिया हो।

(१) 'शतपथ ब्राह्मण' में जलप्लावन का वर्णन आया है, उसमें सारी पृथ्वी जलमग्न हो जाती है। केवल मात्र एक मनु ही पुनः सृष्टि के निर्माण के लिये शेष रह जाते हैं और वह सृष्टि की पुनः नये रूप से स्थापना करता है। अतः मनु को प्रथम सम्राट् और आदि अर्थव्यवस्थापक माना गया है।

१—शतपथ ब्राह्मण—१।५।१।७

"इस जगत में अराजकता की स्थिति में शक्तिशालियों के भय से लोग इधर उधर भागने लगते हैं। अतः इन सब की रक्षा के लिये ही ईश्वर ने राजा की उत्पत्ति की।[१]"

मनुस्मृति के प्रथम अध्याय में सात मनुओं का वर्णन नाम बताकर इस प्रकार किया गया है :—

"१—स्वारोचिष, २—उत्तम ३—तामस ४—रैवत ५—चाक्षुष ६—महान् तेजवान् वैवस्वत, ७—अधिक बलवाले-स्वायम्भुव आदि सात मनुओं ने अपने-अपने शासन काल में इस सम्पूर्ण जगत को उत्पन्न कर इसका अच्छी प्रकार पालन किया।"[२]

इस प्रकार मनु को प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों में प्रथम स्थान दिया गया है। आर्थिक सुव्यवस्था द्वारा मनु ने प्रजावर्ग के कल्याणार्थ नियमों का प्रथम वार प्रतिपादन किया। अतः मनु को प्रथम नियम प्रवर्तक माना गया है।[३]

स्मृतियों में मनुस्मृति का अपना एक महत्त्वपूर्ण और प्रथम स्थान है।

पाश्चात्य संस्कृत साहित्य के लेखकों ने प्राचीन भारतीय वाङ्मय के लेखकों की तिथियों को ईसा से दूसरी-तीसरी शताद्वी से ऊपर माना ही नहीं है। डाक्टर कीथ ने मनुस्मृति को ईसा पूर्व द्वितीय-तृतीय शताब्दी में माना है। जब इसका वास्तविक समय ६ शताब्दी ई० से पूर्व होना चाहिये।

'मनुस्मृति' अपने युग की एक प्रसिद्ध और सर्वप्रिय रचना मानी गयी है। इस ग्रंथ पर इसकी लोक प्रियता के कारण अनेक विद्वानों मेधातिथि, गोविन्द-राज, कुल्लुक भट्ट आदि ने टीकायें लिखकर मनु के विचारों को अधिक स्पष्ट

१—अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतोविद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राज्ञानमसृजत्प्रभुः। मनु ७ अध्याय ३ श्लोक

२—स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा।
चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च॥
स्वायम्भुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरितेजसः।
स्वे स्वेऽन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्याऽपुश्चराचरम्॥
मनुस्मृति १ अध्याय ६२–६३ श्लोक

३—विस्तृत अध्ययन के लिये लेखक की 'प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारक' पुस्तक में राजधर्म प्रवर्तक मनु को देखे। पृष्ठ ३ से ८ तक

करने का प्रयास किया है। महामहोपाध्याय गङ्गानाथ झा ने मनुस्मृति का अंग्रेजी अनुवाद भी प्रस्तुत किया है।

अर्थ जगत के व्यवहार के लिए परमावश्यक है अतः प्रथम आर्थिक विचारक मनुने अर्थ प्राप्ति के साधनों की प्राप्ति उद्योग, कर व्यवस्था, मूल्यनिर्धारण, वस्तु वितरण, व्यापार, कृषि आदि पर सुव्यवस्थित रूप से नियन्त्रण रख कर प्रजा के आर्थिक जीवन को उन्नत करने पर विशेष ध्यान दिया है।

मनु ने समाज की अराजकता वाली स्थिति में समाज के कल्याण के लिये उपकार कर सद्व्यवस्था लाने और राज्य के आर्थिक जीवन को उन्नत करने में बहुत बड़ा काम किया। शोषण की मनोवृत्ति को दूर कर पोषण का कार्य प्रारम्भ किया और सभी प्रजाजनों की आर्थिक स्थिति उन्नत करने का प्रयास किया।

वस्तुतः संस्कृत साहित्य के इतिहास लिखने वाले एवं प्राचीन भारतीय वाङ्मय का अध्ययन करने वाले पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी इच्छा के अनुसार अथवा किसी अंशविशेष पर ध्यान देकर अर्थव्यवस्थापक मनु की तिथि तीसरी शताब्दी ई० पू० माना हैं। जब कि मनुस्मृति एवं आर्थिक विचारक मनु का नाम आचार्य शुक्र ने, आचार्य भीष्म पितामह ने एवं आचार्य कौटिल्य ने अपने-अपने ग्रन्थों में बड़े सम्मान के साथ लिया है। इन आचार्यों के ग्रन्थों का अध्ययन करने पर यह विदित होता है कि मनु इनसे पूर्व हो चुके थे और उनके सिद्धान्त समाज में अधिक प्रचलित हो चुके थे। सिद्धान्तों की सारगर्भिता और वास्तविकता के कारण 'मनु' के बाद के विचारकों ने उन्हें अपने ग्रंथों में स्वीकार किया है। ऐसा भी हो सकता है कि बहुत बाद में इस ग्रन्थ में समय के अनुसार अन्य विद्वानों ने अपने विचारों को मनु के सुप्रसिद्ध ग्रंथ मनुस्मृति में जोड़ा हो। प्राचीन ग्रंथों की तुलना करते हुए यदि देखा जाय तो मनुस्मृति पर ही विद्वानों की सबसे अधिक टीकायें उपलब्ध होती हैं। हो सकता है कि टीका करते हुए टीकाकारों ने अपने विचारों के अनुसार पुस्तक के आकार को परिवर्धित कर दिया हो। अन्यथा दो विभिन्न विचार-धाराओं का उसमें समागम कैसे होता? मनु ने सामाजिक दृष्टि से श्रमविभा-जन को वर्णव्यवस्था के अनुसार महत्त्व दिया। अपनी-अपनी क्षमता के अनु-सार व्यक्ति सामाजिक कार्यों के सम्पादन में योगदान देकर राष्ट्र का निर्माण करेगा। अतः इस व्यवस्था का उस युग में भेदभाव पूर्ण और ऊँच-नीच के

विचारों का प्रदर्शन करना उद्देश्य न था। जैसा कि अंग्रेजी भाषा की पुस्तकों के माध्यम से पाश्चात्य लोगों ने इसका प्रचार किया।

पाश्चात्य लेखकों के विचारों से अनुप्राणित होकर हमारे कुछ लोग मनु पर आक्षेप भी करते हैं किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। मनु प्रथम शासक और अर्थव्यवस्थापक रहा है। आर्थिक व्यवस्था को चलाने के लिए श्रम (उद्योग) को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया और शीघ्रता एवं कुशलता से कार्य सम्पन्न हो। अतः श्रमबिभाजन हेतु वर्णव्यवस्था के सिद्धान्त को राष्ट्रहित के लिए सर्वोपरि माना गया हो।

पाश्चात्य लेखकों ने आचार्य कौटिल्य की तिथि ईसा से पूर्व तीसरी, चौथी शताब्दी स्वीकार किया है। उस विचारधारा के अनुसार कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में स्थान-स्थान पर मनु के अनुयायियों का मत दिया है। जिस मनु का आचार्य कौटिल्य ने अनेक बार नामोच्चारण अपने ग्रन्थ में किया है वह 'मनु' कौटिल्य से दो शताब्दी पश्चात् कैसे हो सकता है? अध्येता स्वयं दो भ्रमात्मक और विरोधी मतों पर चिन्तन कर वास्तविकता को महत्व देंगे। प्राचीन भारतीय विचारकों की रचनाओं में और उनकी तिथियों में पाश्चात्य लेखकों ने अप्रामाणिकता, भ्रमात्मिकता एवं उन्हें नवीन दिखाकर अपने सर्वगुण सम्पन्न होने का परिचय देना था।

जीवन में अर्थ का महत्त्व:—सम्पूर्ण संसार में मानव को मननशील होने के कारण चौरासी लाख जीव-जन्तुओं में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। सृष्टि के विकास के साथ ही साथ मानव ने भी अपने चिन्तनयुक्त स्वभाव से अपने जीवन को उन्नत और सुखमय बनाने के लिए मनन किया। उस मनन का ही फल था कि उस मानव ने उद्योग के बल पर बहुत बड़े-बड़े कार्य किये और जीवन यापन करने का मार्ग खोज निकाला। जीवन के लिए कुछ नितांत आवश्यक सामग्रियों को खोजा। उन सामग्रियों में कृषि मुख्य और आवश्यक प्रमाणित हुई। कृषि की अभिवृद्धि के लिए साधनों को खोजा गया तो सबसे पहले 'पशु' इसके योग्य प्राप्त हुआ। पशु ने कृषि को कर्षण करने के कारण कृषि के योग्य बनाया और अधिक उत्पादन के लिए खाद देकर सुस्वादिष्ठ अन्न उत्पन्न किया। अब कृषि और पशु अर्थ के रूप में सम्मान पाने लगे। मानव के जीवन मे अर्थ का इसी प्रकार महत्त्व बढ़ने लगा। जीवनोपयोगी वस्तुओं को मनुष्य अर्थ के बिना कैसे प्राप्त कर सकता है? संसार में सर्वप्रथम चाहे सिक्कों का प्रयोग न रहा हो किन्तु व्यापार और जीवनोपयोगी खाद्य सामग्री वस्तु विनिमय के

द्वारा प्राप्त की जाती थीं। जिसके पास पशु, कृषि एवं कृषि से उत्पादित सामग्री रहती वही व्यक्ति अर्थवान् समझा जाता था। इस प्रकार आर्थिक विकास के साथ ही साथ अर्थ का महत्व बढ़ता गया और अर्थ जीवन को सुखमय बनाने एवं जीवनयापन के लिए आवश्यक होता गया।

वस्तुतः मानवीय जीवन में अर्थ का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है। अर्थ एक प्रकार से जीवन सार-सा हो गया। अर्थहीन व्यक्ति अपनी किसी प्रकार की भी कामना की पूर्ति नहीं कर सकता है। अर्थ के विना मानव का जीवन नगण्य माना गया है। अर्थवान् अर्थके बल पर संसार की अप्राप्य वस्तुओं को भी प्राप्तकर लेता है। अर्थवान् अर्थ के बल पर ही धर्म, काम और मोक्ष को भी प्राप्त कर लेता है। अर्थ को चारों पदार्थों का मूल कारण माना गया है। अर्थशास्त्र में अर्थ के अनेक नाम हैं और अनेक साधनों के द्वारा जीवन-यात्रा सुखपूर्वक व्यतीत करने के लिए अर्थ संग्रह किया जाता है। केवल अर्थसंग्रह करने मात्र से ही कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती है, अपितु उसकी सुरक्षा और वृद्धि के साधनों पर संग्रह करने से भी अधिक ध्यान दिया गया है। यदि अर्थ का उपयोग और उपभोग न होता तो अर्थशास्त्र की दृष्टि से वह अर्थ व्यर्थ और पृथ्वी में दबी हुई सम्पदा के समान होता। इस प्रकार की सम्पदा से न व्यक्ति को ही लाभ है न समाज को ही लाभ है और न राष्ट्र का ही हित है। ऐसा अर्थ किस काम का? यद्यपि पृथ्वी को ही अर्थगर्भा कहा गया है किन्तु बिना अर्थशास्त्र की व्यवस्था के पृथ्वी कभी अर्थ दे सकती है? नहीं। उपभोग के सिद्धान्त के अनुसार ही मनुष्य उत्पादन वृद्धि की ओर अग्रसरित होता है।

आचार्य कौटिल्य ने अपने 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' में अर्थ और अर्थशास्त्र के विषय में 'पृथ्वी' को सबसे उपादेय प्रमाणित किया है। वस्तुतः उपभोग और उपयोग ने ही उत्पादन के माध्यम से 'उद्योग' को जन्म दिया है। इसलिए प्राचीन, पाश्चात्य और आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने 'पृथ्वी और उद्योग' को अर्थ प्राप्ति का मूल उद्गम कहा है। जिससे जगत का व्यवहार चलता है या जिससे मनुष्यों की आजीविका चलती है उसे ही वास्तव में 'अर्थ' कहा जाता है।

अर्थव्यवस्थापक 'मनु' ने जीविका को चार प्रकार का माना है १—ऋत २—अमृत ३—मृत ४—प्रमृत।

१—किसानों के खेतों में फसल काटने के पश्चात् छूटे हुए अन्न को पाना ऋत कहलाता है।

२—बिना मांगे जो मिल जाये उसे 'अमृत कहते हैं।

३—भिक्षा माँग कर जो मिलता है उसे 'मृत' कहते हैं।

४—कृषि से उत्पन्न होने वाले अर्थ को 'प्रमृत' कहा गया है।[1]

जिस आजीविका को करने में सम्मान और सत्य बना रहे वही वृत्ति सर्वोत्तम मानी गई है। जीवन रक्षा के लिए मनुष्य को कुछ न कुछ कार्य करना ही पड़ता है किन्तु उस जीविका से क्या लाभ जिसमें मनुष्य को सुख और प्रसन्नता न मिल सके। दूसरों का अहित करने या दूसरों को कष्ट पहुंचा कर यदि अपनी आजीविका चलाई तो क्या लाभ। निन्दनीय कार्यों से वृत्ति चलाना गर्हित माना गया है। जैसे :—

"वाणिज्य को झूठ सच बोलने के कारण सत्यानृत कहा गया है, उस जीविका से भी जीवन-निर्वाह किया जाता है। सेवावृत्ति को श्ववृत्ति (श्वान-कुत्ते की वृत्ति) माना गया है। अतः उस वृत्ति का परित्याग कर देना चाहिये।"[2]

मनुष्य को वृत्ति अर्थात् आजीविका के लिए कभी भी लोक के विरुद्ध कार्यों को नहीं अपनाना चाहिये। ऐसा करने से अन्य सामाजिकों पर भी बुरा प्रभाव पड़ेगा और सामाजिक नियमों का उलंघन होगा। व्यवस्था में इस प्रकार की बाधा आते ही आर्थिक विकास रुक जायेगा और लोग सही मार्गों को छोड़कर बुरे मार्गों की ओर प्रवृत होंगे। अतः प्राचीन भारतीय अर्थ व्यवस्थापक मनु ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं :—

"जीविका के लिए समाज विरुद्ध कार्यों का कभी भी आश्रय ग्रहण न करे"[3]

भारतीय दृष्टिकोण ने व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की कल्याणकारी भावनाओं का ध्यान रखते हुए धर्म अर्थात् अच्छे नियमों का परिपालन करने के लिए अर्थ को आध्यात्मिक दृष्टिकोण से चारों पदार्थों में द्वितीय स्थान दिया है जिससे व्यक्ति, समाज, राष्ट्र सामाजिक नियमों का उलंघन न कर सकें। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में एक नैतिकता का भी ध्यान रखा गया है। अच्छे नियमों का पालन करते हुए लोग दूसरों के अर्थ को भूल कर भी अपहरण न

---

१. ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम्।
मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्॥ मनुस्मृति ४ अध्याय ५ श्लोक

२. सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते।
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्॥ मनु० ४ अध्याय ६ श्लो०

३. न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्ति हेतोः कथञ्चन॥ मनु० ४ अ० ११ श्लोक पूर्वार्ध।

करें। आर्थिक योजनाओं को क्रियान्वित करने में, उसमें कार्य करने वालों को किसी प्रकार का भी भय न हो और वे कर्तव्यनिष्ठ एवं निश्चिन्त होकर अपने लाभ, समाज के हित और राष्ट्र के कल्याण एवं अभ्युदय के लिए अधिक से अधिक कार्य करेंगे। प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण इसलिए अर्थ के विषय में सर्व प्रिय, ग्रहण करने योग्य, सर्व जन कल्याणकारी और आर्थिक विकास के लिये आदर्श सिद्ध हुआ। प्राचीन भारतीय सभी आर्थिक विचारों ने एक मत होकर एक ही क्रम से और एक ही विचारधारा से इस पद्धति को अपनाया है। इस चतुर्वर्ग के सिद्धान्तों में प्राचीन आर्थिक विचारकों में कहीं भी तनिक मतभेद नहीं दिखाई देता। इसका मुख्य कारण दृष्टिकोण की गम्भीरता वास्तविकता और दूरदर्शिता थी। सभी का उद्देश्य एक ही था, जीवन को सुखमय, सम्पन्न, समुन्नत और परमपद मोक्ष प्राप्त कराना था।

आर्थिक विकास, अर्थप्राप्ति और आर्थिक योजनाओं को सफल बनाने में अच्छे शासक का बहुत बड़ा हाथ रहा है। इसलिए प्रत्येक प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक ने आर्थिक विवेचन करने से पूर्व शासक—राजा को अपनी रचनाओं में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उसे शासक का सर्वोच्च पद देकर सम्मानित किया और उसे जनता के लिये आदर्श मानकर सच्चरित्र, विद्वान्, बुद्धिमान् और व्यवहार कुशल होना आवश्यक माना है।

अति प्राचीन समय से ही देखा गया है कि अराजकता की स्थिति में संसार के किसी भी राष्ट्र ने उन्नति नहीं की है। सुख से जीवन यापन करने के लिए किसी शक्ति सम्पन्न शासक की आवश्यकता प्रतीत हुई। सुशासक के होने से शासन सुव्यवस्थित रूप से चलने लगा। समस्त प्रजावर्ग की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उद्योग धन्धों को अपनाया जाने लगा और जगत व्यवहार और जीवन को सुखमय बनाने के लिए 'अर्थ' को महत्व मिला।

अर्थ का संग्रह कैसे किया जाये ? जिस अर्थ को जीवन यापन के लिए इतना आवश्यक माना गया है, अन्ततोगत्वा वह अर्थ कैसे और कहाँ से प्राप्त होगा ? प्रथम शासक और अर्थव्यवस्थापक मनु ने समाज में अर्थव्यवस्था स्थापित करने के लिए मानवीय सिद्धान्तों पर अर्थ संग्रह करने की व्यवस्था बताई है। निन्दनीय और समाज विरोधी कार्यों से अर्थ उपार्जन करना अत्यधिक बुरा एवं शोषणयुक्त माना है। अतः इन उपायों द्वारा व्यक्ति को अर्थ का संचय करना चाहिए।

"अपने जीवन को यापन करने के लिए अनिन्दनीय कार्यों और शरीर को व्यथा न देकर अर्थ संचय करना चाहिये।"[1]

प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्थापक मनु ने जहाँ जीवन में अर्थ का अत्यधिक महत्व माना है। वहां दूसरी ओर बुरे उपायों और मार्गों द्वारा अर्थ उपार्जन को अत्यधिक बुरा भी माना है। अपने अच्छे कामों द्वारा मनुष्य को सामाजिक व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिए अर्थ प्राप्त करने पर बल दिया है। प्रायः यह भी देखा गया है कि बुरे मार्गों से अर्थ एकत्र करने में व्यक्ति अपने शरीर को अधिक कष्ट देता है और समाज के भय से परेशान रहता है एवं उपार्जित अर्थ का सुखपूर्वक उपभोग भी नहीं कर सकता है, कारण क्योंकि उसके उपार्जन के मार्ग समाजोचित नहीं हैं। अत. मनु ने निन्दनीय और शरीर को कष्ट देने वाले उपायों से अर्थ उपार्जन को बहुत बुरा माना है।

भिक्षा माँग कर या चोरी करके कोई भी व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र अपनी आर्थिक उन्नति नहीं कर सकता है।

जीवन में मनु ने उद्योग के द्वारा जीवन निर्वाह करनेवाली वृत्ति को ही समाज में मान्यता देकर सम्मानित स्थान दिया है। कुत्ते की वृत्ति, दुष्ट चेष्टाओं द्वारा अर्थ प्राप्त करना निन्दनीय माना है। उद्योगी व्यक्ति अपने उद्योग के बल पर ही उन्नति करता हुआ समाज में सम्मान पाता है और दूसरों को सही मार्ग दिखाता है। दूसरों पर आश्रित रहकर अधिक दिन तक सुख से जीवित नहीं रह सकता है।

अर्थ प्राप्ति उसका संरक्षण और वितरण :—

प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्थापक मनु ने शासक को अर्थ के विषय में इस प्रकार के निर्देश दिये हैं जिससे राष्ट्र को आर्थिक संकट का सामना न करना पड़े और अर्थ के अधिक होने पर उसका समाज के अच्छे लोगों में वितरण कर देना चाहिये। जैसा कि मनु का विचार है कि:—

"अप्राप्य अर्थ को प्राप्त करने का प्रयत्न करे, प्राप्त अर्थ की यत्न पूर्वक

---

१. यात्रामात्रप्रसिद्धयर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम्॥ मनु ४।३

रक्षा करे, रक्षित अर्थ की वृद्धि के लिए यत्न करे और अधिक वृद्धि से प्राप्त हुए अर्थ को सत्पात्रों में वितरण कर दे।"[1]

इस प्रकार के अर्थ संग्रह करने से प्रजा में सही वितरण, उचित संग्रह और वास्तविक रूप से अर्थ की वृद्धि होती है। जनता को इस प्रकार की अर्थनीति में शोषण, प्रपीड़न की भावनाएँ नहीं दिखती और इसके विरुद्ध किसी को कुछ कहने का अवसर नहीं मिलता। अपितु अच्छे लोगों को इससे प्रोत्साहन मिलता है और लोगों में उचित रीति से अर्थ का वितरण होता है जिससे प्राप्त कर्ता उसका सही उपभोग करता है।

अर्थ प्राप्ति का अच्छे शासक को इस प्रकार चिन्तन करना चाहिए। अर्थ प्राप्त करने वाले व्यक्ति, समाज, शासक और राष्ट्र को अर्थ प्राप्ति के लिए एकाग्रता, शांत चित्त और पूर्ण स्वहित को छोड़कर उद्योग करना होगा। बिना उद्योग के संसार में कोई भी कार्य कैसे सफल हो सकता है? प्रत्येक कार्य की अपनी-अपनी प्रक्रियायें होती हैं। उनका समय और स्थिति के अनुसार परिपालन करने से ही कार्य की सिद्धि होगी। वह अर्थ प्राप्ति के साधन कैसे सिद्ध किये जायें? उसके अर्थ चिन्तन पर अर्थव्यवस्थापक मनु ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करते हुये अर्थ प्राप्त करने के उपाय बताये हैं:—

"बगुले के समान अर्थ प्राप्ति का चिन्तन करे, शेर के समान पराक्रम करे, भेड़ियों के समान शत्रुओं का संहार करे और खगोर के समान बुद्धिमत्ता से संकटों से पार हो जाये।"[2]

अर्थ संग्रह करने वाले शासक को चारों पदार्थों का (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) पूर्ण ज्ञान और उपयोग आना चाहिये। जिससे सही आचरण, सही चिन्तन और सही पद्धति पर कार्य होगा। प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों के जीवन का मुख्य उद्देश्य चारों पदार्थों को प्राप्त करना माना है। धर्म और मोक्ष का सम्बन्ध समाज एवं राष्ट्र के कल्याणार्थं है। अर्थ और काम का सम्बन्ध मनुष्य के सांसारिक व्यवहार को चलाने एवं अपनी समस्त प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति हेतु होता है। इन सभी का उपयोग और उपभोग करने के पश्चात् ही

---

१. अलब्धं चैन लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत्॥ मनु ७।९९

२. बकवच्चिन्तयेदर्थान्सिंहवच्च पराक्रमेत्।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत्॥ मनु ७।१०६

मनुष्य मोक्ष प्राप्ति चतुर्थ पदार्थ प्राप्ति की ओर प्रवृत्त होता है।[1] प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्री मनु ने राजा को चारों पदार्थों का ज्ञाता और उन्हीं के अनुसार कार्य करने का निर्देश दिया है :—

"अच्छे शासक को चार प्रकार के पुरुषार्थों का प्रयोजन जानना चाहिये एवं प्रमादरहित नित्य इनका परिपालन करना चाहिये।"[2]

इन चारों पदार्थों का सही रूप से चिन्तन करने वाला व्यक्ति कभी भी बुरे मार्गों, निन्दनीय कार्यों और दूसरों को कष्ट देकर अर्थ प्राप्त नहीं करेगा। इसीलिये हमारे अर्थशास्त्री मनु ने चारों पदार्थों को जगत के व्यवहार में उचित स्थान दिया है।

मनुष्य अर्थ को क्यों एकत्र करता है? संकट कालीन स्थिति एवं सुखमय जीवन व्यतीत करने के लिए ही मनुष्य अर्थ एकत्र करता है। आपत्तिकाल में मनुष्य संकटों से कैसे पार होता है? साहस, धैर्य और अर्थ के बल पर ही संकटों से पार हो सकता है। अर्थ को मनुष्य विपत्ति से बचने के लिए और परिवार की रक्षा के लिए ही एकत्र करता है। उनमें भी सर्व प्रथम आत्मरक्षा आवश्यक है, क्योंकि अपनी रक्षा के पश्चात् ही आश्रितों की रक्षा हो सकती है। इस पर मनु ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं:—

"आपत्ति के लिये धन (अर्थ) की रक्षा करनी चाहिये, धन से स्त्री पुत्रादि की रक्षा करे और धन एवं पुत्रादि से अपनी रक्षा करे।"[3]

इस प्रकार अपनी और अन्य आश्रित जनों की रक्षा के लिए अर्थ को एकत्रित किया जाता है। जगत के व्यवहार को चलाने के लिए अर्थ की अत्यन्त आवश्यकता है। अर्थ की सभी युगों में आवश्यकता रही और रहेगी आधुनिक युग में अर्थ के बिना मनुष्य एक छोटा से छोटा कार्य भी नहीं कर सकता है। अर्थ ही वर्तमान समय में सबसे बड़ा साधन, गुणों की खान और सफलता की कुंजी है। बिना अर्थ के मनुष्य संसार का सुख नहीं पा

---

१. विस्तृत अध्ययन के लिये लेखक की 'प्राचीन भारतीय सामाजिक संस्थायें' नामक पुस्तक में पुरुषार्थ चतुष्टय को देखें।

२. एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थ प्रयोजनम्।
अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः॥ मनु ७।१००

३. आपदर्थं धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि॥ मनु ७।२१३

सकता है, व्यवहार नहीं चला सकता है। संसार के सभी गुण कांचन (अर्थ) में समाहित हैं। अर्थवान् अर्थ से इस संसार में क्या नहीं कर सकता ? इसीलिए मनुष्य जगत् के व्यवहार को चलाने के लिए और अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए ही अर्थ का संचय करता है।

अच्छे उपायों द्वारा अच्छी जीविका का चयन मनुष्य कब कर सकता है ? जब उसने अच्छी विद्या ग्रहण की होगी या अच्छे बुद्धि सम्पन्न लोगों की संगत की होगी।

विद्या का महत्त्व :—अर्थ व्यवस्थापक मनु ने अर्थ की प्राप्ति में विद्या को अधिक गुणकारी माना है। जिस प्रकार अंधकार में पड़ा हुआ व्यक्ति अपने सन्निकट की ही सामग्री को नहीं देख सकता, ठीक उसी प्रकार विद्यारूपी प्रकाश को प्राप्त किये बिना जगत का वास्तविक ज्ञान और जीवन की यात्रा को चलाने वाला व्यवहार, अर्थ प्राप्ति के साधन और संचित अर्थ की सुरक्षा करना नहीं आ सकता। अतः मनु ने मनुष्य के लिये चार प्रकार की विद्याओं का ज्ञान परमावश्यक माना है।

उपनिषदों में तो विद्या के माध्यम से ही मनुष्य को वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है और "विद्या से ही अमृत का आस्वादन (स्वाद) प्राप्त होता है।"[1]

विद्याओं के ज्ञान से ही मनुष्य अधिक सीखता है और उसे विस्तृत जानकारी हो जाती है। जैसे मनु ने कहा है :—

"जैसे-जैसे मनुष्य शास्त्रों के सन्निकट जाता है वैसे-वैसे वह विशेष ज्ञान प्राप्त कर लेता है और उसे वह अच्छा लगने लगता है।"[2]

शासक को सर्वप्रथम इन चार विद्याओं को उन विषयों के विद्वानों से ग्रहण करना चाहिये। विषयों के पारंगत विद्वान् व्यक्ति ही वास्तविकता और कम समय में विषय का ज्ञान करा सकेंगे।

"अर्थ प्राप्त करने वाले व्यक्ति तीनों वेदों (ऋग्वेद, यजुर्वेद, और साम) को त्रयी के ज्ञाता से अध्ययन करे, दण्डनीति,—आन्वीक्षकी और वार्ता को सीखे।"[3]

---

१. विद्ययाऽमृतमश्नुते। ईशावास्योपनिषद् ११ वां मंत्र उत्तरार्ध।

२. यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते॥ मनु ४।२०

३. त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः॥ मनु ७।४३

प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों ने चार विद्याओं को इस प्रकार माना है। १—त्रयो २—दण्डनीति ३—आन्वीक्षकी ४—वार्ता। मनु ने अपनी स्मृति में उसी क्रम से चार विद्याओं को माना है। शेष आचार्यों ने आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति इस क्रम से विद्याओं को माना है।

इस प्रकार अर्थ प्राप्ति एवं जीविकोपार्जन में विद्या को महत्त्वपूर्ण माना है क्योंकि यह मानव की त्रुटियों को दूर करती है और उसे व्यवहारज्ञ बनाती है।

त्रयी से धर्म विषयक बातों का ज्ञान होता है। **दण्डनीति** से नीति, अनीति का ज्ञान होता है। **आन्वीक्षकी** से तर्क और विज्ञान का ज्ञान होता है। **वार्ता** से अर्थ, अनर्थ का पता चलता है। इस प्रकार ये चार प्रकार की विद्यायें बताई गई हैं।

अर्थशास्त्र और वार्ता :—

प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों ने अर्थ के विकास एवं अर्थशास्त्र में 'वार्ता' को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। चारों विद्याओं का जगत के व्यवहार जानने वाले को ज्ञान तो होना ही चाहिए किन्तु 'वार्ता' का अर्थशास्त्र में अत्यधिक महत्त्व है। जीवनोपयोगी सामग्री जीवित रहने के लिए व्यक्ति को वार्ता के द्वारा ही मिलती है।

वार्ता किसे कहते हैं ? कृषि, वाणिज्य और गोरक्षा को 'वार्ता' नाम से सम्बोधित किया गया है। प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र में 'वार्ता' शब्द का प्रयोग पारिभाषिक शब्दावली में अर्थशास्त्र के लिये ही हुआ है। वार्ता शब्द का प्रयोग होते ही १—कृषि २—वाणिज्य ३—पशुपालन और ४—कुसीद का बोध हो जाता है। इन चारों वस्तुओं से मनुष्य अपनी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ कर सकता है, समाज उन्नति कर सकता है और राष्ट्र के अधिक से अधिक लोगों की जीविका की समस्या हल हो सकती है।

कृषि और उसका महत्त्व :—प्राचीन भारतीय अर्थ व्यवस्थापक मनु ने 'वार्ता' को अर्थ प्राप्ति का मूल कारण माना है। वैदिक काल से ही भारत कृषि प्रधान देश रहा है और आज भी जीवनोपयोगी खाद्य सामग्री कृषि ही हमको देकर हमारा पोषण कर रही है। प्राचीन काल में भी कृषि का महत्त्व था और आधुनिक विकासशील जगत में भी कृषि का महत्त्व स्वीकार किया गया है। उद्योग के बल से ही व्यक्ति इस कृषि को उपजाऊ बनाकर अधिक पशुओं की खाद देकर, अच्छी प्रकार हल चलाकर उत्पादन बढ़ाता है। मनुष्य

की प्राणरक्षा के लिये अन्न की ही सर्वप्रथम आवश्यकता है। अन्न की उत्पत्ति कृषि के द्वारा ही होती है। अतः कृषि का इसीलिये महत्त्वपूर्ण स्थान निर्धारित किया गया है। अन्न के बिना कोई भी व्यक्ति अधिक दिन तक जीवित नहीं रह सकता है। यदि जीवित रह भी सकता है तो शारीरिक परिश्रम करता हुआ नहीं। इसीलिये जीवन को अन्नमय प्राण माना गया है।

गीता में भी कृषि का महत्त्व बताते हुए "प्राणियों की उत्पत्ति अन्न से बताई गयी है और अन्न की उत्पत्ति कृषि और वृष्टि से होती है।"[1]

इस प्रकार कृषि और कृषि से उत्पन्न होने वाले अन्न का जगत में कितना महत्त्व माना गया है। प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों ने अन्न-धन को देनेवाली कृषि पर अधिक ध्यान दिया है। कृषि की सुरक्षा, उन्नति और अधिक उत्पादन पर यदि व्यक्ति ध्यान देगा तो उसे जीवनोपयोगी किसी भी वस्तु की कठिनाई नहीं होगी। कृषि से लाभ और कृषि की उन्नति व्यक्ति क्या एकाकी कर सकता है? कभी नहीं। कृषि से अधिक अन्न उत्पादन के लिये पशु की नितान्त आवश्यकता है। कृषि और पशु के सहयोग एवं अपने परिश्रम से मनुष्य जिस उत्पादन को बढ़ाता है उस सभी का उपभोग क्या वह स्वयं ही कर लेता है? अपनी आवश्यकता की पूर्ति के पश्चात् कृषक के पास जो अतिरिक्त अन्न होता है उसे वह दूसरों के लाभ के लिये और अपनी अर्थ प्राप्ति के लिये 'व्यापार' के रूप में विक्रय कर देता है। ऐसी ही स्थिति में व्यापार का जन्म हुआ है। कृषि के माध्यम और उद्योग के बल से ही अर्थ की प्राप्ति हुई। ये सब महत्त्व प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र में वर्णित 'वार्ता' के ही अन्तर्गत आ जाते हैं। १—कृषि २—पशु ३—वाणिज्य। वाणिज्य की वृद्धि होने पर दोनों रूपों में अन्न और अर्थ की दूसरों की आवश्यकता की पूर्ति हेतु ही आदान-प्रदान किया गया है। व्याज पर ऋण लेने को 'कुसीद' कहा गया है। मनु ने वार्ता में कुसीद शब्द का प्रयोग भी किया है। किसी व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की जब अपनी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होगी तभी वह दूसरों को अपने अर्थ लाभ के लिये 'कुसीद' पर अर्थ दे सकता है। इस शब्द से यही प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में, प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने अपने सुप्रबन्ध से अर्थव्यवस्था को जनहित के योग्य बनाया हुआ था। लोग धन सम्पन्न थे और अर्थवृद्धि के लिये व्यापारिक कार्य उन्नति पर थे। व्यापार की उन्नति के लिये राज्य की ओर से प्रोत्साहन दिया जाता था। अर्थ की वृद्धि के लिये व्यक्ति अपने अन्न और अर्थ को कुसीद

१. अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः। गीता ३ अध्याय १४ श्लोक

(व्याज) प्राप्ति हेतु दूसरों को देता है। इस प्रकार 'वार्ता' शब्द में इतने अर्थ सन्निहित हैं। इतनी पूर्व वर्णित वस्तुओं के बोध मात्र से 'अर्थ' एवं अर्थशास्त्र के महत्त्व को समझा जा सकता है।

गाँवों के निकट गोचर भूमि का महत्त्व

पशु का कृषि और मनुष्य के जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। अतः उस पशुधन की रक्षा के लिये और उसके जीवन यापन के लिये गोचर भूमि की भी परमावश्यकता है। पशु धन का वार्ता में प्रयोग हुआ है। कृषि बिना पशु केवल और उसकी खाद के बिना अधिक उपजाऊ और सुखादु अन्न नहीं दे सकती है। पशु के बिना शुद्ध दूध, घी भी मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकता है। जिस प्रकार मनुष्य के लिये अन्न की नितान्त आवश्यकता है, ठीक उसी प्रकार पशुओं को जीवित रखने एवं उनकी वंशवृद्धि करने के लिये उनके चारा आदि का भी ध्यान रखना होगा। पशुओं के लिये प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक मनु ने गोचर भूमि छोड़ने की व्यवस्था दी है। पशुओं को अपने आप घूमकर चरने से जितना अच्छा लगता है उतना खूँटे पर बंधे हुये अच्छी खुराक खाने पर भी नहीं लगता। इसीलिये प्राचीन काल में पशुओं के लिये गोचर भूमि अनिवार्य रूप से छूटी रहती थी। जिसका कुछ-कुछ रूप आज भी भारत के अनेक गाँवों में दृष्टिगत होता है। इस प्रकार पशुओं के लिये भी गाँवों के निकट गोचर भूमि छोड़ने की मनु ने अच्छी व्यवस्था दी है—

"गाँव के चारों ओर सौ धनुष भूमि अथवा तीन बार लकड़ी को लेकर फेंकने में जितनी दूर वह चली जाये, उतनी दूर तक और नगर के भी उसी प्रकार चारों ओर पशुओं के लिये भूमि छोड़ देनी चाहिये।"[1]

आर्थिक व्यवस्था को दृष्टि में रखते हुये प्राचीन भारतीय अर्थ व्यवस्थापक मनु नें 'वार्ता' के अनुरूप अर्थ प्राप्ति के साधनों पर कितनी अच्छी प्रकार नियन्त्रण रखा हुआ था। पूर्व वर्णित उद्धरण में यह स्पष्ट रूप से दृष्टिगत हो रहा है।

वार्ता और वैश्य वर्ग :—

प्राचीन भारतीय अर्थ व्यवस्थापक मनु ने वर्ण व्यवस्था का विवेचन करते हुये वैश्य वर्ग के कर्तव्यों में 'वार्ता' शब्द द्वारा ज्ञात होने वाले अर्थों का स्पष्ट

१. धनुः शतं परीहारो ग्रामस्य स्यात्समन्ततः।
शम्यापातास्त्रयो वाऽपि त्रिगुणो नगरस्य तु॥ मनु ८।२३७

प्रतिपादन किया है। वर्णों के कर्तव्यों का वर्णन करते हुये वैश्यों को ही 'वार्ता' से सम्बन्धित सभी कार्यों को सम्पन्न करने का अधिकार दिया है। इससे अवगत होता है कि सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिये कार्य विभाजन योग्यता के अनुरूप किया हुआ था।

"पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेदों का अध्ययन करना, व्यापार करना, व्याज (कुसीद) एवं कृषि करना वैश्यों के कार्य है।"[1]

मनुस्मृति के "आठवें अध्याय में मनु ने यह व्यवस्था दी है कि वैश्यों से वाणिज्य, कुसीद (व्याज पर ऋण देना) कृषि और पशुओं का रक्षण, परि-पालन एवं सेवकों से द्विजातियों की सेवा करावे।"[2]

इस प्रकार के उद्धरणों से अवगत होता है कि 'वार्ता' शब्द कितने विस्तृत अर्थों में प्रयुक्त होता था और आधुनिक अर्थशास्त्र में 'कृषि अर्थशास्त्र' एवं 'वाणिज्य अर्थशास्त्र' दो विषय पृथक् बन गये। वणिक्वाद का जन्म इन्हीं वार्ता में वर्णित वस्तुओं के आधार पर ही हुआ है।

समाज की आर्थिक व्यवस्था अच्छी प्रकार चले और कार्य का सम्पादन शीघ्रता एवं उस विषय के कुशल व्यक्तियों के द्वारा हो। अतः व्यापार सम्बन्धित कार्य वैश्य लोगों के पास छोड़ा गया था। उन लोगों की विशेष रूचि इस कार्य में ही थी।[3]

प्राचीन भारतीय अर्थ शास्त्रियों का ऐसा भी विश्वास था कि एक ही व्यक्ति सभी कार्य नहीं कर सकता है और कर भी सकता है तो उतनी कुशलता, और तत परता एवं कर्तव्यनिष्ठा से नहीं कर सकता हैं। राष्ट्र की उन्नति, व्यक्ति की कार्य शक्ति और समाज की संगठित शक्ति क्षीण न हो। अतः समाज में प्रत्येक कार्य को करने के लिये कार्य विभाजन किया हुआ था। समाज में सभी लोगों को जीविका के लिये किसी प्रकार का कष्ट न हो और रोजगार की समस्या प्रजावर्ग को दुखी न करे एवं सामाजिक संगठन पर किसी प्रकार का

---

१. पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च। मनु १।९०

२. वाणिज्यं कारयेद्वैश्यं कुसीदं कृषिमेव च।
पशूनां रक्षणं चैव दास्यं शूद्रं द्विजन्मनाम्॥ मनु ८।४१०

३. विशेष अध्ययन के लिये मेरी 'प्राचीन भारतीय सामाजिक संस्थायें' पुस्तक में वर्णाश्रम धर्म प्रकरण को देखे। पृष्ठ १ से २२ तक

बुरा प्रभाव न पड़े। सामाजिक नियमों में बाधा न आये और व्यक्ति अपनी जीवन यापन की आवश्यकता की पूर्ति के लिये बुरे मार्गों का अनुशरण न करे। इसीलिये कार्य विभाजन किया हुआ था। समाज की आर्थिक व्यवस्था किसी प्रकार विघटित नहीं होती थी।

इस प्रकार के उद्धरणों से प्रतीत होता है कि समाज की संरचना अच्छी प्रकार करने के लिये और संरक्षण हेतु अर्थ व्यवस्था का इतनी अच्छी प्रकार प्रबन्ध किया हुआ था। उस युग में कृषि, पशु, व्यापार और ऋण पर अर्थ वितरण का अच्छा प्रभाव था। वैश्य वर्ग के हाथ में वार्ता में वर्णित वस्तुओं का पूर्ण दायित्व था। वैश्य वर्ग समाज में अर्थशास्त्र में वर्णित जीवन सम्बन्धी समस्त वस्तुओं के अभाव की पूर्ति करता था। यदि चिन्तन कार्य करने वाला अपने ज्ञान से समाज के 'अज्ञान' को दूर करता था तो शक्ति सम्पन्न व्यक्ति अपनी शारीरिक शक्ति से 'अन्याय' को दूर करता था और अर्थ सम्पन्न वर्ग अपनी अर्थ की शक्ति से समाज के समस्त 'अभावों' की पूर्ति करता था। इस प्रकार समाज के प्रत्येक व्यक्ति की उपार्जित शक्ति से समाज को बहुत बड़ा लाभ होता था। उसी का फल था कि राष्ट्रीय एकता, सामाजिक संगठन और व्यक्ति के विकास में किसी प्रकार का संकट उपस्थित नहीं होता था।

इस प्रकार के प्रसंगों से पाश्चात्य आर्थिक विचारकों से प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों को तुलनात्मक रूप से देखा जाये तभी प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों के विशद ज्ञान का पता चलता है। दुर्भाग्य का विषय है कि हमारे भारतीय अर्थशास्त्र के अध्येता प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों को मान्यता देना तो दूर रहा किन्तु उनके प्रति कृतज्ञता यापन करना भी अच्छा नहीं समझते। अध्येताओं के समक्ष प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों के विचारों को अन्तिम छठे अध्याय में इसी उद्देश्य से प्रस्तुत किया गया है। प्राचीन और पाश्चात्य आर्थिक विचारकों के तुलनात्मक विचार पुस्तक के अन्त में देखें। एडम स्मिथ, माल्थस, रिकार्डो, कीन्स आदि पाश्चात्य विचारकों के प्रसिद्ध सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन इस "प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक" पुस्तक के अन्तिम षष्ठ अध्याय में अध्येताओं के निष्पक्ष निर्णय के लिए प्रस्तुत किया गया है।

प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र में पुरुषार्थ चतुष्टय का महत्त्व

प्राचीन भारतीव अर्थशास्त्रियों का अर्थशास्त्र के चिन्तन के विषय में अपना एक स्वतन्त्र और सारग्राही दृष्टिकोण है। प्राचीन भारतीयों ने जीवन को पूर्णरूप से सुखमय बनाने के उद्देश्यों पर विशेष ध्यान दिया है। संसार के सभी

देशों के अर्थशास्त्रियों ने जीवन के केवल एक पक्ष और एक पदार्थ अर्थ पर ही ध्यान दिया है और जीवन के लिए उसे ही महत्त्वपूर्ण माना है। प्रायः केवल एक पक्षीय दृष्टिकोण ही उनके सामने रहा है किन्तु प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों का संसार के विचारकों से सर्वथा ही भिन्न दृष्टिकोण रहा है। भारतीय दृष्टि पुनर्जन्म, मुक्तिवाद और कर्म के सिद्धान्त पर अधिक विश्वास करती है। प्राचीन भारतीयों ने एक स्वर से पुरुषार्थ चतुष्टय का समर्थन किया है और उसके बिना जीवन को पूर्ण नहीं माना है।

प्रथम प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक मनु ने भी चारों पदार्थों को जीवन के आर्थिक विकास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना है। १–धर्म २–अर्थ ३–काम ४–मोक्ष इन चार पदार्थों का मानवीय जीवन में अत्यन्त महत्व माना गया है। इनके एक के बिना भी जीवन अधूरा और अपूर्ण माना जाता है। पूर्ण रूप से परितृप्त होने के पश्चात् ही मानव मुक्ति अर्थात् मोक्ष का अधिकारी माना जाता है। धर्म (माननीय नियमों) का परिपालन करने के पश्चात् ही व्यक्ति अर्थ की प्राप्ति कर सकता है। समाज के निर्धारित नियमों के अनुसार प्राप्त किया हुआ अर्थ ही वृद्धि और उपभोग के योग्य होता है। अर्थ संचय, अर्थ प्राप्ति और अर्थसंग्रह के पश्चात् व्यक्ति उसका उपभोग करता है। उपभोग को ही काम—इच्छाओं की पूर्ति का साधन माना गया है। धर्म, अर्थ, काम इन तीन पदार्थों की प्राप्ति और पूर्ण होने के पश्चात् ही भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार व्यक्ति मुक्ति- मोक्ष का अधिकारी माना जाता है। इन तीन धर्म, अर्थ, काम का उपभोग करने के पश्चात् ही मनुष्य को मोक्ष प्राप्ति की इच्छा होती है। जैसे मनु ने कहा है :—

"इस प्रकार चार तरह की विद्यायें और चार पुरुषार्थों का प्रयोजन जाने तथा आलस्य के बिना इन सभी का नित्य राजा को पालन करना चाहिये।"[1]

इस उद्धरण से चार विद्यायें १–आन्वीक्षकी २–त्रयी ३–वार्ता ४–दण्डनीति चार पुरुषार्थ—१–धर्म २–अर्थ ३–काम ४–मोक्ष का परिपालन करने के लिए राजा तक को निर्देश दिये गये हैं। साधारण जनता की तो बात ही क्या। इस प्रकार के श्लोक से उस युग की प्रवृत्ति और भारतीय दृष्टिकोण का विशद ज्ञान होता है।

---

१. एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थं प्रयोजनम्।
अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः॥ मनु ७।१००

शासक को आर्थिक दृष्टि से कैसे स्थान में राजधानी बनानी चाहिए ?

राजा को अपने निवास के योग्य कैसे स्थान को चुनना चाहिये, राजधानी अथवा किसी नवीन देश को राजा कैसे स्थान पर बसावे, जहाँ कि भूमि अच्छी, उपजाऊ, व्यापार योग्य, आने जाने के लिये ठीक मार्ग एवं रमणीक स्थान हो। इस विषय पर आर्थिक दृष्टिकोण से 'मनु' ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं :—

"जांगल[1] धान्यसम्पन्न, श्रेष्ठ लोगों से युक्त, रम्य, जहाँ आजीविका के सभी साधन प्राप्त हों, ऐसे स्थान पर राजा को निवास करना चाहिए।"[2]

दूरदर्शी एवं कुशल शासक को आर्थिक दृष्टि से, स्थान की दृष्टि से, आजीविका की दृष्टि से, अन्न धन, की दृष्टि से और जीवनोपयोगी साधन सम्पन्न स्थान पर नगर का निर्माण करना चाहिये।

आधुनिक युग में भी ऐसे ही स्थानों पर नवीन नगरों का निर्माण किया जाता है। जनता को यातायात, जल, भोजन, निवास आदि की किसी प्रकार की कठिनाई न हो एवं आजीविका भी सुगमता से उपलब्ध हो सके ऐसे स्थानों पर राज्य का स्थान होने से आय की वृद्धि होगी। जनता को आजीविका, व्यापारियों को व्यापार करने का बाजार और राजा को कर प्राप्त होंगे। ऐसे स्थानों से सभी दृष्टि से शासक और जनता को पूर्ण लाभ होगा। कुशल श्रमिक, योग्य प्रशासक और समुचित कच्चा माल ऐसे स्थानों में सुगमता से उपलब्ध हो सकता है। अनुभवी कारीगर भी अपनी आजीविका के लिये ऐसे ही स्थानों में आता है।

राष्ट्र की आय का मुख्य साधनः—राजा का राज्य से आय का मुख्य साधन 'कर' ही है। अच्छे व्यवहार, न्याययुक्त आचरण करने वाले और विश्वासी व्यक्तियों के द्वारा ही 'कर' एकत्र किये जा सकते हैं। जिस प्रकार पानी की एक-एक बूंद से एक बड़ा सा घड़ा भर जाता है, ठीक उसी प्रकार शासक भी थोड़ा-थोड़ा कर एकत्र कर अपना 'कोष' संग्रह कर सकता है।

---

१. अत्यधिक पानी, अधिक घास जहाँ न हो, अधिक स्वच्छ वायु और प्रकाश अधिक मात्रा में जहाँ प्राप्त हो, धन धान्य जहाँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो ऐसे स्थान को जांगल कहते हैं।

२. जाङ्गलं सस्यसम्पन्नमार्यप्रायमनाविलम्।
रम्यमानतसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत्॥ मनु ७।६९।

कर को एकत्र कर राज्य की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिये प्राचीन भारतीय अर्थ-व्यवस्थापक मनु ने इस प्रकार अपने विचार व्यक्त किये हैं :—

"विश्वासी व्यक्तियों के द्वारा ही वार्षिक कर एकत्र कराके, जो कर लेने में प्रजा के साथ न्याय का व्यवहार करें और शासक स्वयं प्रजाजन से पिता के समान व्यवहार करे।"[1]

प्रायः देखा जाता है कि शासक के शासनाधिकारी अपनी स्वार्थी और लोभी मनोवृत्तियों से प्रेरित होकर प्रजाजन को कष्ट देते हैं। अतः प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक मनु ने राजा को अच्छे व्यक्तियों का चयन करने का सुझाव दिया है। शासक को भी न्याय को दृष्टि में रखते हुये आय की वृद्धि करनी चाहिये।

जिस प्रकार मनुष्य कर अर्थात् हाथों से अपने सभी कार्य कर सकता है बिना कर के कुछ भी कार्य नहीं कर सकता यहाँ तक कि बना बनाया भोजन भी नहीं खा सकता है। ठीक उसी प्रकार शासक भी बिना 'कर' टैक्स के द्वारा अपने कोष की वृद्धि, शासन का संचालन और संकट के समय जनता एवं राष्ट्र की रक्षा अच्छी प्रकार नहीं कर सकता है।

कार्य आधिक्य के कारण कुशल से कुशल प्रशासक एकाकी कार्य नहीं कर सकता। अतः उसे योग्य व्यक्तियों का चयन करके अपनी योजनाओं का संचालन करना चाहिये। जैसे :—

"अनेक उन-उन कार्यों में अध्यक्षों को नियुक्त करे और वे अध्यक्ष इन सभी राजा के कार्यों को देखा करें।"[2]

अच्छा शासक उसी को माना गया है जो प्रजा की आर्थिक स्थिति को देखकर उनपर 'कर' लगता है। व्यक्ति की आय के अनुसार यदि प्रजाजन पर कर लगेंगे तो वह दे सकता है और उस भार को सहन भी कर सकता है। यदि पीड़ा देकर अर्थ दोहन करेगा तो इस प्रकार नष्ट हो जायेगा :—

"जिस प्रकार शरीरधारी प्राणियों के प्राण शरीर के कृष होने पर समाप्त

---

१. सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद्बलिम्।
स्याच्चाम्नायपरो लोको वर्तेत हितवन्नृषु ॥ मनु ७।८०

२. अध्यक्षान्विविधान्कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः।
तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्नृणां कार्याणि कुर्वताम् ॥ मनु ७।८१

हो जाते हैं, उसी प्रकार राष्ट्र के प्रजावर्ग को पीड़ित करने पर राजाओं के प्राण भी नष्ट हो जाते हैं।"[१]

यदि दुष्ट राजा मोहवश अपने प्रजाजन की स्थिति को देखे बिना धन संग्रह करता है अथवा जो उसकी रक्षा किये बिना अर्थ शोषण करता है वह समूल नष्ट हो जाता है।

"मोह के वशीभूत होकर जो राजा अपने राष्ट्र से अर्थ ग्रहण करता है और रक्षण नहीं करता वह शीघ्र ही राज्य से और बन्धु-बान्धवों सहित भ्रष्ट हो जाता है।"[२]

राज्य की आय का मुख्य साधन यद्यपि 'कर' माना गया है किन्तु अच्छे शासक को जनता से अल्प कर ग्रहण करना चाहिये। **कर संग्रह में अल्प कर की अवहेलना नहीं करनी चाहिये।** थोड़ा कर संग्रह करके ही अधिक कर संग्रह हो जाता है। एक साथ सभी कार्य शीघ्रता से नहीं होते। धैर्य धारण करके, उत्साह और उद्योग से अल्प 'कर' ग्रहण करके ही राजा अपने राज्य का विशाल कोष बना देता है। अल्प कर प्रजा को पीड़ा नहीं देता किन्तु अधिक शोषण के द्वारा प्रजा दुखी होकर विद्रोह कर बैठती हैं। इस प्रकार का शोषक अधिकारी भी कभी अपने राष्ट्र की आर्थिक स्थिति नहीं सुधार सकता है। अल्प अर्थ संग्रह ही विशाल कोष के रूप में परिवर्तित हो जाता है। अच्छे अर्थ व्यवस्थापक प्रजा का शोषण करके 'कर' एकत्र नहीं करते। जैसे:—

"जिस प्रकार जोंक थोड़ा-थोड़ा खून, बछड़ा दूध, भौंरा शहद एकत्र करता है या पीता है, उसी प्रकार शासक को भी राष्ट्र से वार्षिक कर एकत्र करना चाहिये।"[३]

प्राचीन भारतीय अर्थ-व्यवस्थापक मनु ने तो अच्छे शासक को उस युग के अनुरूप कर लेने की मात्रा तक निर्धारित कर दी थी जिससे न राष्ट्र की हानि हो और प्रजाजनों को भी कर की अधिक मात्रा देने में कष्ट न हो। अतः

१. शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा।
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात्॥ मनु ७।१११

२. मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया।
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः॥ मनु ७।११२

३. यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योवत्सषट्पदाः।
तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः। मनु ७।१२९

मनु ने कर को कुछ चीजों पशु, सुवर्ण एवं धान्य पर उसकी उत्पादित किस्मों के अनुसार इस प्रकार कर निर्धारण किया है :—

"पशु और हिरण्य (सोने) पर 'कर' पचासवा भाग और धान्य पर उसके अच्छे, बुरे गुणों के अनुसार छठा, आठवां अथवा बारहवां भाग लेना चाहिये।"[1]

छोटी बड़ी उपयोग में आने वाली सभी चीजों की गिनती गिनाकर उन पर तक कर लेने की मात्रा को 'मनु' ने निर्धारण किया है :—

"वृक्ष, मांस, मधु, घी, गन्धवाली वस्तुएँ, औषधि, रस (नमक आदि) पुष्प, मूल, फल, पत्र, शाक, तृण, चमड़ा, बांस, मिट्टी से बने वर्तन और पत्थर से निर्मित सभी वस्तुओं का षड्भाग (छठा भाग) कर के रूप में लेना चाहिये।"[2]

व्यापारियों पर किस अनुपात से कर लगाना चाहिये ?

'कर' राज्य की आय का एक मुख्य साधन माना गया है। आय प्राप्ति के कार्यों को सबसे अधिक व्यापारी लोग अपनाते हैं। जिस प्रकार अधिक आय हो उन सभी उपायों को व्यापारी अपनाते हैं। व्यापारी वर्ग राष्ट्र का प्राण माना जाता है। अधिक आय होने पर एक निर्धारित सीमा का अतिक्रमण करने पर राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को आय कर आदि देने पड़ते हैं। उन 'करो' से ही राष्ट्र की आय की वृद्धि होती है। अतः मनु ने व्यापारी वर्ग की सुख सुविधाओं का ध्यान रखते हुए उन पर कर लगाने की भी एक पद्धति निर्धारित की है।

राष्ट्र के लाभ के लिए भी व्यापारी वर्ग अत्यधिक कष्ट सहन कर प्रत्येक प्रकार की आवश्यक सामग्री को एकत्रित करता है। अपना तन, मन, धन एवं समस्त समय लगाकर एक साधक की भाँति साधना करके राष्ट्र की सेवा करता है। इस प्रवृत्ति को दृष्टि में रखते हुए यदि व्यापारी कार्य करते हैं तो राष्ट्र का बहुत बड़ा हित है। व्यापारी वर्ग अपने धन, समय व्यय आदि के अनुपात से यदि लाभ ले तो सभी का बहुत बड़ा लाभ हो सकता है किन्तु अधिक शोषण और अधिक मुनाफाखोरी को दृष्टि में रखकर कार्य करना राष्ट्र के प्रति अन्याय

---

१. पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशु हिरण्ययोः।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा ॥ मनु ७।१३०

२. आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम्।
गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च।
पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च।
मृन्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च ॥ मनु ७।१३१–३२

है। व्यापारियों की अधिक लाभ की मनोवृत्तियों के कारण ही अच्छा शासक उन पर राष्ट्र के हित के लिए नियन्त्रण रखता है।

अच्छे शासक को तीन व्यक्तियों का ध्यान रखते हुए ही व्यापारियों पर कर निर्धारण करना चाहिये। १—प्रजा की क्रय शक्ति को देखते हुये २—शासन के कोष का विचार करते हुए और ३—व्यापारी वर्ग के लाभांश का ध्यान रखते हुए ही कर लगाने चाहिये। अधिक कर लगाने से व्यापारी प्रजावर्ग को ही मँहगी सामग्री देकर लाभ प्राप्त करेगा, यदि कर न लिया जायेगा तो राष्ट्र के कोष में अर्थ कहाँ से आयेगा ? और यदि व्यापारी को भी लाभ न होगा तो वह व्यापार का कार्य क्यों करेगा ? उसे छोड़ देगा। अतः अर्थ का तीनों प्रकार से ध्यान रखते हुए कर लगाना चाहिये। जैसे :—

"राजा को ऐसा कार्य करना चाहिये जिससे राजा राज्य की रक्षा के लिए और व्यापारी व्यापार के लाभ के फल को प्राप्त कर सके। इस प्रकार देखकर ही राजा को राष्ट्र पर कर लगाने चाहिये।"[1]

प्रजा को कष्ट न हो और वह अपने मन में अराजकता की भावनायें अनुभव न करे। अतः उत्पादित वस्तुओं पर उपभोक्ताओं की सुख सुविधा का ध्यान रखते हुए वस्तुओं के मूल्य पर राज्य की ओर से नियन्त्रण किया हुआ था। व्यापारी वर्ग को भी हानि न हो और उत्पादन करने वालों को भी श्रम का उचित मूल्य मिल सके। इसलिये राज्य का 'वस्तु नियन्त्रण' पर पूर्ण ध्यान था। प्रजावर्ग किसी चीज का अभाव एवं मनमानी मूल्यवृद्धि का कष्ट अनुभव नहीं करता था। सभी के सुखों का शासक पूर्ण रूप से ध्यान रखता था।

व्यापारियों के आय-व्यय का ध्यान रखते हुए ही कर निर्धारण किये जाते थे। मनु ने इस पर अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—

"क्रय-विक्रय, मार्ग व्यय, भोजन पर होने वाले व्यय को, मार्ग रक्षा का व्यय और सम्यक् प्रकार के हानि-लाभ को ध्यान में रखकर ही राजा व्यापारियों पर 'कर' लगावे।"[2]

आधुनिक वैज्ञानिक युग में व्यापारियों पर भी उनके हानि लाभ का ध्यान रखते हुए टैक्स लगाये जाते हैं किन्तु प्राचीन भारत में मनु जैसे अर्थशास्त्रियों ने

१. यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम्।
तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रं कल्पयेत्सततं करान्॥ मनु ७।१२८

२. क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम्।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान्॥ मनु ७।१२७

सभी लोगों का ध्यान रखते हुए करों, का निर्धारण किया है। पूर्व वर्णित उद्धरण के अनुसार न राष्ट्र की ही क्षति हो न राजा की ही हानि हो न व्यापार करने वाले व्यापारी का ही अहित हो। क्रेताओं पर अधिक मूल्य होने के कारण भार न पड़े, अतः आय के अनुपात से, सामग्री की माँग दृष्टि में रखते हुए विचार किया जाता था। इस प्रकार के सन्तुलन से प्रजा में विद्रोह, व्यापारियों में करों की चोरी और शासक में शोषण की प्रवृत्ति जागृत नहीं होती थी। सभी को सभी के अधिकारों का भाग मिल जाता था। ऐसी सफल आर्थिक व्यवस्थाएँ प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों के ग्रन्थों का अध्ययन करने से यत्र-तत्र दृष्टिगत होती हैं।

इन लोगों से कर नहीं लिया जाता था

राज्य की आय वृद्धि के लिए 'कर' लेना नितान्त आवश्यक है किन्तु निम्नलिखित व्यक्तियों को कर से मुक्त रखा गया था क्योंकि इनका उद्देश्य केवल जीवन की रक्षा करने के लिए ही धन एकत्रित करना था। यदि इनका माँगना अर्थ संग्रह करने के उद्देश्य से होता तो इन पर 'कर' लगाना भी आवश्यक हो जाता। अतः इन लोगों को कर मुक्त किया गया था।

"१—अन्धा २—मूर्ख ३—लंगड़ा ४—सत्तर वर्ष का वृद्ध और ५—अन्न से श्रोत्रिय लोगों का उपकार करने वाले व्यक्तियों से कोई भी कर न ले।"[1]

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने कर—व्यवस्था में अत्यधिक सोच विचार कर कार्य किया है। शक्तिहीन, अर्थहीन एवं जीवनयापन मात्र अर्थ रखने वाले लोगों से 'कर' नहीं लिया जाता था। वे लोग राज्य कर से मुक्त रखे गये थे। कर ग्रहण करना कोष की वृद्धि, व्यक्ति की अभिवृद्धि समाज की उन्नति और राष्ट्र के आर्थिक विकास के लिए होता था।

अर्थ व्यवस्थापक मनु ने जहाँ अर्थ को राजा के लिए आवश्यक माना है, वहाँ व्यापारियों के लिए भी जीवनोपयोगी प्रमाणित किया है और प्रजा के वेतन भोगी लोगों के लिए भी जीविका देते हुए उनके कार्यों के अनुकूल वेतन देने का भी निर्धारण किया हुआ था।

राजा राज्य की रक्षा करता है अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए और न्याय के लिए। उस रक्षा कार्य का ही उसे कर के रूप में 'अर्थ' प्राप्त होता है।

---

१. अन्धो जड़: पीठसर्पी सप्तत्या स्थविरश्च यः।
श्रोत्रियेषूपकुर्वंश्च न दाप्याः केनचित्करम्॥ मनु ८।३९४

व्यापारी अपने व्यापार में पूंजी लगाता है हानि या लाभ के लिये कर्मचारी काम करता है अपनी जीविका चलाने और उचित वेतन पाने के लिए। इस प्रकार सभी के अधिकार और कर्तव्यों का ध्यान रखते हुए आर्थिक व्यवस्था को सुनिश्चित करने के कारण 'मनु' को अर्थ-व्यवस्थापक का नाम दिया गया है। राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था न बिगड़े और वस्तुओं का समुचित रूप से विभाजन हो, अतः प्रत्येक वस्तु और कार्य का उचित रीति से विभाजन किया गया है। राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्य को कर्तव्य समझकर उचित रीति से पूर्ण करे। इसलिये मनु ने कर्मचारियों के वेतन का प्रतिमान, समय और स्थान निश्चित किया हुआ था। जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट विदित हो रहा है—

"राजा राज्य के काम में नियुक्त स्त्री, सेवकादि के लिए उनके कार्य के अनुसार प्रतिदिन का वेतन और स्थान निश्चित करे।"[1]

आजीविका प्रत्येक व्यक्ति को जीवन यापन के लिए आवश्यक है। आजीविका की समस्या दूर करने के लिए अर्थव्यवस्थापक मनु ने रोजगार दिलाकर वेतन और नौकरी में स्थायी नियुक्ति पर जोर दिया है। स्थान निश्चित होने पर स्थिर होकर व्यक्ति अपने कार्य को अच्छी प्रकार और कर्तव्यनिष्ठ होकर करता है। इस प्रकार की व्यवस्था से सेवकादि में किसी प्रकार का असन्तोष, अकर्मण्यता और अव्यवस्था नहीं आती।

वेतन का प्रतिमान—कार्यकर्ता अपने काम करने के पश्चात् क्या चाहता है? वेतन, (मजदूरी) भोजन और वस्त्र चाहता है। जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने के पश्चात् व्यक्ति शान्त और निश्चिन्त होकर अपने कार्य में लगा रहता है। श्रमिक उचित वेतन मिलने पर ही उत्पादन की वृद्धि में पूर्ण योगदान देता है। आज के युग में श्रमिक हड़ताल करता है, कम काम करता है क्यों कि उसे कार्य के अनुरूप वेतन नहीं मिलता। इसीलिए राष्ट्रीय कार्यों में अवरोध उत्पन्न होता है। इस प्रकार के आन्दोलनों से राष्ट्र का बहुत बड़ा अहित होता है। वस्तुतः श्रम का महत्व समझते हुए श्रम के अनुकूल एक वेतन-क्रम निर्धारित कर भोजन, वस्त्र और जीवन की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उचित वेतन की व्यवस्था होनी चाहिये।

इस प्रकार वेतन की समस्याओं का समाधान करने के लिए प्राचीन भारतीय

---

१. राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च।
प्रत्यहं कल्पयेद्वृत्तिं स्थानं कर्मानुरूपतः॥ मनु ७।१२५

अर्थ-व्यवस्थापक मनु ने अपनी मनुस्मृति में वेतन, स्थान आदि की इस प्रकार स्पष्ट व्यवस्था दी है :—

मनु ने कार्य के अनुसार कार्य करने वालों को दो श्रेणियों में विभक्त किया हुआ था : १—उत्कृष्ट २—अनुत्कष्ट।

उत्कृष्ट—अच्छा और उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य करने वाले को कहते हैं।

अनुत्कृष्ट—साधारण और छोटा-मोटा कार्य करने को अनुत्कृष्ट कहते हैं।

मनु ने इस प्रकार उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट कार्यों के अनुसार कार्यकर्त्ताओं को उनके श्रम के अनुसार वेतन देने की ऐसी व्यवस्था निर्धारित की हुई थी :—

"अनुत्कृष्ट (सामान्य) कार्य करने वालों को (उस युग का) एक पण तथा छै: मास में वस्त्र और प्रतिमास एक द्रोण (उस युग का अनाज तोलने का माप ४० सेर अर्थात् आधुनिक युग का ३८ किलो) अनाज दे। उत्कृष्ट कार्य करने वाले को ६ पण प्रतिदिन वेतन, वस्त्र और अनाज उसी प्रकार दे।"[1]

इस प्रकार के उद्धरणों से विदित होता है कि राज्य की ओर से आजीविका का पूर्ण प्रबन्ध होता था और जो लोग जैसा कार्य जानते थे उन्हें वैसा ही कार्य एवं उस कार्य के अनुरूप वैसा ही वेतन, शरीर रक्षा के लिए पर्याप्त अन्न और शरीरके अच्छादन के लिए वर्ष में दो बार वस्त्र दिये जाते थे। ऐसी व्यवस्था होने पर आर्थिक संकट का किसी को भी सामना न करना पड़ता था और श्रमिकों और मालिकों का परस्पर का कोई झगड़ा ही न होता था। सभी प्रकार के उत्पादन में किसी प्रकार की रुकावट उत्पन्न नहीं होती थी। राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रीय विकास और राष्ट्रीय संगठन के भावों से अनुप्राणित होकर सभी लोग अपनी-अपनी क्षमता के अनुरूप कार्य करके राष्ट्र के विकास में योगदान देते थे। यही कारण था कि कहीं अभाव, अशान्ति और अन्यान्य नहीं दिखता था।

राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था में बाधा पहुँचाने वालों को दण्ड :—

जिस राष्ट्र में शासक जितना ही दुर्बल या स्वार्थी होगा उस राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था में स्वार्थी अधिकारी जनता को कष्ट देकर उन व्यवस्थाओं में से अर्थ प्राप्त करना चाहते हैं। सर्वोच्च शासक के सतर्क न रहने पर ही अधिकारियों को जनता से किसी भी कार्य करने का धन लेने का साहस होता है। यदि आर्थिक योजनाओं का अर्थ अधिकारी अपहरण करने लगेंगे तो वे योजनायें

---

१. पणो देयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम्।
षाण्मासिकस्यथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः॥ मनु ७।१२६

कैसे कार्यान्वित होंगी ? अतः अर्थ-व्यवस्थापक मनु ने अर्थ व्यवस्था में बाधा पहुँचाने वालों को दण्ड देने की व्यवस्था दी है :—

"प्रायः शासक के अधिकारी लोग प्रजा जनों का धन लेने वाले होते हैं, अतः अच्छे शासक को उनसे प्रजा की रक्षा करनी चाहिये।"[1]

प्रजावर्ग का धन लेकर काम करने वाले पापी अधिकारियों को अपने देश से निकाल देना चाहिये जिससे पुनः राष्ट्र में ऐसा बुरा कार्य करने का किसी दूसरे अधिकारी का साहस न हो। सच्चा और कठोर शासक ही ऐसा कर सकता है। मनु ने इस प्रकार के कार्य करने वालों को 'पाप चेतस' (हृदय के पापी) माना है, क्योंकि दूसरे को दुखी करके बाध्य करके धन लेना पाप माना गया हैं। अतः ऐसे लोगों को कठोर दण्ड देना आर्थिक दृष्टि से आवश्यक माना गया है।

"जो पाप बुद्धि राज्य-अधिकारी कार्य के पड़ने पर प्रजा जन से अर्थ ग्रहण करते हैं अर्थात् रिश्वत लेते हैं, शासक को उनका सर्वस्व लेकर उनको अपने राष्ट्र से निकाल देमा चाहिये।"[2]

आर्थिक योजनाओं, अर्थसहायता और अर्थ संग्रह के कार्यों में ही राज्याधिकारी अच्छा वेतन पाने पर भी स्वार्थवश जनता से धन लेकर काम करते हैं। ऐसे अधिकारी राष्ट्र के शत्रु हैं। अतः राष्ट्रीय लाभ हेतु इन्हें कठोर दण्ड देना अर्थ-व्यवस्थापक मनु ने परमावश्यक समझा। राष्ट्र के बड़े-बड़े कार्यो में काम करने वालों से यदि अधिकारी उनसे धन लेते है तो उसका प्रभाव राष्ट्र पर ही पड़ता है। धन देने वाला भी उस कार्य को अच्छी प्रकार नहीं करेगा और करेगा तो खराब बनायेगा। जैसे—सड़कों का, पुलों का और भवनों का निर्माण एवं व्यापार आदि कार्यों में।

राष्ट्रीय एकता, सुरक्षा और आर्थिक विकास में ग्राम्य संगठन का महत्व :

अति प्राचीन काल से भारत 'ग्राम्य प्रधान' देश रहा है। ग्राम राष्ट्र संगठन की एकाई है। अतः सर्वप्रथम इसका ही संगठन करना आवश्यक है। राष्ट्रीय एकता और संगठन ग्रामों के माध्यम से प्रारम्भ होने पर ही सम्पूर्ण राष्ट्र में

---

१. राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥ मनु ७।१२२

२. ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः ।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम् ॥ मनु ७।१२३

उसकी चेतना आ सकेगी। अतः राष्ट्र के आर्थिक जीवन को समुन्नत करने के लिए ग्राम संगठन को प्राचीन अर्थ-व्यवस्थापक मनु ने आवश्यक और सर्व प्रथम माना है।

"राष्ट्र के संगठन के लिए नित्य शासक इन उपायों को करे, अच्छी प्रकार संगठित रहने वाले राष्ट्र का शासक सुख से उन्नति करता है।"[१]

ग्राम संगठन कैसे किया जाये ? संगठन को ही संसार में सबसे महत्व-पूर्ण शक्ति माना गया है। इसके बल पर कठिन से कठिन कार्य सुगमता से हल हो जाता है। ग्रामीण संगठन को सुदृढ़ करने के लिए प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक मनु ने इस प्रकार उपाय बताये हैं :—

"राष्ट्र के संगठन के लिए दो, तीन और पाँच गांवों के समुह का एक संह बनाकर उसका एक-एक रक्षक नियुक्त करे और सौ गावों का एक प्रमुख नियुक्त करे।"[२]

इस उद्धरण में छोटे-छोटे गांवों को संगठित कर राष्ट्र की शक्ति एक-एक छोटे सूत्र से संगठित कर विस्तृत संगठन के रूप में एकत्रित करने का उपाय बताया गया है। जिस प्रकार तृण का एक टुकड़ा कुछ नहीं कर सकता किन्तु जब कई तृण संगठित होकर एक मोटी रस्सी के रूप में आ जाते हैं पुनः वे विशालकार्य हाथी को भी बाँध सकते हैं। यही कार्य एक ग्राम से नहीं अपितु अनेक ग्राम संगठनों से ही होता दिखाया गया है। ग्रामीण संगठन की एकाई के द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्र को संगठित किया जा सकता है। इसी संगठन के द्वारा 'ग्राम प्रमुख' 'ग्राम रक्षक' 'ग्राम संगठन', का प्रारम्भ हुआ है। वैदिक काल की सभा और समितियां इसी प्रकार के संगठनों के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

छोटे-छोटे संगठनों से क्रमशः छोटे ग्राम, बड़े ग्राम, छोटे शहर, बड़े शहर, तहसील, जिला, प्रान्त और राष्ट्र जैसी संस्थाओं का जन्म हुआ है। आर्थिक व्यवस्थापक मनु ने राष्ट्र की आर्थिक स्थिति को संगठित और सुचारु रूप से चलाने के लिए ग्राम और नगर के संगठनों को संगठित कर औद्योगिक कार्यों से आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ करने की योजनायें बनाई हुई थीं।

---

१. राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत्।
सुसंगृहित राष्ट्रो ही पार्थिवः सुखमेधते ॥ मनु ७।११३

२. द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम्।
तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ॥ मनु ७।११४

"एक गांव का एक अधिपति, दस गांवों का एक अधिपति, बीस गांवों का एक अधिपति, सौ गांवों के ऊपर एक अधिपति और हजार गांवों का एक अधिपति राजा नियुक्त करे।"[१]

गांवों में होने वाली बुराइयों की सूचना पूर्व वर्णित क्रम से क्रमशः छोटे अधिपति बड़े अधिपतियों को देते थे जिससे अपराधों पर शीघ्रता से नियन्त्रण हो जाता था और जनता भयभीत और दुखी नहीं रहता थी।

"गांवों के उपद्रव आदि दोषों के उपस्थित होने पर एक गांव का अधिपति क्रमशः दस गाँव वाले अधिपति के पास उसकी सूचना दे और पुनः बीस गांवों के अधिपति और सौ गांवों के, हजार गांवों के अधिपति के पास दोषों को दूर करने के लिए सूचना दें।"[२]

इन ग्राम संगठनों के माध्यम से ही ग्राम रक्षा करने वाले अधिकारियों की जीविका का प्रबन्ध उनके कुछ सीमित अधिकार के द्वारा अर्थ संग्रह करके होता था। प्रायः यह भी देखा जाता है कि प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्थापक मनु ने वेतन देकर ही किसी भी अधिकारी से राष्ट्र का कार्य लेने की व्यवस्था दी है। उसका मुख्य कारण यह था कि यदि किसी भी अधिकारी को अवैतनिक रखा जायेगा तो वह या तो उतनी निष्ठा के साथ कार्य न कर सकेगा या उस अर्थ व्यवस्था के पद से कुछ धन कमाने की इच्छा करेगा। अतः प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्थापक मनु ने आजीविका का ध्यान रखते हुए इस प्रकार व्यवस्था दी है :—

"ग्रामवासियों द्वारा राजा को दिये जाने वाले अन्न, इन्धन आदि देने हों उन्हें 'ग्रामिक' (गांव को रक्षा करने वाला) प्राप्त करे।"[३]

इस प्रकार के उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रीय एकता और आर्थिक विकास की दृष्टि से—ग्रामीण संगठन को उस युग में एक महत्त्व पूर्ण इकाई माना जाता था। प्रारम्भिक आर्थिक विकास की वस्तुओं पर विशेष ध्यान देकर राष्ट्र की एकता के लिए उन्हे संगठित किया जाता था।

---

१. ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा।
विंशतीशं शतेशं च सहस्त्रपतिमेव च॥ मनु ७।११५

२. ग्रामदोषान्-समुत्पन्नान्ग्रामिकः शनकैः स्वयम्।
शंसेद् ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिने॥ मनु ७।११६-१७

३. यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः।
अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात्। मनु ७।११८

नगरों का संगठन और राज्य संचालन में अर्थव्यवस्था का स्थानः—

आर्थिक व्यवस्था के विकास में नगरों का एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। नगरों में औद्योगिक विकास के लिए समस्त प्रकार के साधन और अनेक प्रकार के कुशल व्यक्ति सुगमता से प्राप्त हो जाते हैं। इन औद्योगिक कार्यों द्वारा राज्य के अधिक से अधिक लोगों की आजीविका की समस्या हल हो जाती है और उत्पादन की भी वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार नगरों में शासन प्रबन्ध संचालन के लिए उच्च पदाधिकारी की भी नियुक्ति होनी चाहिये।

अर्थ-व्यवस्थापक मनु ने नगर के शासन-प्रबन्ध को संचालित करने के लिए इस प्रकार की व्यवस्था दी है:—

"प्रत्येक नगर-नगर में शासक को सभी अर्थों की सिद्धि के लिए चिंतन करना चाहिए और एक उच्च स्थान पर पराक्रमी अधिकारी की नक्षत्रों में ग्रह के समान नियुक्ति करनी चाहिये।"[1]

इस उद्धरण से यह भी प्रतीत हो रहा है कि उस युग में ग्राम संगठन के साथ ही साथ नगर संगठन भी बहुत अच्छा था और नगरों की संख्या भी अधिक रही होगी। नगर संगठन के लिए योग्य व्यक्ति की नियुक्ति आवश्यक समझी जाती थी। जिस प्रकार २७ नक्षत्रों में ९ ग्रह मुख्य और प्रभावशाली हैं, उसी प्रकार नगर शासन में वह अधिकारी उच्च और सुप्रबन्धक है।

अधिकारी की नियुक्ति प्रजावर्ग पर केवल प्रभाव जमाने के लिए ही नहीं होती अपितु नगर निवासियों के समस्त प्रकार के कष्टों को दूर करना और उनके सुख सुविधा का पूर्ण चिन्तन करना भी नगर अधिकारी का कर्तव्य था। वह नगर अधिकारी स्वयं और अपने सहायकों द्वारा नगर की रक्षा करता हुआ सुप्रबन्ध करता था।

मनु ने नगर प्रबन्धक के माध्यम से ग्राम संगठनों का कार्य देखने का भी उल्लेख किया है :—

"नगर का वह प्रमुख नगर और ग्राम संगठनों का भी सदा स्वयं निरीक्षण करता रहे। अपने दूतों के द्वारा राष्ट्र में होने वाले कार्य व्यवहारों को भी देखता रहे।"[2]

---

१. नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थ चिन्तकम्।
उच्चैः स्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम्॥ मनु ७।१२१

२. स ताननुपरिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयम्
तेषां वृत्तं परिणयेत्सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः। मनु ७।१२२

गांव और शहरों की इस प्रकार शक्ति संगठित कर राष्ट्रीय एकता की भावनाओं को जागृत करना इस व्यवस्था का उद्देश्य था और गांव एवं नगर के सभी लोगों से निकटतम सम्बन्ध स्थापित कर उसके कष्टों की वास्तविकता को देखकर उसका उपचार करना इसका मुख्य उद्देश्य रहा है।

व्यवहार को चलाने के लिए सिक्कों का प्रयोग :—

वार्ता में कृषि, पशु, वाणिज्य और कुसीद शब्द का प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्री मनु ने वर्णन किया है। कृषि के लिए कृषक पशु खरीदेगा, अधिक उत्पादित वस्तुओं का वाणिज्य करेगा, व्याज पर अर्थवृद्धि हेतु लोगों को धन देगा। इस प्रकार जगत् में व्यवहार को चलाने के लिए वस्तुत: अर्थ का क्या स्वरूप होगा? बहुत पहले मुद्रा (सिक्कों) के अभाव में वस्तु विनिमय होता रहा किंतु प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्थापक मनु के समय में अर्थ ने जगत के व्यवहार को चलाने इधर उधर, यात्रा करने, व्यापार करने के लिए सिक्कों के माध्यम से अपना वास्तविक, आकर्षक स्वरूप (रूप—रूपया नाम) ग्रहण कर लिया था। सिक्कों का परिमाण भी निश्चित हो गया और उनको मात्रा के अनुसार कई रूप निश्चित किये गये हैं। यथा :—

"लोक के व्यवहार के लिए तांबा, चांदी एवं सोने की जो संज्ञायें पृथ्वी में प्रसिद्ध हैं उन सभी का मैं वर्णन करता हूँ।"[1]

सूर्य की किरण के प्रवेश से खिड़की या किसी छेद से जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म धूलि दिखाई पड़ती है उसे 'त्रसरेणु' कहते हैं।

आठ त्रसरेणु का एक 'लिक्षा,' तीन लिक्षाओं का एक 'राजसर्षप' और तीन राजसर्षपयों का एक 'गौरसर्षप' होता है।

छः गौरसर्षपों का एक 'मध्ययव' तीन मध्ययव का एक 'कृष्णल' रत्ती, पांच रत्तियों-कृष्णलों का एक 'मासा' सोलह मासों का एक सुवर्ण होता है। चार सुवर्ण का एक 'पल' दस पलों का एक 'धरण' एक धरण का 'रौप्यमाषक' होता है।

१६ रौप्यमाषकों का एक रौप्यधरण तथा राजत चांदी का सिक्का, तांबे के सिक्के को कर्ष एवं 'पण' कहते हैं।

---

१. लोक संव्यवहारार्थं याः संज्ञाः प्रथिता भुवि।
ताम्ररूप्यसुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः॥ मनु ८।१३१

"दस चांदी के सिक्के रौप्यधरण तथा 'राजत' शतमान और चार सुवर्णों का एक 'निष्क' जानना चाहिये।"[1]

धातुओं के रूप में सिक्कों की स्थिरता, सुरक्षा, उपादेयता और सुन्दरता के कारण ही प्रयोग हुआ है। धातुओं को सिक्कों के रूप में अपनाने का एक मुख्य कारण यह भी था कि वे शीघ्र नष्ट नहीं हो सकते थे, जल से भीग नहीं सकते थे, धरती में रखे रहने पर गल नहीं सकते थे। अतः प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों ने सिक्कों के लिए सोना, चांदी, तांबा इन धातुओं का प्रयोग किया। लोहे को अति सुलभ और जंग आदि त्रुटियों के कारण सिक्के के रूप में नहीं अपनाया गया है। मूल्यवान् धातुओं को सिक्कों के रूप में अपनाने का मुख्य उद्देश्य यह भी प्रमाणित होता है कि उस युग में मूल्यवान् धातुओं का भारत में आधिक्य था और राज्य की समृद्धि एवं कोष में अर्थ का महत्त्व था। समृद्ध राष्ट्र ही मूल्यवान् धातुओं का प्रयोग कर अर्थ—अर्थात् प्रचलित सिक्कों से धन वालों को अपनी वचनवद्धता से यह प्रमाणित करता था कि राज्य के द्वारा प्रचारित यह सिक्का सदा उपयोग में आयेगा। आपके श्रम से उपार्जित अर्थ श्रम से किसी भी रूप में कम मूल्यवान् नहीं है। यह अर्थ कभी भी नष्ट नहीं हो सकता है।

यदि प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों ने अर्थ को व्यवहार के लिये सिक्कों के रूप में प्रचलित न किया होता तो आज संसार में तांबे, चांदी और सोने के आकार में ये सिक्के दृष्टिगत न होते। प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों का संसार सदा ऋणी रहेगा—क्योंकि उन्होंने ही सर्व प्रथम इस ओर कार्य किया है। प्रथम अर्थ-व्यवस्थापक मनु की मनुस्मृति इन सभी का ज्वलन्त प्रमाण है।

सिक्कों के प्रथम परिणाम को 'त्रसरेणु' नाम से पुकारा जाता है। आधुनिक युग के एक नये पैसे की भाँति उस युग में सबसे छोटा सिक्का 'त्रसरेणु' नाम से पुकारा जाता था।[2]

अपराधियों को भी सिक्कों के रूप में आर्थिक दण्ड देना पड़ता था :—

प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन करने पर यह अवगत होता है कि समाज आर्थिक स्तर पर बहुत ही उन्नत था। धनवान् व्यक्ति को अर्थ दण्ड

---

१. धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस्तु राजतः।
चतुः सौवर्णिको निष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः॥ मनु ८।१३७

२. प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणु प्रचक्षते॥ मनु ८।१३२ उत्तरार्ध

देकर समाज में उसका बहुत बड़ा अपमान होता है। भविष्य में कोई व्यापारी सामाजिक नियमों का उल्लंघन न कर सके अतः अर्थ दण्ड की व्यवस्था दी गई थी। कई इस प्रकार के भी व्यक्ति होते थे जो अपराध कर लेते थे अतः भविष्य में वे पुनः अपराध न करें इसलिये अर्थ दण्ड की व्यवस्था दी गई थी। कुछ ऐसे अपराधी भी होते थे जो वस्तुतः अपराध तो नहीं करते थे किन्तु भ्रमवश पकड़े जाते थे।

अपराधियों को अपराध के अनुरूप आर्थिक दण्ड भी दिया जाता था। उस दण्ड का परिमाण इस प्रकार रखा गया था। वह दण्ड तीन प्रकार का होता था।

१—प्रथम साहस दण्ड २—मध्यम साहस दण्ड ३—उत्तम साहस दण्ड।

"दो सौ पचास पणों का 'प्रथम साहस दण्ड,' पांच सौ पणों का मध्यम साहस दण्ड और एक हजार पणों का उत्तम साहस दण्ड जानना चाहिये।"[1]

इस प्रकार के पूर्व वर्णित उद्धरणों से प्राचीन भारत में राज्य के व्यवहार में सिक्कों का अत्यधिक प्रचलन था। इससे यह भी अच्छी प्रकार विदित होता है कि प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों को सिक्कों की छोटी से छोटी संख्या और बड़ी से बड़ी संख्या का पूर्ण ज्ञान था। शारीरिक कष्ट के साथ ही साथ आर्थिक दण्ड भी दिया जाता था। हल्के अपराध करने वालों को सम्भवतः अर्थ दण्ड दिया जाता था। सामाजिक नियमों का उल्लंघन करने वाले और शारीरिक अपराध करने वालों को अर्थ दण्ड नहीं दिया जाता था। जिससे पुनः समाज में ऐसा करने का किसी को साहस ही न हो।

ऋण देने वाले महाजन (बैंकर) और व्याज की दरें :—

कुसीद :—ऋण के व्याज की मात्रा (परिमाण) पर भी प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्थापक मनु ने इस प्रकार व्यवस्था दी है।

कुसीद व्याज—सूद पर दिये जाने वाले अर्थ पर किस अनुपात से सूद व्याज लिया जाये :—

"वशिष्ठ मुनि द्वारा वर्णित अर्थ की वृद्धि व्याज पर दिये गये धन की वृद्धि

---

१. पणानां द्वे शते सार्धं प्रथमः साहसः स्मृतः।
मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं त्वेव चोत्तमः॥ मनु ८।१३८

करने वाले महाजन साहूकार को अस्सी पर एक रुपया और सौ रुपये का सवा रुपया प्रतिमास लेना चाहिए।"[1]

सवा प्रतिशत से यहाँ एक साल का १६ रुपया एक वर्ष का सौ रुपया का व्याज वशिष्ठ जी ने निर्धारित किया।

इस प्रकार इतना अधिक वार्षिक व्याज १६% को वशिष्ठ आर्थिक विचारक ने निर्धारित किया किन्तु इसे मनु ने अच्छा नहीं माना और एक नया प्रतिमान स्थापित कर वशिष्ठ मुनि के स्थापित किये प्रतिमान को उचित, न्याय संगत एवं समाजोचित नहीं माना। जैसे :—

"सज्जन पुरुषों के धर्म (नियमों) का स्मरण करते हुए ऋण देने वाला दो प्रतिशत ही प्रतिमास सूद ग्रहण करे, दो प्रतिशत सूद-व्याज लेने वाला अर्थवान् पाप का भागी (अन्याय करने वाला) नहीं होता।"[2]

इस प्रकार मनुस्मृति के उद्धरणों से विदित होता है कि व्यवहार को चलाने के लिए सिक्कों का अत्यधिक प्रचलन हो चुका था। समाज की आर्थिक स्थिति इतनी अच्छी थी कि लोगों के पास पर्याप्त अर्थ था, यहाँ तक कि उद्योग कार्यों के लिए लोग ऋण भी लेते थे। समाज में आधुनिक युग के बैंकों की भाँति बड़े-बड़े सेठ-साहूकार बैंकर व्याज पर ऋण देने का कार्य करते थे। ऋण देने वाले ऋण लेने वालों से अपनी इच्छा एवं अर्थ वृद्धि हेतु मनमाना सूद-व्याज न लगा सकें अतः शासक की ओर से व्याज की दरें २% निर्धारित की गयी थीं। अर्थवान् अर्थवृद्धि की भावना से अनुप्राणित होकर सूद व्याज लेने में शोषण न करे अपितु राष्ट्र की आर्थिक स्थिति के विकास के लिए अपने नीति पूर्वक उपार्जित अर्थ का उचित लाभ ले। अतः शासक ने सूद-व्याज की दरें एक निश्चित मात्रा में निर्धारित की हुई थी। प्रायः मानवीय स्वभाव के कारण ऐसा भी देखा जाता है कि अर्थवान् अपनी अर्थ वृद्धि के लिए अधिक लाभ की भावनाओं से शोषण करना चाहता है। इस प्रकार की भावनायें समाज के लोगों के हृदय में न आयें। इसीलिये उचित लाभ का ध्यान रखते हुए सेठ-साहूकारों को व्याज की निर्धारित दरें लेने के लिए राज्य की ओर से नियम

---

१. वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद्वित्तविवर्धिनीम्।
अशीतिभागं गृह्णीयान्मासाद्वार्धुषिकः शते॥ मनु ८।१४०

२. द्विकं शतं वा गृह्णीयात्सतां धर्ममनुस्मरन्।
द्विकं शतं हि गृह्णानो न भवत्यर्थकिल्बिषी॥ मनु ८।१४१

बनाये हुए थे। केवल नियम ही नहीं बनाये हुए थे अपितु जनता उन पर आचरण भी करती थी।

इस प्रकार अर्थ के ऋण पर दिये-लिये जाने से उस युग की आर्थिक सम्पन्नता का अच्छी प्रकार ज्ञान होता है और वाणिज्य शास्त्र में वे लोग पूर्ण कुशल थे। उस युग में अर्थ का महत्व सभी अच्छी प्रकार समझते थे। इसीलिए लोगों में शोषण की भावनायें न थीं। उचित रीति से समाज में ऋण मिल जाता था। प्रजावर्ग का आर्थिक स्तर अच्छा था। समाज व्यापारिक दृष्टि से औद्योगिक उन्नति पर था। अर्थ के लेन-देन का सही और स्पष्ट व्यवहार था। उस युग में बैंकिंग का काम वैश्य लोग ही करते थे। आर्थिक व्यवस्था का संचालन वैश्य-व्यापारी वर्ग के हाथ में था।

विश्वासी लोगों के पास धरोहर (निक्षेप) रखने की व्यवस्था—

संसार में अधिक कार्य विश्वास पर ही चलता रहता है। कुछ लोग अपने आचरण और व्यवहार से समाज में अपनी अच्छी साख जमा लेते हैं। ऐसे ही लोगों पर अधिक लोग विश्वास कर अपनी मूल्यवान् सामग्री अतिरिक्त धन और सम्पत्ति धरोहर के रूप में रख जाते हैं। इस प्रकार के प्रसंगों से प्राचीन भारतीय आर्थिक बिचारकों की आर्थिक, सामाजिक चिन्तन प्रक्रिया और सुव्यवस्थिति स्थिति का पूर्ण ज्ञान होता है। उस युग में ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक युग के बैंकों की भाँति भी काम होता रहा होगा। कुछ विश्वासी व्यक्ति लोगों को ऋण भी देते थे और उससे धन की वृद्धि भी करते थे। वैसे ही लोगों के पास समाज के कुछ लोग विश्वास के कारण अपनी धरोहर (निक्षेप) निश्चिन्त होकर रख देते थे। उस युग को समाज की आर्थिक स्थिति का उस प्रकार के उद्धरणों से ज्ञान होता है। यथा—

"अच्छे कुल वाले, सदाचारी, धर्मज्ञ, सत्यवादी, बहुत बड़े परिवारवाले, धनवान् और न्यायप्रिय व्यक्ति के पास बुद्धिमान् निक्षेप (धरोहर) को रखें।"[1]

निक्षेप रखनेवाला इतना विश्वासी और सच्चा व्यक्ति होता था कि वह निक्षेपकर्ता की निक्षेप सामग्री को जिस स्थिति में लेता था पुनः उसी दशा में उसे सुरक्षित वापस कर देता था। इस प्रकार के उद्धरणों से ऐसा भी विदित

---

१. कुलजे वृत्तसम्पन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि।
महापक्षे धनिन्यार्ये निक्षेपं निक्षिपेद् बुधः॥ मनु ८।१७९

होता है कि 'वाणिज्य' की सूक्ष्म से सूक्ष्म पद्धति प्रयोग में आने लगी थी। अतः व्यापारिक लोभ की दृष्टि को ध्यान में रखते हुये निक्षेपकर्ता आधुनिक युग के वैंकों में 'लॉकर' की भाँति अपने सामान रखने का कुछ अर्थ अवश्य देता रहा होगा। ऐसा करने से दोनों व्यक्तियों के मन में निश्चिन्तता और अर्थ प्राप्ति का उद्देश्य तो बना रहता है। अतः दोनों के हृदय में किसी प्रकार की बुराई नहीं आ सकती। कभी किसी के मन में स्वप्न में भी अविश्वास की दुर्भावनायें नहीं आती थीं। अच्छे व्यापारी अपनी साख अपने कार्य की प्रतिष्ठा (गुडविल) को अपनी बड़ी से बड़ी हानि सहन करके भी बनाके रखता है, उसी प्रकार प्राचीन भारत में इस प्रकार का कार्य करने वाले व्यापारी अर्थवान् ऐसा ह कार्य करते थे। आर्थिक स्थिति का अच्छा होना इस बात का परिचायक है कि उस युग भी लोग परिश्रमी, उद्योगी धैर्यशाली और अर्थवान् थे। जिससे किसी को भी अर्थ का कष्ट न था। अर्थ संकट में पड़ा व्यक्ति ही प्रायः अर्थ को बुरी रीति से अपनाने की धृष्टता करता है। व्यक्ति के पास जब अर्थ नहीं होता तभी वह दूसरों के अर्थ का अपहरण करता है। इस प्रकार के उद्धरणों से उस युग की आर्थिक समृद्धि का पूर्ण रूप से ज्ञान होता है। अर्थ सम्पन्न लोगों के पास अर्थ की प्रचुरता होगी तभी वह दूसरों को अर्थ ऋण के रूप में दे सकता है और अर्थ निक्षेप के रूप में दे सकता है और अर्थ निक्षेप के रूप में जमा कर सकता है। अर्थ विपन्न व्यक्ति क्या जमा करेगा और क्या व्यय करेगा और क्या दूसरों को दे सकेगा? सम्पन्न, अर्थवान् व्यक्ति ही दूसरों के निक्षेप के धन को यथावत् प्रत्यावर्तन कर सकता है। जैसे—

"जो जैसे जिसके हाथ में जो अर्थ निक्षेप के रूप में रखे, उस धन को उसी प्रकार वह वापस कर दे जिस प्रकार उसने ग्रहण किया है।"[1]

खाद्य वस्तुओं में मिश्रण करने वाले व्यापारियों को कठोर दण्ड—

संसार में सबसे अनमोल यदि कोई वस्तु, संसार के सुखों को भोगने के लिए है तो वह 'स्वास्थ्य' ही है। शरीर वेत्ताओं ने 'शरीर को व्याधियों का मन्दिर (घर) माना[2] है।' इस शरीर की रक्षा करने पर ही यह निरोग और श्रम करने योग्य बना रह सकता है। अतः शरीर विज्ञान वेत्ताओं का विचार है कि संसार

---

१. यो यथा निक्षिपेद्धस्ते यमर्थं यस्य मानवः।
स तथैव ग्रहीतव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः॥ मनु ८।१८०
२. शरीरं व्याधि मन्दिरम्।

का सारा काम जिस शरीर से सिद्ध होता है उसकी रक्षा पर प्रथम ध्यान दे। 'संसार के सब काम छोड़ कर शरीर को रक्षा करो।[१]

प्राचीन भारती- ॰ थ विचारकों ने जहाँ राज्य की आर्थिक व्यवस्था को समुन्नत करने के लिये अच्छे से अच्छे उपायों का वर्णन किया है वहाँ दूसरी ओर राष्ट्र की उन्नति के लिये जनता के स्वास्थ्य का ध्यान रखते हुये खाद्य वस्तुओं की पवित्रता और स्वच्छता पर विशेष ध्यान दिया है। जिससे स्वस्थ लोग आर्थिक उन्नति में अधिक उत्पादन बढ़ाकर कार्य कर सकें। व्यापारीवर्ग अपने व्यक्तिगत लाभ के लिये खाद्य सामग्री जैसी चीजों में मिश्रण कर सकते हैं। इस प्रकार की अनियमितताओं को रोकने के लिये राज्य की ओर से कठोर दण्ड की व्यवस्था की हुई थी। यदि सामाजिकों का स्वास्थ्य अच्छा रहेगा तभी तो वे उससे राष्ट्र के बड़े-बड़े कार्यों को कर सकते हैं। अतः प्राचीन भारतीय आर्थिक, विचारकों ने खाद्य सामग्री में मिश्रण करनेवाले, कृत्रिम वस्तुओं को बेचनेवाले लोगों को कठोर दण्ड देने की व्यवस्था की है :—

"वास्तविक वस्तु से अन्य वस्तु का मिश्रण कर विक्रय करने वाले, सार (मूल्यवान्) वस्तु को निस्सार और निस्सार को सारवान्—बतानेवाले एवं जिसका सही रूप विदित न हो रहा हो ऐसी वस्तुओं का विक्रय नहीं होना चाहिए।"[२]

आज के युग में अपने को सभ्य देश कहलानेवाले राष्ट्र यद्यपि अर्थवृद्धि के उपायों में सन्निहित हैं किन्तु वे भी खाद्य सामग्री में कृत्रिमता और मिश्रण को अनुचित मानते हैं क्योंकि ऐसा करने से सामाजिकों के स्वास्थ्य की हानि होती है और नई-नई बीमारियों का जन्म होता है। ऐसे कार्यकरने वाले लोगों को कठोर दण्ड दिया जाता है। इस प्रकार का व्यक्तिगत लाभ राष्ट्रीय सुरक्षा के लिये घातक है। वास्तव में दैनिक उपयोग में आनेवाली जीवनोपयोगी खाद्य वस्तुओं में मिश्रण करनेवाले व्यक्ति स्वार्थी और राष्ट्र के शत्रु होते हैं।

मनु के विचार से स्वत्व का अधिकार :—स्वत्व का अधिकार व्यक्ति को उसके मूल अधिकारों के द्वारा प्राप्त होता है। वस्तुतः जगत् में स्वत्व का अधिकार किस पद्धति पर स्वीकार किया जाये ? समाज में किसी के पास अत्यधिक सम्पत्ति है और कोई एक टुकड़ा जमीन के लिए दुखी है क्यों ? ऐसी

१. सर्वमन्यत परित्यज्य शरीरमनु पालयेत् ॥
२. नान्यदन्येन संसृष्टरूपं विक्रयमर्हति।
न चासारं न च न्यूनं न दूरेण तिरोहितम् ॥ मनु ८।२०३

विषमता समाज में क्यों है ? इसमें या तो सामाजिक नियमों का दोष है या वितरण व्यवस्था का स्वार्थवादी दोष है । इस विषमता में समाज के व्यवस्थापकों एवं सत्ताधारियों का ही सबसे बड़ा हाथ होता है । यदि कोई व्यक्ति अपनी वंश परम्परा से चली आ रही सम्पत्ति का उपभोग या उपयोग नहीं कर सकता हैं और वह व्यर्थ पड़ी है । ऐसी स्थिति में उसका समय के अनुकूल वितरण होना चाहिये । कभी-कभी ऐसे लोग अपनी सम्पत्ति का कुछ भाग अर्थ वृद्धि या वैसे ही किसी को दे देते हैं और दस वर्ष तक निरन्तर उसकी सम्पत्ति का जो व्यक्ति उपभोग कर रहा है, अब उस सम्पत्ति पर नये उपभोक्ता का ही स्वामित्व हो जाता है और पूर्व स्वामी का 'स्वत्व' समाप्त हो जायेगा ।

इस प्रकार की घटनाओं पर प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक मनु ने अपनी व्यवस्था इस प्रकार दी है :—

"यदि कोई स्वामी अपनी सम्पत्ति को किसी अन्य के द्वारा (भुज्यमान) भोगते हुए देख कर भी दस वर्ष तक कुछ नहीं कहता अर्थात् मौन रहता है । ऐसी स्थिति में दस वर्ष उपभोग करने वाला ही उसका स्वामी हो जाता है और पूर्व स्वामी उसको अब प्राप्त नहीं कर सकता है ।"[1]

आर्थिक व्यवस्थापक मनु की व्यवस्था को अपनाकर भारतीय सरकार ने शताब्दियों से चली आ रही जमीदारी प्रथा से किसानों का उद्धार किया और 'जमीदारी उन्मूलन' नियम व्यवहार में लाकर दिखाया । गांवों की भूमि का सही वितरण 'जमीदारी उन्मूलन' से हुआ । उसी प्रकार अब शहरी सम्पत्ति में भी सुधारने के लिए वर्षों से भारतीय केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारें विचार कर रही हैं और मनु के विचार से वे उसमें भी सफल हो जायेंगे । पूर्व वर्णित उद्धरण से ऐसा प्रतीत होता है कि जिसके पास इतनी अधिक सम्पत्ति है कि वह उसका उपभोग और उपयोग नहीं कर सकता है ऐसी स्थिति में वर्षों से जो उसका उपभोग कर रहा होगा उसे ही मनुने उपभोक्ता के कारण दस वर्ष के पश्चात् उसे स्वामित्व देना स्वीकार किया ।

इस प्रकार की व्यवस्था से समाज में बड़े-छोटे धनवान्-निर्धन और असमानता के विचार दूर हो जायेंगे । इस प्रकार की वितरण व्यवस्था से प्रत्येक व्यक्ति आवास, भूमि, व्यवसाय आदि से दुखी नहीं रहेगा और राष्ट्र के प्रति सदा अपनी अच्छी भावना रखेगा ।

---

१ यत्किंचित्-दस वर्षाणि सन्निधौ प्रेक्षते धनी ।
भुज्यमानं परैस्तूष्णीं न स तल्लब्धुमर्हति ॥ मनु ८।१४७

सहकारिता से कार्य करने पर लाभ का वितरण किस प्रकार हो ?

राष्ट्रीय एकता की भावनाओं से अभिप्रेत होकर ही प्राचीन भारत में बड़े-बड़े कठिन कार्य सुगमता और शीघ्रता से पूर्ण करने के उद्देश्य से सहकारिता की पद्धति को अपनाया गया होगा। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर संगठित होकर कार्य करने के अनेक उदाहरण मिलते हैं :—

"हे स्तोताओं ! तुम एकत्र होओ ! समान रूप से स्तोत्र का उच्चारण करो। तुम समान मन वाले हो। जैसे देवगण समान मति वाले होकर हवि ग्रहण करते हैं, वैसे ही तुम भी समान मति वाले होकर धनादि ग्रहण करने वाले हो।[1]

उसी प्रकार मनु ने भी अपनी मनुस्मृति में संगठित होकर सहकारिता एवं राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से कार्य करने पर बल दिया है। सहकारिता से पूर्ण किये जाने वाले कार्यों का लाभांश कैसे विभाजित किया जायेगा ? अर्थ व्यवस्थापक मनु ने सम्मिलित कार्य करने पर एवं लाभांश वितरण पर अपना विचार इस प्रकार व्यक्त किया है :—

" संगठित होकर सहकारिता की भावनाओं से एकत्रित होकर काम करने वाले मनुष्यों को अपने-अपने कामों का इस विधि से अर्थात् परिश्रम के अनुरूप लाभांश को वितरण करना चाहिये।"[2]

एकत्रित होकर सहकारिता के आधार पर कार्य करने का यह प्रयोजन होता था कि सभी प्रकार के लोग शीघ्रता से कार्य के सम्पादन के लिये सभी अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार राष्ट्र के अभ्युदय की आशा और अपने को उचित लाभ पाने के लिए सम्भूय सम्मुत्थान (मिलकर एक साथ उद्योग द्वारा कार्य करने) की पद्धति को अपनाया गया था। वस्तुतः ऐसा भी देखा जाता है कि एक व्यक्ति एकाकी अपनी सीमित शक्ति के द्वारा अधिक कार्य एक साथ कैसे कर सकता है ? यदि कर भी ले तो उस कार्य का उसे उतना लाभ नहीं मिल सकता है। सामुहिक रूप में कार्य करने से कार्य परस्पर की प्रतिस्पर्धा से अधिक शीघ्रता से होता है।

---

१. संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जायताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ ऋग्वेद १० मंडल १९१
सूक्त २ मंत्र

२. सम्भूय स्वानि कर्माणि कुर्वद्भिरिह मानवैः।
अनेन विधियोगेन कर्तव्यांशप्रकल्पना ॥ मनु ८।२११

इस प्रसंग से ऐसा बोध होता है कि लोग एकत्रित होकर भी बड़े-बड़े कार्यों को अर्थ प्राप्ति एवं राष्ट्र के कल्याण के उद्देश्य से करते थे। इस प्रकार की व्यवस्थाओं का मुख्य उद्देश्य राष्ट्र की आर्थिक परियोजनाओं को सफल बनाकर राष्ट्र की उन्नति करना था। सहकारिता के ध्येय से किये गये कार्य में लाभांश को बांटने में कुछ कठिनाई भी होती रही होगी। अतः ऐसी स्थिति में व्यक्ति की योग्यता, क्षमता के अनुरूप ही विभाजन होता था। व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार कार्य का लाभांश पाकर पुनः प्रोत्साहित होकर अधिक तत्परता से इस सहकारिता की पद्धति की ओर आकर्षित होने लगता है। इस प्रकार अर्थ प्राप्ति हेतु एवं प्राप्त अर्थ की अभिवृद्धि हेतु प्राचीन भारतीय अर्थ व्यवस्थापक मनु ने अनेक प्रयोग दिखाये हैं।

आधुनिक युग का समाज भी सहकारसमितियों के माध्यम से अर्थ प्राप्ति के साधनों को अपनाकर अर्थ एकत्रित कर रहा है। कम्पनियां, समितियां आदि एकत्रित होकर उद्योग के द्वारा अर्थ प्राप्त कर रही हैं। वे सब प्राचीन इस 'सम्भूय समुत्थान' पद्धति के ही रूप में हैं। संघ की शक्ति को सभी मानते हैं और संगठित होकर कार्य करने का चमत्कार भी जानने हैं। इसी ध्येय से कृषि में, व्यापार में और अधिक उत्पादन के कार्यों में सहकारिता को अपनाया गया है।

इस सहकारिता के कार्यों में कार्य करने वालों की सुख सुविधाओं का विशेष ध्यान रखना पड़ता है क्योंकि अधिक उत्पादन में उनका ही सबसे बड़ा योगदान होता है।

अर्थ प्राप्ति के कार्यों में काम करने वाले कार्यकर्ताओं को सुविधायें :

अर्थ प्राप्ति के कार्यों में यदि सहयोग और श्रमिक की कठिनाइयों पर ध्यान न दिया जायेगा तो उत्पादन बढ़ाने वाला श्रमिक अच्छी प्रकार एवं तत्परता से कार्य नहीं करेगा। श्रमिक पूर्ण श्रम का फल पाकर या सुख सुविधायें पाकर ही शीघ्रता और दक्षता से उत्पादन वृद्धि पर अधिक ध्यान देता है। प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्री इस बात को अच्छी प्रकार जानते थे कि जिन व्यक्तियों द्वारा अर्थ की प्राप्ति हो रही है, उनके सुख-दुखों का ध्यान रखना भी परमावश्यक है। कारण उस उद्योग प्रतिष्ठान को वे श्रमिक, कार्यकर्ता अपना समझेंगे तब उनकी सुख-सुविधाओं का उस कार्य का प्रशासन ध्यान रखेगा। उन लोगों के श्रम का महत्त्व समझकर उन्हें प्रोत्साहित किया जायेगा, तभी वे कर्तव्यनिष्ठ एवं अपना ही काम समझकर धैर्य पूर्वक परिश्रम करेंगे।

अर्थव्यवस्थापक मनु ने अपनी मनुस्मृति में श्रमिकों के सुख-दुख का इस प्रकार पूर्ण ध्यान रखा है :—

"बीमार कर्मचारी स्वस्थ होने पर यदि कहने के अनुसार कार्य करने लगे तो वह अति दीर्घकाल की अवधि की अनुपस्थिति का भी वेतन प्राप्त कर सकता है।"[1]

मनुस्मृति के इस प्रकार के उद्धरण से यह विदित होता है कि प्राचीन अर्थव्यवस्थापक मनु ने कर्मचारियों के लिये ऐसी भी सुविधायें प्रदान की हुई थीं कि यदि कोई वेतन भोगी कर्मचारी बीमार हो जाता है और किसी कारण-वश अपनी बीमारी की सूचना 'औद्योगिक प्रतिष्ठान' को नहीं दे पाता और एक लम्बी अवधि के पश्चात् पुनः अपने कार्य पर आ जाता है एवं अधिकारी की आज्ञानुसार अपने काम को प्रारम्भ कर देता है तो ऐसी स्थिति में भी उसे उस अनुपस्थिति का सम्पूर्ण वेतन मिलता था। आज के विकसित युग में भी श्रमिकों पर इतना ध्यान नहीं दिया जाता है। जब कि श्रमकल्याण जैसी संस्थाओं का निर्माण भी हो चुका है।

श्रमिकों के श्रम का जहाँ आदि अर्थव्यवस्थापक मनु ने महत्त्व माना है और पूर्ण वेतन देकर उनकी बीमारी आदि का ध्यान रखा। दूसरी ओर श्रमिकों के लिये यह भी व्यवस्था की गई थी कि यदि वह वेतनभोगी स्वयं बीमारी के कारण काम नहीं कर सकता और अपने स्थान पर किसी और श्रमिक को अर्थ-प्राप्ति के अनुष्ठान में नहीं भेजता या स्वस्थ होने पर उस काम को स्वयं भी नहीं करता। ऐसी स्थिति में वह अर्थ पाने का अधिकारी नहीं होता। राष्ट्रीय आय और राष्ट्रीय उत्पादन में किसी प्रकार की बाधायें उपस्थित न हो। अतः ऐसी व्यवस्था बनाई हुई थी। श्रमिकों की समस्त सुविधाओं का ध्यान रखते हुये प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्थापक मनु ने श्रमिकों के सुख-दुख में अनेक श्रम-कल्याणकारी कार्य किये हुये थे। आधुनिक युग में श्रम कल्याण के जो कार्य किये हुये हैं उनसे मनु के शासन काल में किसी प्रकार भी कोई काम कम न था। जो श्रमिक वस्तुतः राष्ट्रीय भावनाओं से अनुप्राणित होकर उत्पादन की अभिवृद्धि में योगदान देते थे उन्हें समस्त सुविधायें प्राप्त थीं और जो कार्य नहीं करते थे अथवा बाधा पहुँचाते थे उन्हें वेतन नहीं दिया जाता था। जैसे :—

---

१. आर्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन् यथाभाषितमादितः।
स दीर्घस्यापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम्॥ मनु ८।२१६

"निर्धारित अथवा स्वीकृत किये हुये काम जो वेतनभोगी कर्मचारी बीमारी की स्थिति में काम नहीं करता और न अपने काम को दूसरों के द्वारा ही कराता है एवं स्वस्थ होने पर स्वयं भी नहीं करता ऐसा व्यक्ति कुछ दिन काम करने का भी वेतन पाने का अधिकारी नहीं है।"[1]

इस प्रकार के उद्धरणों से यह प्रतीत होता है कि मनु के युग में औद्योगिक कार्य अपनी परम-उन्नति पर थे और श्रमिकों के लिये राज्य की ओर से पूर्ण सुविधायें उपलब्ध थीं। श्रम कल्याण की भावनाओं का अधिक ध्यान था। श्रमिक के श्रम का सही मूल्यांकन होता था।

वचनबद्धता (अनुबन्ध) भंग करने पर देश निकाला तक दिया जाता था

निर्धारित समय पर अपनी प्रतिज्ञा के अनुरूप कार्य न करनेवाले श्रमिकों को देश से निकालने तक के कठोर नियमों का पालन होता था। उद्योग प्रतिष्ठानों में राष्ट्रीयस्तर पर कार्य होता था जो व्यक्ति अपने स्वीकृत कार्य को निश्चित समय में पूर्ण नहीं करता था, उसे राष्ट्रीय विकास कार्यों में बाधा उपस्थित करनेवाला घोषित कर देश द्रोही समझकर देश से निकाल दिया जाता था। राष्ट्रीय भावनाओं से ही अभिप्रेरित होकर व्यक्ति कार्य करता था। मनु जैसा अर्थव्यवस्थापक ही अपने रचनात्मक कार्यों द्वारा ऐसी व्यवस्था ला सका था।

'सांघिक' शब्द का मनु ने अपनी मनुस्मृति में अनेक स्थानों पर प्रयोग किया है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि उस युग में आर्थिक लाभ के लिये आधुनिक कम्पनीं या लिमिटेड फर्मों की भाँति कई संघ थे, जिनमें श्रमिक अनुबन्ध (कॉन्ट्रक्ट) पद्धति पर कार्य करते थे। यदि वे किसी प्रकार अनुबन्ध तोड़कर कार्य करते थे तो उन्हें देश की उन्नति में बाधक और आर्थिक विकास में घातक सिद्ध करके देश से निकाल दिया जाता था। औद्योगिक विकास के कार्यों में जहाँ श्रमिकों के कल्याण के लिए अनेक सुविधायें थीं वहाँ दूसरी ओर कार्य करने, बाधा पहुँचाने पर देश से निकाले जाते तक का कठोर दण्ड देकर उसे देशद्रोही घोषित किया जाता था। जनता में राष्ट्रीय चरित्र था तभी राष्ट्रीय चेतना से राष्ट्र को सभी दृष्टियों से उन्नत किया जाता था।

"कोई ग्राम में, देश में किसी व्यापारिक संघ में अपने सत्य बचनों के

---

१. यथोक्तमार्तः सुस्थो वा यस्तत्कर्म न कारयेत्।
न तस्य वेतनं देयमल्पोनस्यापि कर्मणः॥ मनु ८।२१७

अनुसार अपने अनुबन्ध को निश्चित अवधि से पूर्व लोभ आदि कारणों से भंग करदे तो ऐसे व्यक्ति को देश से निकाल देना चाहिये।"[1]

जिस राष्ट्र में ऐसी राष्ट्रीय भावनाओं से कार्य होता था वह राष्ट्र और उस राष्ट्र के निवासी धन्य थे शासक के अच्छे होने पर ही जनता में अच्छे विचारों का उदय होता है। प्रायः शासक की बुराइयों से ही प्रजावर्ग में बुराइयों का जन्म होता है।

बिकी हुई वस्तुयें किसी विशेष स्थिति में ही वापस होती थीं—

प्राचीन भारतीय अर्थ व्यवस्थापक मनु ने क्रय-विक्रय की जानेवाली सामग्री को वापस करने का भी एक नियम बनाया हुआ था। कोई व्यक्ति व्यापारी से सामान लेकर उसे किसी कारण वश वापस करने लाता था ऐसी स्थिति में व्यापारी को क्या करना चाहिये ? ऐसी अवस्था आने पर प्रायः दोनों व्यक्तियों में झगड़ा तक हो जाता है किन्तु अच्छे व्यापारी अपनी भविष्य की दुकानदारी और ग्राहक का ध्यान रखते हुए ग्राहक के सद्व्यवहार अथवा उसकी वस्तु लेती बार की त्रुटि को अनुभव करने पर क्या करना चाहिये। इस पर आर्थिक विचारक मनु ने अपनी राय इस प्रकार दी है:—

"किसी वस्तु के क्रय विक्रम करती बार वस्तु को लेनेवाले या वेचनेवाले अपने मन में दुख अनुभव करनेवाले को दस दिन के अन्दर वह सामान वापस कर लेना चाहिये और लिया हुआ धन दे देना चाहिये।"[2]

इस प्रकार के उद्धरण से यह विदित होता है कि—प्राचीन भारत में व्यापार बड़े स्पष्ट रूप से और नेकनियत से होता था। क्रेता और विक्रेता का उद्देश्य स्पष्ट होता था, शासक की ओर से न्याय सही तौर पर होता था। पक्षपात की, झगड़ने की और ठगने की भावनायें किसी के मन में होती ही न थीं। वैसे सम्पूर्ण देश सम्पन्न था और शासक की ओर से व्यापार पर अच्छा नियन्त्रण था। शासन के अधिकारी प्रजावर्ग को एवं व्यापारी वर्ग को ठगना, कष्ट देना और अन्यायपूर्ण तरीकों से कार्य करना नही सिखाते थे।

---

१. यो ग्रामदेशसंघानां कृत्वा सत्येन संविदम्।
विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत्॥ मनु ८।२१९

२. क्रीत्वा विक्रीय वा किंचिद्यस्येहानुशयो भवेत्।
सोऽन्तर्दशाहात्तद् द्रव्यं दद्याच्चैवाददीत वा॥ मनु ८।२२२

प्रायः व्यापारी तभी मनमाना अत्याचार करता है जब सरकारी अधिकारी उससे रिश्वत लेते हैं। रिश्वत लेनेवाले अधिकारी साहस और दृढ़ता से न्याय नहीं कर सकते हैं। रिश्वत व्यक्ति के लिये लाभदायक हो सकती है किन्तु राष्ट्रीय चरित्र के लिये विष और राष्ट्र के लिये अभिशाप है। प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने इसलिये अच्छे शासक को अच्छे अधिकारियों के चयन करने की राय दी है।

वस्त्र निर्माण का उद्योग—प्राचीन भारतीय वस्त्र निर्माण के उद्योग को देखने से विदित होता है कि सभ्यता और उद्योग के क्षेत्र में भारतीयों ने कितनी उन्नति कर ली थी। रोजी रोटी की समस्या हलकर वे विकास की ओर अग्रगामी हो रहे थे। मनु के युग में उद्योग धन्धों को भी प्रोत्साहन मिलता था और और विशेषकर औद्योगिक योजनाओं से आर्थिक लाभ होता था। जनता में कुछ ऐसे भी लोग होते थे जो अपने अन्य कामों को करते हुये अतिरिक्त समय में सूत कातने का काम करते थे और कुछ ऐसे भी लोग होते थे जो शासक की ओर से स्थापित वस्त्रोद्योगों में वस्त्र निर्माण को ही करते थे। श्रमिकों में भी कई प्रकार के लोग हो सकते हैं जो रूई से उचित सूत न कातते हों कम कातने पर कैसे सूत की मात्रा का ज्ञान हो सकेगा। अतः सूत कातने, कपड़ा बुनने और कपड़ा लेने वाले राज्य अधिकारी में विवाद हो सकता है। इसके लिये मनु ने उस प्रकार के विवादों में ऐसा निर्णय दिया है—

"कपड़ा बुननेवाला दस पल सूत के रूप में एक पल अधिक अर्थात् ग्यारह पल कपड़ा दे। ऐसा न करने पर वस्त्र अधिकारी इसके विपरीत कार्य करनेवाले को बारह पण दण्ड दिलावे।"[1]

इस उद्धरण से ऐसा प्रतीत होता है कि अर्थव्यवस्थापक मनु के युग में वस्त्र उत्पादन अधिक उन्नति पर था। वस्त्रोद्योग में अनेक लोग कार्य करते थे। वस्त्र निर्माण का कार्य कुछ लोग राज्य से सूत लेकर वस्त्रों का निर्माण करके लाते थे। निर्धारित सूत से वस्त्र कितना वस्त्र बनना चाहिए, ये सभी नियम बने हुये थे। ऊपर वर्णित उद्धरण में दस पल परिमाण के सूत से ग्यारह पल कपड़ा प्राप्त करने की व्यवस्था दिखाई गई है। इससे ऐसा मालूम लगता है कि वस्त्र निर्माता वस्त्र निर्माण में कुछ वस्त्रों के आकर्षण सम्बन्धी किसी वजनदार

---

१. तन्तुवायो दशपलं दद्यादेकपलाधिकम्।
अतोऽन्यथा वर्तमानो दाप्यो द्वादशकं दयम्॥ मनु ८।३९७

लेपदार पदार्थ का सेवन करते रहे होंगे। जिसके लगाने के निर्धारित सूत की मात्रा में वृद्धि हो जाती होगी। उसी के आधार पर दस पल से ग्यारह पल वस्त्र लेने का नियम बना रहा होगा।

वैसे सूत कातने में एवं वस्त्र निर्माण में कुछ सूत टूट जाता है कुछ कम भी हो जाता है। ऐसी स्थिति में कुछ सूतकी बस्त्रनिर्माताओं को छूट अवश्य थी अथवा कुछ अतिरिक्त सूत उन्हें दिया जाता रहा होगा। प्रायः सूत कातने, वस्त्रनिर्माण करने में कुछ न कुछ खराब अवश्य होता है।

मूल्य वृद्धि नियन्त्रण, समान वितरण और मूल्यनिर्धारण

प्रायः यह देखा जाता है कि व्यापारी वर्ग अपनी खरीदी हुई या उत्पादित सामग्री पर अधिक लाभ चाहता है क्योंकि उसने अपनी पूँजी को लाभ के लिये विनियोग के रूप में उसमें लगाया हुआ है। यदि उसे अधिक से अधिक लाभ न हुआ तो उसके व्यापार करने का क्या लाभ ? अतः अधिक लाभ की कामना करना उसका स्वभाविक उद्देश्य है। मूल्य वृद्धि करने की भावना व्यापारी वर्ग के मन में दो प्रकार से आती हैं।

१—राष्ट्र में जिन वस्तुओं का उत्पादन कम और खपत अधिक होती है। जीवन में कुछ ऐसी भी चीजें होती हैं जो बिलासिता की होती हैं। ऐसी वस्तुओं का सर्वसाधारण उपभोग नहीं करता है। ऐसी वस्तुओं की मूल्य वृद्धि से जनता पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ता हैं न व्यापारी ही उससे अधिक लाभान्वित हो पाता है क्योंकि ऐसी वस्तुओं को अधिक लोग उपयोग में नहीं लाते। अधिक लाभ व्यापारियों को उन वस्तुओं से होता है जो जीवनोपयोगी हैं जिनके बिना मनुष्य का काम ही नहीं चल सकता है। ऐसी ही वस्तुओं पर व्यापारी मूल्य वृद्धि करता है।

२—जनता को जब वस्तुओं का बाजार में अभाव दिखने लगता हैं ऐसी स्थिति में व्यापारी वर्ग उस सामान को अधिक लाभ प्राप्ति हेतु जनताका शोषण करने के लिये छिपा देता है। जीवन यापन के लिये जनता अधिक से अधिक मूल्य पर वस्तुओं को खरीदती है। जिनके पास अर्थका अभाव होगा वे अकाल की चपेट में आकर बिना समय के ही मर जाते हैं।

ऐसी विषम परिस्थिति में अपराधों की संख्या बढ़ जाती है और व्यापारी सबसे अधिक इससे प्रभावित होते हैं। इस प्रकार की अत्यधिक मूल्यवृद्धि को रोकना अच्छे शासक का ही काम है। मूल्य वृद्धि को नियन्त्रित करना एकमात्र

शासन का ही कार्य है। ऐसे बुरे समय में यदि शासक न्यायप्रिय, जनता का हितैषी और सच्चा होता है तो वह मूल्य वृद्धि को रोकने का पूर्ण प्रयास करता है। उत्पादन की वृद्धि के लिये प्रयास और दूसरे स्थानों से उपलब्ध होने वाली सामग्री को मंगाकर उन वस्तुओं के अभाव की पूर्ति करना अच्छे शासक का कार्य है। बुरे और स्वार्थी शासक के समय में ही व्यापारी वर्ग अर्थ के बल पर शासक को खरीद लेते हैं और शासक भी अपने स्वार्थ में उन्हें मनमाना काम करने देता है।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारों ने इस अव्यवस्था को दूर करने के लिये अपराधियों को दण्ड देना आवश्यक समझा। ऐसे मुनाफाखोर लोग राष्ट्र के शत्रु होते हैं। उनका ही मूल्य वृद्धि करने में मुख्य स्थान होता है।

अर्थव्यवस्थापक मनु ने इस मूल्य वृद्धि को रोकने के लिये इस प्रकार उपाय बताया है :—

"शुल्क प्राप्ति के स्थानों में कुशल, विपण-बाजार की समस्त प्रकार की जानकारी रखने वाला एवं बिक्री की वस्तुओं का मूल्य निश्चित करने में विचक्षण व्यक्ति राज्य कर का बीसवां भाग ग्रहण करे।"[1]

इस उद्धरण में वर्णित कुशल कर ग्रहण करने वाला बाजार की पूर्ण गति-विधियों को जानने वाला व्यक्ति ही मूल्य वृद्धि पर नियन्त्रण पा सकता है। मूल्य की वृद्धि राज्य की ओर से लगने वाले 'कर' की अधिक मात्रा के कारण भी वस्तुओं में मूल्य वृद्धि आती है। अतः मनु ने जनता के सुखों का ध्यान रखते हुये उत्पादित वस्तुओं पर बीसवां भाग 'कर' के रूप में निश्चित किया हुआ था। उस पर भी योग्य, वाणिज्य का ज्ञाता, विपण के उतार-चढ़ाव को भली प्रकार जानने वाले व्यक्ति की नियुक्ति कर राज्य में होने वाली मूल्य वृद्धि पर नियन्त्रण पाने का प्रयास किया है।

"जो व्यापारी नगर का शुल्क दिये बिना शुल्क स्थान को छोड़कर जाता है। असमय में क्रय-विक्रय करने वाला, तोल माप में एवं वस्तुओं के मूल्य में झूठ बोलने वाले को आठ गुना दण्ड देना चाहिए।"[2]

---

१. शुल्क स्थानेषु कुशलः सर्वपण्यविचक्षणाः।
कुर्यरर्घं यथापण्यं ततो विंश नृपो हरेत्॥ मनु ८।३९८

२. शुल्क स्थानं परिहरन्नकाले क्रयविक्रयी।
मिथ्यावादी च संख्याने दाप्योऽष्टमत्ययम्॥ मनु ८।४००

उस प्रकार अच्छे व्यक्तियों की पण्य (विपण) अधिकारी नियुक्त किये जाने पर वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि नहीं हो सकती और यदि व्यापारी स्वार्थ बुद्धि से मूल्य वृद्धि कर दे तो वह कुशल, वाणिज्य विषय का ज्ञाता पूर्णरूप से मूल्य वृद्धि में नियन्त्रण पा सकता है।

करों (टैक्स) की वृद्धि से, मुद्रास्फुर्ति से, अयोग्य शासक के होने से और स्वार्थी (रिश्वतखोर) अधिकारियों के होने से राष्ट्र में वस्तुओं के मूल्य में अति तीव्रगति से वृद्धि होती है। स्वार्थी शासन अपने पर तो नियन्त्रण नहीं कर सकता पुनः सम्पूर्ण राष्ट्र में होने वाली मूल्य वृद्धि पर वह कैसे नियन्त्रण पा लेगा ? वाणिज्य का ज्ञाता, जनता का हितचिन्तक, राष्ट्र प्रेमी और लोभ हीन शासक और उसके अधिकारी ही मूल्य वृद्धि पर नियन्त्रण पा सकते हैं।

समान वितरण और मूल्य निर्धारण :—

मानवीय स्वभाव है फिर व्यापार का कार्य करने वाले की बात ही क्या कि वह अधिक लाभ के लिए कम तोल कर अधिक भाव बढ़ाकर लाभान्वित होना चाहता है। इस प्रकार की व्यापारी वर्ग की मनोवृत्तियों को देखकर प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्री मनु ने समान मूल्य देकर समान वस्तु वितरण के लिए राज्य के अधिकारियों द्वारा व्यापारियों के बाट, तराजुओं के निरीक्षण की समय-समय पर व्यवस्था की हुई थी। अपने मनमाने बाट, तराजुओं को व्यापारी वर्ग काम में न ला सकते थे। इस प्रकार की वितरण व्यवस्था में छोटे-बड़े का भेद भाव नहीं था अपितु सभी को सभी वस्तुयें समान मूल्य से समान मात्रा में वितरित होती थीं। अपने मनमाने बाट तराजुओं को व्यापारी वर्ग काम में न ला सकते थे और प्रजावर्ग में समान वितरण की व्यवस्था सुचारुरूप से चलती थी। अर्थ-व्यवस्थापक मनु ने इस प्रकार समान वितरण की अपनी मनुस्मृति में व्यवस्था दी है :—

"राजा तुलामान (तराजू) प्रतिमान बाट) की अच्छी प्रकार परीक्षा करे और पुनः प्रत्येक छह मास पर उन दोनों की परीक्षा कराता रहे।"[1]

इस उद्धरण में प्रतिमान से उन सभी चीजों की भी मात्रा आजाती है जो औषधि, जमीन, कपड़ा और मूल्यवान् आदि धातुओं के तौलने में प्रयुक्त होती

१. तुलामानं प्रतीमानं सर्वंच स्यात्सुलक्षितम्।
षटसु-षटसु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत्॥ मनु ८।४०३

थी। इस प्रकार जीवनोपयोगी वस्तुओं का वितरण प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों के अनुसार उचित और न्याय संगत रीति से होता था।

सम्पूर्ण देश एक ही तुलामान और प्रतिमान का प्रयोग करे जिससे समस्त राष्ट्र समान वितरण व्यवस्था का लाभ उठा सकेगा। राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को उसकी क्रय शक्ति के अनुसार वस्तुओं का समान वितरण हो सके। अतः प्रतिमानों में एक रूपता रखी गई थी।

आधुनिक युग में भी उसी पद्धति के अनुसार तौलने के प्रतिमानों और तुलाओं को सरकार अपने ही एक समान रूपता के सिद्धान्त के अनुसार प्रयोग में लाती है। प्रत्येक बड़े-छोटे व्यापारी के बाट-तराजुओं पर दृष्टि रखकर पण्य-विपण अधिकारी आधुनिक युग का मार्केटिंग ऑफिसर ध्यान देता है।

जिन वस्तुओं का राष्ट्र में अभाव होता होगा उन को भी समान वितरण व्यवस्था से ही हल किया जाता होगा।

मूल्य निर्धारण

मुनाफाखोरी, मनमानी भाव वृद्धि और व्यापारियों की शोषण वृत्ति को रोकने के लिए प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों ने मूल्य निर्धारण व्यवस्था को अपनाया हुआ था प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों का मुख्य उद्देश्य यह रहा कि राष्ट्र में क्रेता को अपने धन का, विक्रेता को अपने उत्पादन का और व्यापारी को उसकी पूँजी एवं परिश्रम का उचित मूल्य न मिलेगा तो उसे बहुत बुरा लगेगा। अतः वस्तुओं के मूल्य का निर्धारण किस प्रकार किया जा सकता है ? क्या मनमानी तौर पर या विक्रेताओं पर अत्याचार करके ? वस्तुतः वस्तुओं का वास्तविक मूल्य निर्धारण शासक ही कर सकता है। शासक को, उपभोग करने वाली जनता, उत्पादन करने वाले कृषक और विक्रय करने वाले व्यापारियों की सुख, सुविधा, हानि और लाभ का ध्यान रखते हुए अर्थव्यवस्थापक मनु ने इस प्रकार व्यवस्था बताई है :—

"आगम, (आयात) निर्गम, (निर्यात) स्थान और सामान के आने जाने की दूरी का, वृद्धि (लाभ) क्षय (हानि) दोनों का एवं उसके सम्पूर्ण खर्चों का ध्यान रखते हुये बाजार में सामान को क्रय-विक्रय करावें।" [१]

इस प्रकार व्यापार करने वालों के अदम्य उत्साह को देखकर उन्हें उचित लाभ देते हुये अधिक लाभ लेने की प्रवृत्ति (मुनाफाखोरी) को रोकना एवं जनता

---

१. आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धि क्षयावुभौ।
विचार्य सर्वपण्यानां कारयेत्क्रयविक्रयौ ॥ मनु ८।४०१

के प्रत्येक व्यक्ति को सुगमता से वास्तविक मूल्य पर जीवनोपयोगी सामग्री उपलब्ध हो सके और सभी के कल्याणार्थ इस प्रकार की व्यवस्था अपनायी गयी थी।

व्यापारी वर्ग में असन्तोष, क्षोभ और विद्रोह की भावनायें न जाग्रत हों। अतः कुशल प्रशासक मनु की व्यवस्था के अनुसार निष्पक्षभाव से कार्य करें तो व्यापारी और प्रजावर्ग को किसी प्रकार की भी हानि न होगी। प्रायः देखा जाता है कि शासक अधिक 'कर' लगाकर, शासनाधिकारी अपने लिये उत्पादन कर्ताओं और व्यापारियों से एक मुस्त अत्यधिक धनराशि ले लेते हैं तभी ऐसे समय से निर्भय होकर व्यापारी वस्तुओं का मनमाना भाव लगाकर शोषण करते हैं। इस प्रकार के शोषण के शिकार अधिकारी नहीं होते। अतः इस प्रकार की सभी समस्याओं का ध्यान रखते हुये हमारे प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्थापक मनु ने अर्थ लाभ के सभी पक्षों पर दृष्टि रखते हुये न जनता को, न व्यापारियों को और न उत्पादकों को अप्रसन्न होने दिया है। आर्थिक व्यवस्थापक मनु ने व्यापारियों से मिलकर उनकी कठिनाइयों एवं प्रजा वर्ग की क्रयशक्ति और वस्तुओं के वास्तविक मूल्य का विवरण हिसाब किताब लगाकर मूल्य निर्धारित कर विक्रय करने की व्यवस्था दी है।

"पांच-पांच दिन के पश्चात् या पन्द्रह दिनों के पश्चात् व्यापारियों के समक्ष राजा बिक्री के सामान का (अर्थसंस्थापन) मूल्य निर्धारण करता रहे।"[१]

इस वस्तु मूल्य निर्धारण की समस्या का इस पूर्ववर्णित उद्धरण से ऐसा प्रतीत होता है कि राजा, प्रजा और व्यापारी वर्ग का अहित नहीं चाहता था और पांच दिन एवं पन्द्रह दिन में उत्पादन एवं सामान को खपत की दृष्टिमें रखते हुये वस्तुओं का मूल्य निर्धारण करता रहता था। ऐसा करने से व्यापारी वर्ग मनमाना मूल्य प्राप्त नहीं कर सकता था और प्रजा वर्ग मुनाफाखोरी ऐसी बीमारी एवं जीवनोपयोगी सामग्री का अभाव भी अनुभव नहीं करता। अच्छे शासक के कुशल अर्थशास्त्री एवं अनुभवी प्रशासक होने के यही सबल प्रमाण हैं।

राज्य की कुछ प्रख्यात वस्तुओं के विक्रय करने का निषेध :—

अर्थ को जीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है किन्तु राष्ट्र की रक्षा के समक्ष व्यक्ति का जीवन और अर्थ नगण्य माना जाता है। अपने राष्ट्र के अभ्युत्थान के लिये मनुष्य बड़े से बड़ा कष्ट हँसते-हँसते सहन करने को तय्यार रहता है। व्यक्ति की स्वार्थमयी भावनायें ही उसे बुरा से बुरा कार्य करा देती हैं।

---

१. पंचरात्रे पंचरात्रे पक्षे पक्षेऽथवा गते।
कुर्वीत चैषा प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः॥ मनु ८।४०२

अपने राष्ट्र तक का व्यक्ति अनिष्ट करने को उद्यत हो जाता है। राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रीय चरित्र और राष्ट्रीयकरण के लिये स्वार्थ सबसे बड़ा शत्रु है। अतः प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने राष्ट्रीय कल्याण को दृष्टि में रखते हुये राष्ट्र में उत्पन्न होने वाली कुछ चीजों को अन्य देशों में भेजने पर प्रतिबन्ध लगाये हुये थे। इस प्रकार की आज्ञाओं का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को राज्य की ओर से दण्ड देने एवं उसकी समस्त सम्पत्ति को अपहरण करने तक के नियम बनाये हुये थे। जैसे मनु ने व्यवस्था दी है :—

"राजा जिन प्रख्यात वस्तुओं को निर्यात के लिये निषेध कर चुका हो उन वस्तुओं को यदि कोई व्यापारी लोभवश निर्यात करता है तो राजा को ऐसे व्यक्ति का सर्वस्व अपहरण कर लेना चाहिये।"[1]

इस प्रकार के प्रमाणों से राष्ट्र प्रेम, राष्ट्र की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने के अनेक प्रमाण मिलते हैं। जिन वस्तुओं से राष्ट्रीय आय वृद्धि हो यदि उन्हें ही दूसरे देशों को भेजा जायेगा पुनः उन्हें दूसरे देशों से मँगाने पर अधिक व्यय होगा और राष्ट्रीय आर्थिक विकास पर इसका अत्यन्त घातक प्रभाव पड़ेगा। अतः कठोर नियम द्वारा उसे परिपालित करने पर जोर दिया गया है और भविष्य में कोई व्यापारी ऐसा करने की स्वप्न में भी चेष्टा न कर सकेगा।

प्रजाजन उस देश में उपलब्ध प्रख्यात वस्तुओं का उपभोग कर सकें। अतः निर्यात करने पर इसलिये प्रतिबन्ध लगाये हुये थे। आर्थिक व्यवस्था को सुनियोजित पद्धति पर चलाना प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों का मुख्य कर्तव्य रहा है। प्रजाजन का आर्थिक जीवन उन्नत करना एवं राष्ट्रीय भावनाओं का उनमें उदय करना उनका प्रमुख ध्येय रहा है। यही कारण था कि प्राचीन समय में राष्ट्र की आर्थिक स्थिति अत्यन्त सुखमय थी। जनता अर्थ के विषय में चिन्तित और खाद्य सामग्री के विषय में दुखी न थी।

प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्थापक मनु ने अर्थव्यवस्था पर विवेचन करते हुये अर्थ की प्राप्ति के साधनों का विस्तृत रूप से वर्णन किया है। पुरुषार्थ चतुष्टय–धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में अर्थ को जगत व्यवहार को चलाने के लिये प्रमुख स्थान दिया है और अर्थ प्राप्ति का मुख्य साधन 'उद्योग' को माना है।

'वार्ता' को चारों विद्याओं में आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिये और राज्य की शक्ति को दृढ़ करने के लिये प्रथम स्थान दिया है। मनुष्य की

---

१. राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च।
तानि निर्हरतो लोभात्सर्वहारं हरेन्नृपः॥ मनु ८।३९९

जीवन रक्षा हेतु मूलभूत 'कृषि' की उन्नति के लिये 'पशु' को अर्थ प्राप्ति में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। अर्थ प्राप्ति के लिये ही मनुष्य उत्साही बन कठोर परिश्रम करता है और अपना आर्थिक स्तर उन्नत करने के लिये कठिन साहस द्वारा व्यापार करता है।

व्यक्ति अपनी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ बनाने के पश्चात् ही अपनी सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक स्थिति सुसंगठित करके संसार में प्रमुख शक्तियों में गिना जा सकता है।

अर्थव्यवस्थापक मनु ने राष्ट्र की आर्थिक उन्नति के लिये जिस प्रकार अनेक उपाय एवं अनेक साधन बताये हैं, वहाँ दूसरी ओर 'अर्थव्यवस्था' को सन्तुलित रखने के लिये मनुष्य के नैतिक स्तर को सुव्यवस्थित रखने के लिये भी उपदेश दिये हैं।

प्राचीन भारतीय स्मृति आदि ग्रन्थों में इस प्रकार हम मानव जीवन को उन्नत करने के लिये केवल एक पक्ष पर ही अधिक बल नहीं देते। जीवन में जगत के कल्याण के लिये और अपने सुख के लिये ही प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने धर्म, अर्थ, काम मोक्ष चारों पदार्थों को महत्त्व देकर जगत के समस्त सुखों का अनुभव कर व्यक्ति को परमतत्व मोक्ष की ओर लगाया है। इस प्रकार का समन्वयवादी उदाहरण संसार में अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता है।

संसार के सभी अर्थशास्त्री अर्थ के दास बनकर अर्थ संग्रह में ही व्यस्त रहते हैं, किन्तु प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों की पद्धति अर्थ को महत्त्व देते हुये जीवन के अन्य पक्षों पर भी समान रूप से चिन्तन करती दिखाई देती है। प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों ने अपनी रचनाओं में अपनी विस्तृत और उदार दृष्टि से मानव को जगत की समस्त प्रकार की अन्य ज्ञानराशि से भी परिचित कराया है। चारों पदार्थों को पाना भारतीयों का प्राचीन काल से ही उद्देश्य रहा है। एकपक्षीय अनुभव और ज्ञान रख करके अतृप्त, अशान्त एवं दुखी नहीं रहना चाहते थे। इसीलिये उनकी चिन्तन शैली पाश्चात्य-अर्थशास्त्रियों से सर्वथा भिन्न रही है और उनकी रचनाओं को पाश्चात्य विचारधारा के लोग 'अर्थशास्त्र' में सन्निहित नहीं करना चाहते, किन्तु तुलनात्मक और समन्वयवादी दृष्टि से शीतल मस्तिष्क से चिन्तन किया जाये तो प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों की उपयोगिता, प्रामाणिकता और वास्तविकता स्वतः दृष्टिगत हो जायेगी। आधुनिक युग के अध्येता ही इसका विवेचन कर सुन्दर निर्णय दे सकेंगे।

●

"अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्"
अतोऽर्थाय यतेतैव सर्वदा यत्नमास्थितः ॥
(शुक्रनीति ४ अध्याय १२८३ श्लोक)

[पुरुष अर्थ का दास है और अर्थ किसी का दास नहीं है। अतः प्रयत्न में तत्पर मनुष्य अर्थ के लिये अवश्य यत्न करे]

२

आचार्य शुक्र

द्वितीय अध्याय

आचार्य शुक्र

परिचय

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों में शुक्राचार्य का भी अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। आचार्य शुक्र को राक्षसों का गुरु माना गया है। ये नीतिशास्त्र के पारंगत विद्वान् थे। महाभारत के अध्ययन से यह अवगत होता है कि आचार्य शुक्र का नाम शान्तिपर्व में अनेक स्थानों पर आया है। इस प्रकार के प्रसंगों से यही विदित होता है कि शुक्र, आचार्य भीष्म पितामह के पूर्ववर्ती थे। आचार्य कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में 'शौनक' शुक्र का नाम लिया है। जिससे विदित होता है कि शुक्र नाम का कोई महान् आर्थिक विचारक भीष्म से पहले अवश्य हो चुका था। अतः महाभारत काल से पूर्व आचार्य शुक्र का समय निर्धारित किया जाता है। इस प्रकार शुक्रचार्यं का समय एवं उनकी शुक्रनीति का समय ईसा से पांच सौ वर्ष पूर्व मानना न्यायसंगत है।

वस्तुतः मानवीय जीवन में आचार व्यवहार का अत्यधिक महत्त्व है। आचार्य शुक्र के समय में आचार व्यवहार की शिक्षा देने वाले शास्त्र को नीतिशास्त्र के नाम से सम्बोधित किया जाता था। मनुष्य अपने जीवन का सुखपूर्वक निर्वाह नीतिशास्त्र की शिक्षा के द्वारा ही कर सकता है! दूसरों के साथ कैसे लोक व्यवहार निभाना चाहिए, इसकी शिक्षा भी नीतिशास्त्र ही देता है। सचमुच नीतिशास्त्र ही व्यक्ति को व्यवहारज्ञ बनाता है। देव, दानवों का युद्ध अति प्राचीनकाल में हुआ है। देव अपनी नीति कुशलता से विजयी हुये और राक्षस अपनी उन्मत्तावस्था के कारण पराजित हुए। दानवों को उनके गुरु शुक्राचार्य ने नीति का उपदेश दिया। नीतिशास्त्र मनुष्य को अच्छे मार्ग की ओर प्रवृत्त करता है और बुरे मार्ग से निवृत्त करता है। उसे वास्तविकता से परिचित कराता है।

आचार्य शुक्र ने तो इतना तक माना है कि इस शास्त्र के बिना जगत् का कोई भी कार्य चल ही नहीं सकता। जिस प्रकार मनुष्य का जीवन भोजन के बिना नहीं चल सकता, ठीक उसी प्रकार नीतिशास्त्र के बिना कोई कार्य नहीं चल सकता। नीति के बिना जीवन अधूरा और व्यवहार शून्य है।

कतिपय आधुनिक विद्वानों के शुक्रनीति में कुछ अंग्रेजी राज्य में प्रयुक्त होने वाले अस्त्र-शस्त्रों के नामों से ऐसा अनुमान लगाया है कि यह 'शुक्र-नीति' बहुत बाद की रचना है। ऐसा भी तो हो सकता कि है शुक्र के वर्णित नामों को अंग्रेजों ने ही अपना लिया हो। शुक्र अंग्रेजों से पूर्व का आर्थिक विचारक है देव, दानव युद्धकला में कम ज्ञान नहीं रखते थे। इन आधारों पर ही कुछ विद्वानों ने शुक्राचार्य को बहुत बाद का माना है। यह भी हो सकता है कि आचार्य की मूल शुक्रनीति में उसी भाषा एवं भावों से मिलते हुए श्लोक उनके अनुयायियों ने बाद में जोड़ दिए हों, किंतु शुक्रनीति को बहुत बाद की रचना मानने से महाभारत शान्तिपर्व में वर्णित शुक्राचार्य कोई अन्य ही नीतिकार एवं अर्थशास्त्र का ज्ञाता माना जायेगा। इस प्रकार की दो विरोधात्मक विचारधाराओं से उस प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक की प्राचीनता पर एक बहुत बड़ा आक्षेप कुछ विद्वानों ने लगाया है।

शुक्राचार्य का नाम महाभारत और विशेषकर शान्तिपर्व में अत्यधिक आता है। यहाँ तक कि शान्तिपर्व में भीष्म पितामह ने भी उनका नाम लिया है। महाभारत के उद्धरणों से अवगत होता है कि यह सब भ्रमात्मक है। जैसा कि:—

"हे नरेश्वर! इस विषय में दो श्लोक प्रसिद्ध हैं, जिन्हें पूर्वकाल में महर्षि शुक्राचार्य ने गाया था। महाराज! तुम एकाग्रचित्त होकर उन दोनों श्लोकों को सुनो।"[1]

शुक्राचार्य को दैत्यों का गुरु और बृहस्पति को देवताओं का गुरु माना गया है एवं इन दोनों को नीतिशास्त्र का पारंगत विद्वान् मानकर उनके द्वारा प्रतिपादित ज्ञान को आचार्य भीष्म पितामह ने प्राप्त किया है। ऐसा महाभारत के शान्तिपर्व में वर्णन किया गया है:—

"जिस शास्त्र को शुक्राचार्य जानते हैं एवं देवताओं के गुरु बृहस्पति जानते हैं, उस सम्पूर्ण शास्त्र को कुरुओं में श्रेष्ठ भीष्म पितामह ने व्याख्या सहित प्राप्त किया है।"[2]

---

१. श्लोको चोशनसा गीतौ पुरा तात महर्षिणा।
तौ निबोध महाराज त्वमेकाग्रमना नृप॥
(महाभारत शान्तिपर्व ५५ अध्याय २८ श्लोक)

२. उशना वेद यच्छास्त्रं यज्ज देवगुरुर्द्विजः।
तच्च सर्वं सवैयाख्यं प्राप्तवान् कुरुसत्तमः॥
(महाभारत शान्तिपर्व ३७ अध्याय १० श्लोक)

आचार्य शुक्र के विषय में कुछ भी हो किन्तु उसकी मान्यता और शुक्रनीति की प्रामाणिकता को तो अस्वीकृत नहीं किया जा सकता किंतु कुछ आलोचकों के पूर्वाग्रह एवं प्राचीन भारतीयों का 'सैन्यशास्त्र' का ज्ञान न होना बताता देखकर यह कहा जा सकता है कि शुक्रनीति में कुछ समय के बाद किसी नीतिशास्त्र के विद्वान् ने इस प्रकार के शब्दों को शुक्र की प्रसिद्ध नीति में जोड़ दिया हो। किन्तु ऐसा अनुमान लगाना यह सिद्ध करता है कि प्राचीन भारतीय सैन्य विद्या में अनभिज्ञ थे। देव दानव संग्राम, महाभारत का विनाशकारी युद्ध और उन युद्धों में प्रयुक्त होने वाले अस्त्र-शस्त्र एवं युद्धों में प्रयुक्त होने वाली सामग्री क्या उस युग में नहीं थी ? बहुत बाद में प्रयोग करने वाले पाश्चात्य, प्राचीन भारतीय विचारकों की आविष्कृत वस्तुओं को क्या नहीं अपना सकते ? ऐसा भी हो सकता है किन्तु शुक्राचार्य और उसकी शुक्रनीति को बहुत बाद की रचना कहना तो अंग्रेजी लेखकों की भाँति भारतीय वाङ्मय, की तिथियों की कल्पना के आधार पर मनमाने रूप में मानना है।

यह तो पाश्चात्य विचारधारा की देन हैं कि हम लोग जितनी चीजों को प्रत्यक्ष रूपमें देख रहे हैं उन्हें ही सत्य मानते हैं किन्तु वर्तमान में जिन चीजों का आविष्कार आज दिख रहा है उसमे जो स्वरूप है वह प्राचीन का है और जो सुधार हुआ है वह आधुनिक है। अंग्रेजी राज्य की ही आविष्कृत चीजों को शुक्रनीति में खोजना तो अंग्रेजी राज्य से उसकी समता करना है। अंग्रेजी लेखकों ने प्राचीन भारतीय साहित्य को गम्भीरतापूर्वक मनन किया है ऐसी स्थिति में क्या शुक्रनीति का उन पर प्रभाव नहीं पड़ा होगा ? न जाने उन्होंने ही शुक्रनीति से उन शब्दों को ग्रहण किया हो।

कुछ विद्वानों ने शुक्राचार्य को १८–१९ वीं शताब्दी का माना है। उन विद्वानों की धारणा केवल कुछ अंग्रेजी शासन काल में वर्णित शब्दों के कारण ही ऐसी बनी है। जिस शुक्राचार्य एवं शुक्रनीतिका वर्णन महाभारत में हुआ है, अन्ततोगत्वा वह शुक्राचार्य कौन था ? उसकी वह रचना कहा गई। शुक्रको राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र एवं अर्थशास्त्र का पारंगत विद्वान् माना गया है।

यदि यह शुक्रनीति १९ वीं शताब्दी की रचना होती तो इसमें अंग्रेजी राज्य की भारतीय आर्थिक नीति सम्बन्धी परिवर्तनों का वर्णन अवश्य आता। शुक्राचार्य तो एक विचारक था उसे किसी राजा अथवा राज्य से किसी प्रकार का भय तो नहीं था या किसी से कुछ पक्षपात तो नहीं था।

यह स्वीकार किया जा सकता है कि शुक्रनीति में इस प्रकार के कुछ श्लोकों को बाद में किसी विद्वान् ने अपनी रची हुई पुस्तक को शुक्राचार्य की प्रसिद्धि, विद्वत्ता और नीतिशास्त्र की रचना देखकर जोड़ दिया हो किन्तु शुक्राचार्य १९ वीं शताब्दी में हुये मानना महाभारत के शान्तिपर्व को चुनौती देना है या उन श्लोकों को जानबुझकर आँखों से ओझल करना है। प्राचीन भारतीय परम्पराओं का ध्यान रखते हुये हमें कुछ वास्तविक तथ्यों के आधारपर तिथि निर्धारण करना होगा। नवीन शोधतथ्यों को अंग्रेजी लेखकों के आधार पर प्रभाव मानना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। भारत के स्वतन्त्र होने के पश्चात् शोध कर्ताओं को भारतीय दृष्टि कोण के अनुरूप स्वतन्त्र तथ्यपूर्ण शोध कनेर की परम्परायें आनी चाहिये।

इस प्रकार की भारतीय शोध पद्धति से प्राचीन भारतीय विचारकों की चिन्तन की वास्तविकता शोधपूर्ण तथ्यों से प्रकाश में आयेगी।

नीति का महत्त्व :—

जगत के व्यवहार को चलाने के लिये मनुष्य को नीति का ज्ञान होना परमावश्यक है। आचार्य शुक्र ने मनुष्य को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति में नीति को सहायक माना है। नीति के द्वारा ही मनुष्य कुशल व्यवहारज्ञ और मर्यादित जीवन व्यतीत करने वाला होता है। नीति का ज्ञाता व्यक्ति अपनी सुख सुविधाओं के समक्ष दूसरों के सुख-दुखों का भी ध्यान रखता है। जैसा कि आचार्य शुक्रका विचार है :—

"समस्त जगत का उपकार करने वाला एवं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल ही यह नीतिशास्त्र माना गया है।"[1]

भारतीय चिन्तन प्रक्रिया में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को बड़ी आदर की दृष्टि से देखा गया है। इन चारों पदार्थों को एक दूसरे का पूरक माना गया है। यदि मानवीय जीवन में अर्थ का महत्त्व पूर्ण स्थान है तो धर्म और काम का भी उनसे कम महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है एवं भारतीय दृष्टि से मोक्षको तो जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है। वस्तुतः नीतिशास्त्र मानव को सत्य की ओर अग्रसरित करता है और असत्य से सावधान करता है। भारतीय नीतिशास्त्र कारों ने जीवन की वास्तविकता को जानने एवं जगत के व्यवहार

१. सर्वोपजीवकं लोकस्थिति कृन्नीति शास्त्रकम्।
धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः॥ शुक्रनीति १ अध्याय ५ श्लोक

को चलाने के लिये नीति के ज्ञान को उपादेय माना है। इसीलिये नीतिकारों ने नीति वाक्यों के द्वारा नीति का महत्त्व बताते हुये मानव को व्यवहार कुशल बनाने का प्रयत्न किया है और प्राचीन भारतीय वाङ्मय में नीतिशास्त्र का अधिक व ः हुआ है।

नीति निर्धारण के बिना शासक का प्रशासन सुचारु रूप से नहीं चल सकता। सही रूपसे नीतिका निर्धारण होने से आर्थिक स्थिति में बाधा नहीं आती और जनता अनुद्योगी नही होती। नीतिज्ञ व्यक्ति अपनी सुदृढ़ नीति से अपने कार्यों में शक्ति हीन होने पर भी सफलता और आर्थिक लाभ प्राप्त करता है। जैसे आचार्य शुक्र का मत हैं। :—

बुद्धिसम्पन्न (नीतिज्ञ) व्यक्ति का अत्यल्प अर्थ भी वृद्धि को प्राप्त होता है। तिर्यंच (रेंधनेवाले सर्प आदि) योनि के और शक्तिवाले नीति के बलरूपी धन से वश में आ जाते हैं।[1]

इस प्रकार के उद्धरणों से अवगत होता है कि नीतिज्ञ व्यक्ति शक्तिहीन, अर्थहीन होने पर भी अपने नीति के बल से सब कुछ प्राप्त कर लेते हैं।

नीति को सभी का मूल कारण माना गया है—नीति शास्त्र का अध्ययन मनुष्य में सद्‌गुणों का उदय करता है और वह उसकी प्राप्ति से विवेकी बनता है। नीति के माध्यम से ही मानव में विनम्रता और प्रमादी इन्द्रियों को जीतने की शक्ति आती है। नीतिशास्त्र के ज्ञाता आचार्य शुक्र ने इस तथ्य को इस प्रकार प्रमाणित किया है :—

"नीति का मूल आधार विनय है और विनय की प्राप्ति शास्त्र के निश्चय से ही होती हैं और विनय का आधारभूत कारण इन्द्रियों का जीतना है एवं इन्द्रियों की चंचलता को जीतने से ही शास्त्र की प्राप्ति होती है।"[2]

उपभोग की वास्तविक प्रक्रिया—प्राचीन भारतीय नीतिकारों ने सांसारिक वस्तुओं का युक्ति संगत रूप से उपभोग करना जीवन की बृद्धि में लाभप्रद और आनन्ददायक माना है किन्तु जब उपभोग में अति एवं विवेक शून्यता आ

---

१. नित्यवृद्धिमतोप्यर्थः स्वल्पकोपि विवर्धते।
तिर्यञ्चोपि वशं यान्ति शौर्य नीति बलैर्धनैः॥ शुक्र १।२८

२. नयस्य विनयो मूलं विनयः शास्त्र निश्चयात्।
विनयस्येन्द्रियजयस्तद्युक्तः शास्त्रमृच्छति॥ शुक्र १।९१

जाती है ऐसी स्थिति में मनुष्य का जीवन अनर्थ करने वाला हो जाता है। नीतिकार आचार्य शुक्र ने युक्ति पूर्वक उपभोग को उचित माना हैं। जैसे :—

"द्यूत, स्त्री, मदिरा ये तीनों अत्यन्त अनर्थ के कारण है किन्तु इनका उपभोग युक्तिपूर्वक हो तो ये अर्थ, पुत्र और बुद्धि के दाता है।"[1]

अर्थ का जीवन में महत्त्व—जगत के व्यवहार को चलाने के लिये, जीवन को यापन करने के लिये और यथार्थता जानने के लिये अर्थ ही एक आवश्यक साधन माना गया है। अर्थ की प्राप्ति में मूल कारण नीति का ज्ञान माना गया हैं क्योंकि न्याय में प्रवृत्त शासक या व्यक्ति ही सही मार्ग का अनुसरण करता है और अपने ही समान दूसरों को समझता है, जैसे शुक्राचार्य ने अपनी शुक्रनीति में लिखा है :—

"न्याय में प्रवृत्त नृपति अपनी और प्रजावर्ग की धर्म, अर्थ एवं काम में एक सो धारणा करता है। यदि न्याय से रहित होता है तो 'त्रिवर्ग'[2] को नष्ट करने वाला होता हैं।"[3]

इह लौकिक अर्थात् सांसारिक सुख की प्राप्ति में त्रिवर्ग को मुख्य माना गया है और पारलौकिक सुख की प्राप्ति में मोक्ष को प्रधान माना मया है। अतः मानवीय जीवन में अर्थ का महत्त्व आचार्य शुक्र ने भी स्वीकृत किया है और पुरुष को अर्थ का दास कहा है किन्तु अर्थ को किसी का दास नहीं माना। इस संसार में जिस अर्थ का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है उस अर्थ का सुख चाहनेवाले मनुष्य को अच्छे मार्गों से उपार्जन करना चाहिये। जैसा कि शुक्र ने कहा है—

'यह मनुष्य अर्थ का दास है और अर्थ किसी का भी दास नही है, अतः अर्थ चाहनेवाले व्यक्ति को सर्वदा यत्न करना चाहिये।'[4]

संसार में सभी वस्तुओं की प्राप्ति का मुख्य कारण अर्थ को ही माना गया

---

१. द्युतं स्त्रीमद्यमेवैतत्रितयं वह्वनर्थकृत्।
अयुक्तं युक्तियुक्तं हि धनपुत्रमति प्रदम्॥ शुक्र १।१०८

२. धर्म अर्थ और काम

३. न्यायप्रवृत्तो नृपतिरात्मानमथ च प्रजाः।
त्रिवर्गेणोप संधत्ते निहन्ति ध्रुवमन्यथा॥ शुक्र १।६७

४. अर्थस्यपुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
अतोर्थाय यते तैव सर्वदा यत्न मास्थितः॥ शुक्र ४।१२८३

गया है। अर्थ के विना किसी प्रकार का कोई भी कार्य प्रारम्भ नहीं किया जा सकता है और जगत में एक पग भी मनुष्य नहीं चल सकता है। यथा—

'अर्थ से ही धर्म, काम, और मोक्ष ये तीनों मनुष्य को प्राप्त होते हैं।'[1]

अर्थहीन व्यक्ति को गुणी होने पर भी उसके प्रियजन और निकटतम व्यक्ति भी सार हीन समझकर छोड़ देते हैं जैसे : —

'निर्धन व्यक्ति गुणवान् होने पर भी स्त्री पुत्र आदि के द्वारा त्याग दिया जाता है अतः संसार के व्यवहार को चलाने के लिये अर्थ को ही एक मात्र सार माना गया है।'[2]

अर्थशास्त्र किसे कहते हैं—जगत के व्यवहार को चलाने, जीवन को यापन करने के उपायों को बतानेवाले एवं व्यवहार शास्त्र का ज्ञान कराने वाले शास्त्र को अर्थशास्त्र के नाम से सम्बोन्धित किया गया है। वैसे आचार्य शुक्र ने भी अर्थशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार व्यक्त की है—

'श्रुति, स्मृति के अनुकूल राजा और शासन के वृतान्त की जिसमें शिक्षा हो एवं युक्ति पूर्वक अर्थ संचय करने का वर्णन हो वह 'अर्थशास्त्र' कहलाता है।'[3]

अर्थ और अर्थशास्त्र का जगत के व्यवहार के लिये कितना महत्त्व है। इसे प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने स्वीकार करते हुये अर्थ का प्राचीन भारतीय पुरुषार्थ चतुष्टय से सम्बन्ध जोड़कर अपना एक वास्तविक दृष्टिकोण दिया है। प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों के इन विचारों से अधिक लोग प्रभावित हुये हैं। आज यन्त्र की तरह रात दिन पैसा एकत्र करने में लगे हुये अमेरिका के महान् अर्थशास्त्री भी स्वीकार करने लगे हैं कि अर्थ बिना अन्य तीन पदार्थों के अधूरा है चाहे वह सभी शारीरिक सुख उपलब्ध करा दे किन्तु आत्मिक शान्ति वह इस युग में नहीं दिला सकता है। प्राचीन भारतीय अर्थ सम्बन्धी दृष्टिकोण—अमेरिका विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री 'शुमपीटर' ने अपनी एक भेंट में भारत के प्रसिद्ध गांधीवादी डाक्टर श्रीमन्नारायण महोदय से इस प्रकार कहा था :—

---

१. अर्थाद्धर्मश्च कामश्च मोक्षश्चापि भवेन्नृणाम् ॥ शुक्र ४।१२८४

२. निर्धनस्त्यज्यते भार्या पुत्राद्यैः सगुणोप्यतः ।
संसृतौ व्यवहाराय सारभूतं धनं स्मृतम् ॥ शुक्र ३।१७६

३. श्रुति स्मृत्यविरोधेन राजवृतं हि शासनं ।
सुयुक्त्यार्थार्जनं यत्र-अर्थशास्त्रं तदुच्यते ॥ शुक्र ४।२९६

"अपने देशवासियों से कहियेगा कि ईश्वर के नाम पर वे हमारी नकल न करें। अमरीका आज संसार का सबसे धनी राष्ट्र है। उसके पास सभी भौतिक साधन-सामग्री उपलब्ध हैं। लेकिन उसमें आध्यात्म-शक्ति नहीं है। भारत ही एक ऐसा देश है जो आर्थिक और आध्यात्मिक मूल्यों से समन्वित हमें एक नवीन जीवन-दृष्टि प्रदान कर सकता है। यदि वह भी पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण में लग गया तो फिर हम मार्ग-दर्शन के लिये किसकी ओर निहारेंगे ? फिर तो दुनिया में निराश का अन्धकार छा जायगा।"

विद्या का महत्त्व—विद्या को मानवीय जीवन के अज्ञान अंधकार को दूर करने वाला माना गया है। प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने विद्या के माध्यम से व्यक्ति को बुरे से भला बनने पर अधिक बल दिया है। जैसा उप-निषद् में आया है :—

"जो मानव उन दोनों विद्या (ज्ञान) को और अविद्या (अज्ञान) को एक साथ जानता है वह अविद्या रूपी मृत्यु को पार करके विद्या से अमृत का आस्वादन प्राप्त कर लेता है।"[1]

आचार्य शुक्र ने विद्या का लक्षण इस प्रकार बताया है :—

जो-जो वाणी का विषय है उसी को विद्या कहते हैं।[2]

वैसे तो विद्यायें अनन्त हैं किन्तु मुख्य रूप से बत्तीस मानी गई हैं और उनमें भी मुख्य चार मानी गयी हैं।

इस प्रकार विद्या का महत्त्व अत्यधिक माना जाता था। विद्या विहीन व्यक्ति पशु के समान माना गया है। अतः विद्या के इस प्रकार चार रूप माने गये हैं। जिन्हें आचार्य शुक्र ने भी इस प्रकार माना है :—

१—आन्वीक्षिकी २—त्रयी ३—वार्ता ३—दण्डनीति इन चारों विद्याओं का सदा नृपति को अध्ययन करना चाहिये।[3]

---

१. विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभय सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥
ईशावास्योपनिषद् ११ मन्त्र।

२. यद्यत्स्याद्वाचिकं सम्यक्कर्म विद्याभि संज्ञकम् ॥ शुक्र ४।२६४

३. आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती।
विद्याश्चतस्र एवैता अभ्यसेन्नृपतिः सदा ॥ शुक्र १।१५१

इन चारों विद्याओं का ज्ञान रखने वाले व्यक्ति अथवा शासक को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। ये चारों विद्यायें लौकिक और पारलौकिक दोनों का मार्ग बताती हैं। मानव इन चारों के ज्ञान से क्या-क्या सीखता है।

१. आन्वीक्षिकी :—न्यायशास्त्र और वेदान्त का ज्ञान आन्वीक्षिकी से होता है।[1]

आन्वीक्षिकी विद्या आत्मा के ज्ञान से आनन्द और शोक को नष्ट करती है।

२. त्रयी :—तीन वेदों के ज्ञान को वेद त्रयी (१—ऋग्वेद २—यजुर्वेद ३—साम) कहते हैं। त्रयी में धर्म, अधर्म, काम, अकाम का प्रतिपादन है।[2]

आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और तन्त्र ये चार 'उपवेद' हैं।

त्रयी में वेद के ६ अंग माने गये हैं। १—शिक्षा २—कल्प ३—व्याकरण ४—निरुक्त ५—ज्योतिष ६—छन्द। चारों वेद, मीमांसा, न्यायशास्त्र, धर्मशास्त्र, पुराण के विस्तार आदि इन सभी को त्रयी' कहते हैं।[3]

३. वार्ता :—अर्थ और अनर्थ का ज्ञान वार्ता के द्वारा होता है।[4]

४. दण्डनीति :—न्याय और अन्याय का ज्ञान दण्डनीति देती है।[5]

आचार्य शुक्र ने तो सामाजिक, सुरक्षा आर्थिक व्यवस्था वर्ण और आश्रम आदि को इन चारों विद्याओं में सन्निहित माना है।[6] विद्या का महत्त्व वर्णन करते हुये पूर्व वर्णित विद्याओं को ही सभी का मूल कारण माना है।

आर्थिक विकास में वार्ता का स्थान :—आचार्य शुक्र ने भी 'वार्ता' का अर्थशास्त्र में महत्त्व वर्णन करते हुये अर्थ प्राप्ति का 'वार्ता' को ही मूल कारण माना है। इस वार्ता के माध्यम से ही सर्वत्र अर्थ का आगमन होने लगता है। अतः आर्थिक विकास में वार्ता का महत्त्वपूर्ण स्थान निर्धारण किया गया है। वार्ता से सम्पन्न व्यक्ति कभी भी किसी प्रकार का भय अनुभव नहीं करता। जिसकी आर्थिक स्थिति अच्छी होती है वह संसार में सदा से कठिन से कठिन समस्या को सुगमता से हल कर लेता है और उसे सभी शक्तिशाली समझकर उससे

---

१. आन्वीक्षिक्यां तर्कशास्त्रं वेदान्ताद्यं प्रतितिष्ठम्

२. त्रय्यां धर्मोह्यधर्मश्च कामेऽकामः प्रतिष्ठितः॥ शुक्र १।१५२

३. अंगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रपुराणानि त्रयीदं सर्वमुच्यते॥ शुक्र १।१५४

४. अर्थानर्थौ तु वार्तायां ५—दण्डनीत्यां नयानयौ॥ शुक्र १।१५३

६. वर्णाः सर्वाश्रमाश्चैव विद्यास्वासु प्रतिष्ठिताः॥ शुक्र १।१५३

मित्रता चाहते हैं एवं उसके समक्ष नतमस्तक हो जाते हैं। 'वार्ता' शब्द का प्रयोग करते ही प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों की विचारधारा के अनुसार निम्नलिखित सभी चीजें एक साथ अपने चमत्कार को दिखाकर आर्थिक विकास की पोषक बन जाती हैं : इस वार्ता के कारण ही अनेक स्रोतों से अर्थ प्राप्त होने लगता है। यदि 'वार्ता' को अर्थ का उद्गम स्थान या मूल कहा जाये तो अनुचित नहीं होगा।

आधुनिक युग के अर्थशास्त्र में मुद्रा बैंकिंग, बैंकर, कृषि, वाणिज्य, पशु-संरक्षण, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, आदि अनेक नाम देकर कई भेद प्रभेदों का वर्णन आता है और इस प्रकार की व्यापार पद्धति का प्रतिपादन करने वाले एवं लगायी गई पूँजी से अधिक लाभ बताने वाले शास्त्र को अर्थशास्त्र नाम दिया जाता है क्योंकि वह अर्थ प्राप्ति के उपायों का समुचित रूप के विवेचन करता है।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने हजारों वर्ष पूर्व अपने रचनात्मक प्रयोगों द्वारा उस युग की आवश्यकताओं के अनुरूप एवं उपलब्ध साधनों के माध्यम से वार्ता में वर्णित वस्तुओं को अर्थ प्राप्ति का साधन माना है और अर्थ-प्राप्त करने वाले साधनों को 'वार्ता' नाम से सम्बोधित किया है। अतः प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र में 'वार्ता' का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है।

चतुर्वर्ग का प्राचीन भारतीय अर्थ व्यवस्था में महत्त्व :—भारतीयों की अर्थ के प्रति अपनी एक विचित्र चिन्तन प्रक्रिया है। आचार्य शुक्र ने यद्यपि यहाँ तक कहा है कि "पुरुष अर्थ का दास है"[1] और अर्थ का जीवन में महत्त्व-पूर्ण स्थान है किन्तु उसके साथ ही साथ यह भी माना है कि बिना दूसरों के शोषण किये या दूसरों का धन अपहरण किये बिना कोई धनवान् नहीं बन सकता है।[2] ऐसी स्थिति में चतुर्वर्ग के प्रति आचार्य शुक्र का दृष्टिकोण व्यक्त करना भी आवश्यक हो जाता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पदार्थों की प्राप्ति ही प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों का दृष्टिकोण रहा है। केवल एक पदार्थ की प्राप्ति मात्र से जीवन सफल नहीं हो जायेगा। जैसे—शुक्र का। विचार है :—

"धर्म के बिना मनुष्य को सुख नहीं मिलता, अतः मनुष्य धर्म में तत्पर रहे

१. अर्थस्य पुरुषो दासो। शुक्र ४।१२८३
२. विना परस्वहरणान्न कश्चिस्यान्महाधनः। शुक्र ४।१२७८

जिसमें त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम न हो इस प्रकार के कार्य को कभी प्रारम्भ न करे, और उसके अनुकूल ही कार्य करे न कि विरोध से।"[१]

सदा प्रत्येक पग पर सभी धर्मों का आचरण करे।[२]

धर्म और अर्थ दोनों को जगत के व्यवहार में अच्छा माना है। यदि दोनों में किसी एक को छोड़कर कार्य किया जाता है तो वह सुख और शान्ति को देने वाला नहीं होता है। जैसा कि आचार्य शुक्र ने स्पष्ट कहा है :—

जिस कार्य में धर्म और अर्थ नहीं हैं वह कार्य निरर्थक है।[३]

अतः यह मानना ही पड़ेगा कि केवल एक पदार्थ मात्र से जीवन सुखमय और सफल नहीं हो सकता। चारों पदार्थों का समान रूप से उपभोग करने के पश्चात् ही जीवन का वास्तविक लाभ हो सकता है। इसीलिये अर्थ के प्रति प्राचीन भारतीयों का अपना विचित्र एवं तथ्यपूर्ण दृष्टिकोण रहा है और उन्होंने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को जीवन का मूल मंत्र माना है। इनकी प्राप्ति के पश्चात् ही जीवन मुक्त हो जाता है।

वार्ता किसे कहते हैं :—आचार्य शुक्र ने 'मनु' के समान 'वार्ता' को माना है। अन्य प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने 'कुसीद' शब्द का प्रयोग नहीं किया हैं। अन्य शेष वस्तुयें सभी ने एक समान मानी हैं। 'मनु' और 'शुक्र' के युग में ऐसा प्रतीत होता है कि समाज की आर्थिक स्थिति अत्यन्त सम्वृद्ध थी। लोगों के पास अर्थ प्रचुर मात्रा में था और उद्योग धंधे अपनी उन्नति की चरम सीमा पर थे। परस्पर उद्योगपति उद्योग धंधों के संचालन के लिये धन कुसीद व्याज पर लेते देते थे। अपने जीवन की रक्षा के लिये तो अत्यन्त दरिद्र व्यक्ति ही उधार धन लेता है। बड़े स्तर पर औद्योगिक कार्यों की स्थापना और सामाजिकों को जीविका देने के लिये ही उद्योगपति ऋण लेता है या सांझेदारी अथवा अनेक सहयोगियों का सहयोग चाहता है। छोटी-मोटी पूँजी को 'कुसीद' में नहीं गिना जा सकता है। अधिक मात्रा में किसी महान् उद्योग प्रतिष्ठान की संस्थापना के लिये लिया जाने वाला धन ऋण के रूप में लिया जाना अच्छा माना जायेगा। इससे दोनों ही व्यक्तियों को लाभ की आशा होती है और तभी वे

---

१. सुखं च न विना धर्मात्तस्माद्धर्म परोभवेत्।
त्रिवर्ग शून्यं नारम्भं भजेत्तं चाविरोधयन् ॥ शुक्र ३।२

२. अनुयायात्प्रतिपदं सर्व धर्मेषु मध्यमः। शुक्र ३।३

३. धर्मार्थौ यत्र न स्यातां तद्वाकामं निरर्थकम्। शुक्र ४।१२८२

ऋण लेते और देते हैं। इसी ध्येय को दृष्टि में रखते हुये 'मनु' और 'शुक्र' ने 'कुसीद' शब्द का प्रयोग किया है। **'वार्ता'** की परिभाषा आचार्य शुक्र ने इस प्रकार की है :—

"सूद लेना, कृषि वाणिज्य और गोरक्षा करना इन्हें ही 'वार्ता' कहते हैं। वार्ता से सम्पन्न व्यक्ति अच्छी वृत्ति और भय को प्राप्त नहीं होते।"[1]

भूमि को कृषि के लिए मुख्य माना गया है और सब धनों की खान (उत्पत्ति स्थान) माना गया है।[2]

कृषि का स्थान मानवीय जीवन की सुरक्षा के लिए अत्यावश्यक माना गया है। कृषि से अर्थ प्राप्त करने में यदि मनुष्य का सबसे मुख्य हाथ है तो पशु का उसमें कम योगदान नहीं है। दोनों के सहयोग से ही पृथ्वी धन, धान्य देती है। उनसे उत्पादित वस्तुओं के माध्यम से ही व्यापार किया जाता है। मनुष्य ने अपने उपभोग से या अपनी आवश्यकता की पूर्ति के पश्चात् बची हुयी सामग्री को दान के रूप में दूसरों को दिया है। दान की भावनाओं का जन्म भी तभी होता है जब मनुष्य को अत्यधिक ज्ञान हो जाए और उसकी आध्यात्मिक पक्ष की ओर रुचि हो जाये एवं उसके पास यदि प्रचुर मात्रा में अर्थ होगा। आर्थिक विकास होने के पश्चात् मनुष्य अर्थ के संग्रह करने की धुन में लगकर अर्थ का दास बनने लगता है ऐसी स्थिति में एकमात्र व्यापार के माध्यम से ही वह आर्थिक उन्नति करता है। अर्थ के विकास होने पर या मनुष्य के पास जब प्रचुर मात्रा में अर्थ हो जाता है ऐसी दशा में मानवीय जीवन को और अधिक सुखमय बनाने के लिए औद्योगिक कार्यों द्वारा मनुष्य आवश्यकता की वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाकर कार्य करता है और उत्पादित वस्तुओं के द्वारा या उस समय में प्रचलित मुद्रा के माध्यम से दूसरों को ऋण देकर व्याज के रूप में भी अर्थ की वृद्धि करता है।

इस प्रकार 'वार्ता' शब्द में अर्थशास्त्र और अर्थ की उत्पत्ति के समस्त साधन छिपे हुये हैं। प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने अर्थ प्राप्ति के साधनों को बताकर आर्थिक विकास के लिए मनुष्य को मार्ग दिखाया है और संसार को अपने सच्चे अर्थशास्त्री होने का प्रमाण दिया है। वार्ता शब्द में ही आर्थिक विकास का इतना रहस्य छिपा हुआ है।

---

१. कुसीद कृषि वाणिज्यं गोरक्षा वार्तयोच्यते।
सम्पन्नोवार्तया साधुर्न वृतेर्भयमृच्छति॥ शुक्र १।१५५

२. खनिः सर्वधनस्येयं। शुक्र १।१७८

उपभोग का स्वरूप :—वस्तुतः यदि उत्पादित वस्तु का मानव उपभोग न करे तो वस्तु का महत्त्व ही नहीं रह जायेगा और पुनः उत्पादन की गति अवरुद्ध हो जायेगी। वस्तु का उचित प्रयोग ही सच्चा उपभोग माना जाता है। जीवन को रक्षा के लिए ही मनुष्य धन का उपभोग करता है। जिस उपभोग से जीवन की रक्षा न हो सके और हानि हो, उसे वास्तविक रूप से उपभोग नहीं अपितु अनुचित प्रयोग या अर्थव्यय कहा जायेगा। आचार्य शुक्र ने उपभोग की परिभाषा इस प्रकार दी है :—

'जिस धन से जीवित लोगों की रक्षा हो सके उसे ही उपभोग कहते हैं।'[1]

आचार्य शुक्र ने उपभोग की व्याख्या इस प्रकार भी की है :—

"धन, अन्न, वस्त्र, घर, उद्यान, हाथी, रथ, विद्या, राज्य और अर्थ की प्राप्ति के लिये जो व्यय हो, रक्षा करने में जो व्यय हो उसे 'उपभोग' कहते हैं।[2]

इस उद्धरण के साथ ही साथ राजा यदि राज्य के धन का उपभोग केवल अपने स्त्री पुत्र आदि के लिए करता है तो भी उसे अच्छा नहीं माना है। जैसे—

जो धन केवल स्त्री, पुत्र आदि के लिये ही एकत्र किया हो वह केवल उपभोग के लिए ही होता है और वह नरक को देने वाला होता है न कि सुख को देने वाला होता है।[3]

आय व्यय के अनुरूप ही मनुष्य को उपभोग करना चाहिए। आय से अधिक उपभोग करने वाला उपभोक्ता सुखी रहेगा या दुखी ? अतः उपभोग भी किसी एक मात्रा और किसी निश्चित सीमा तक जीवनोपयोगी रहेगा उसके पश्चात् जीवन घातक हो जायेगा। यहाँ तक कि चाहे किसी व्यक्ति के पास अर्थ कितना भी संग्रह क्यों न हो किन्तु वह उत्पादन न कर केवल उपभोग ही करेगा तो उसके पास वह एकत्रित सामग्री कितने दिन तक चल सकेगी। इस पर आचार्य शुक्र ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है :—

इच्छा के अनुसार उपभोग करने पर संचित धन भी समाप्त हो जाता है।

---

१. उपभोगाय च धनं जीवितं येन रक्षितम् ॥ शुक्र १।१७९

२. धान्यं वस्त्रगृहाराम गो राजादिरथार्थकम्।
विद्याराज्याद्यर्जनार्थं धनाप्त्यर्थं तथैव च ॥
व्ययीकृतं रक्षणार्थं—उपभोग्यं तदुच्यते ॥ शुक्र २।३३४–३५

३. स्त्री पुत्रार्थं कृतोयश्च सोप भोगाय केवलः।
नरकायैव स ज्ञेयो न पात्र सुखप्रदः ॥ शुक्र ४।११९

"सदा आगम (उत्पादन) के बिना इच्छा के अनुरूप कुबेर भी धन का उपभोग नहीं कर सकता तो क्या किसी और का संचित धन बिना आय के अधिक दिन चल सकता है ?"[1]

इस प्रकार प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने आय को दृष्टि में रखते हुए व्यय करने का विधान बताया है और उत्पादन की मात्रा के अनुसार ही उपभोग करने को अच्छा और सुख को देने वाला माना है। आर्थिक विकास कभी भी अपव्यय अथवा अनुचित उपभोग से नहीं हो सकता है। युक्तिपूर्वक अर्थ संग्रह करने वाला व्यक्ति ही उसका वास्तविक उपभोग करने का मार्ग जानता है। उसके हृदय में उस उत्पादन या संग्रह के विषय में चिन्ता और पीड़ा है। अतः वह उपभोग करती बार इन सभी बातों का ध्यान रखेगा।

आय-व्यय के अनुसार ही कार्य करना चाहिये :—आचार्य शुक्र ने लेखा जोखा रखने के विषय में इस प्रकार कहा है :—

"सर्व प्रथम पूर्णरूप से आय को लिखे और उसके पश्चात् व्यय को लिखे, हिसाब की पंजिका में बायें पृष्ठ पर आय और दाहिने पृष्ठ पर व्यय को लिखे।"[2]

इस प्रकार हिसाब किताब रखने से आय व्यय का मिलान और अधिक अपव्यय होने वाले व्यय पर भी नियन्त्रण हो सकेगा। अर्थ का सही उपभोग हो सकेगा अथवा आय वृद्धि के साधनों को बढ़ाया जा सकेगा।

उत्पादन के अनुरूप ही उपभोग अच्छा लगेगा। जितनी मनुष्य की आवश्यकतायें हैं उनकी पूर्ति के लिए मनुष्य को उतना ही श्रम करना होगा। अपनी आय के अनुरूप ही व्यक्ति को व्यय करना होगा। आय-व्यय, उत्पादन-उपभोग दोनों पक्षों का समान रूप से ध्यान रखकर ही कार्य चिरस्थायी और सुचारुरूप से चल सकेगा।

स्वत्व का अधिकार (स्वामित्व)

आचार्य शुक्र ने पृथ्वी आदि उपभोग की जाने वाली वस्तुओं पर व्यक्ति का इस प्रकार अधिकार स्वीकार किया है।

---

१. न यथेष्टव्ययायालं संचितं तु धनं भवेत्।
सदा गमाद्विनाकस्य कुबेरस्यापि नांजसा॥ शुक्र १।१८०

२. आयमादौलिखेत्सम्यग्व्ययंपश्चाद्यथागतम्।
वामे चायं व्ययं दक्षे पत्रभागे च लेखयेत्॥शुक्र २।३६२

"जिस दूसरे की भूमि का कोई व्यक्ति बीस वर्ष से उपभोग कर रहा हो किन्तु समर्थवान् वास्तविक स्वामी यदि विरोध नहीं करता है तो राजा के रहने पर भी वह उस भूमि को पुनः प्राप्त नहीं कर सकता है।"[1]

उपभोग करते रहने के कारण भी एक निश्चित अवधि के बाद उपभोग करने वाला उसका सच्चा स्वामी बन जाता है। ऐसा करने से समता की भावनाओं का उदय होता है। सभी को समान रूप से भोजन, वस्त्र और आवास की प्राप्ति हो सके। अतः इस व्यवस्था को माना गया है।

कोषाध्यक्ष कैसा व्यक्ति होना चाहिये ? कोषका शासन के आर्थिक विकास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः कोष की रक्षा करने वाले व्यक्ति को अर्थ का मूल्य समझने वाला होना चाहिये। आचार्य शुक्र ने कोषाध्यक्ष के विषय में इस प्रकार कहा है :—

जितेन्द्रिय, अर्थवान्, व्यवहारज्ञ, धन ही है प्राण जिसका, मितव्ययी, कृपण, इस प्रकार का व्यक्ति कोषाध्यक्ष होना चाहिये।[2]

वस्तुतः अर्थ को पाकर मनुष्य के मन में लोभ के भाव आ जाते हैं और इन्द्रिय सुख जाग्रत हो जाता है। अतः जितेन्द्रिय शब्द का यहाँ प्रयोग किया गया है। राष्ट्र के धन का दुरुपयोग न हो इसलिये अच्छे व्यक्ति का चयन और गुणज्ञ का होना आवश्यक माना गया है। अर्थवान् व्यक्ति अर्थ के मूल्य को भली भाँति जानता है। व्यवहार कुशल जन सदा नीति के माध्यम से काम लेना जानता है। अर्थ को अपने प्राणों के समान समझने वाले और व्यय करने में अत्यन्त कंजूस व्यक्ति को ही कोष का अध्यक्ष बनाने से कोष की सुरक्षा और कोष का दुरुपयोग कभी भी नहीं हो सकेगा। ऐसा व्यक्ति अर्थ का वास्तविक महत्त्व समझता है।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक शुक्र ने व्यक्ति के गुणों को देखकर अच्छे प्रशासक को व्यक्तियों के चयन करने में एक सही मार्ग प्रशस्त किया है। कोष राष्ट्र की रक्षा और आर्थिक व्यवस्था के संचालन का मूल साधन है। अतः अर्थशास्त्री आचार्य शुक्र ने कोष का अध्यक्ष अच्छे व्यक्ति को चयन करने का निर्देश दिया है।

---

१. वर्षाणि विंशतिर्यस्य भूर्भुक्ता तु परैरिह।
सति राज्ञि समर्थस्य तस्य सेह न सिद्धति॥ शुक्र ४।७३६

२. दांतस्तु सधनोयस्तु व्यवहार विशारदः।
धन प्राणोति कृपणः कोषाध्यक्ष स एव हि॥ शुक्र २।१५१

धान्यपति कैसा व्यक्ति होना चाहिये ? मानवीय जीवन के लिये अन्न को प्राण माना गया है और अन्न से ही प्राणियों की उत्पत्ति मानी गयी है।[1] मनुष्य का प्राण अन्नमय माना गया है। अन्न के विना जीवन की रक्षा होना अत्यन्त कठिन है। अतः राष्ट्र की जनता की रक्षा के लिये अच्छी प्रकार के अन्नों को जानने वाला, वस्तुओं का उचित मूल्य निर्धारण करने वाला, जनता में समान रूप से वितरण करने वाला, उपयोगी वस्तुओं का संग्रह करने वाला, उपभोग का ध्यान रखने वाला और वास्तविक रूप से वस्तुओं का ग्रहण करने वाले व्यक्तियों को प्रजा की जीवनोपयोगी वस्तुओं को एकत्र करना चाहिये। इस व्यवस्था से उपभोक्ताओं को कष्ट नहीं होगा और स्वार्थी, मुनाफाखोर एवं बुरे समय से लाभ उठानेवाले लोग लाभान्वित नहीं हो सकेंगे। अधिकारियों की स्वार्थी, घूस खोरी की मनोवृत्तियों के द्वारा ही प्रजा के कुछ मुनाफाखोरों में कम तोलने, अधिक मूल्य वृद्धि करने की विचार धारा का जन्म होता है। आचार्य शुक्र ने इस प्रकार की मनोवृत्ति का ध्यान रखते हुये अन्न जैसी आवश्यक वस्तु पर नियन्त्रण पाने के लिये योग्य व्यक्ति को इस उत्तरादायित्व पूर्ण पद पर लगाने की व्यवस्था दी है जिससे आर्थिक व्यवस्था बिगड़ने न पावे।

"जाति = वस्तुओं के अच्छे गुणों का जानकार, तोल, मूल्य नियन्त्रण बहुमूल्य वस्तुओं का ज्ञाता, उपभोग को समझने वाला और परिग्रह के नियमों का जाननेवाला एवं अन्न की शुद्धि को अच्छी प्रकार जानता हो ऐसे व्यक्ति को धान्यपति नियुक्त करना चाहिये।"[2]

प्रत्येक वस्तुओं की भिन्न-भिन्न गुणकारी बातों को जानता हो। उपयोग और उपभोग का महत्त्व भी अच्छी प्रकार समझता हो, एवं प्रजा के सुख दुखों का ध्यान रखते हुये वितरण व्यवस्था में न्याय को अपना सके।

कैसा व्यक्ति ग्राम का प्रमुख हो ? प्राचीन भारत में ग्रामों का भी अपना एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। ग्रामीण वातावरण शान्त और सुखद रहे एवं प्रजावर्ग को अधिक उत्पादन द्वारा अच्छा अन्न ग्राम दे सके, अतः ग्राम के लिये 'ग्राम प्रमुख' को आदर्शरूप में होना चाहिये। ग्रामवासी उस आदर्श पुरुष से अच्छे विचार लेकर अच्छे काम करें। प्राचीन आर्थिक विचारक शुक्राचार्य ने ऐसे व्यक्ति को ग्राम प्रमुख माना है :—

---

१. अन्नाद् भवन्ति भूतानि। गीता ३ अध्याय १४ श्लोक (पूर्वार्द्ध)

२. जातिं तुलां च मौल्यं च सारं भोगं परिग्रहम्।
संमार्जनं च धान्यानां विजानाति स धान्यपः॥ शुक्र २।१५५

जो वंचकों से, चोरों से और राज्य अधिकारियों से ग्राम्य प्रजाजन की सुरक्षा कर सके एवं माता पिता के सदृश ग्राम्यजनों की रक्षा करने में चतुर हो, ऐसा व्यक्ति ग्राम का अधिपति होना चाहिये ।[1]

समाज को आदर्शमय बनाने के लिये प्रथम एकाई ग्राम, उसमें अच्छा संगठन हो, लोग अपने-अपने कामों में लगकर निश्चिन्त होकर अधिक उत्पादन करते हुये समस्त राष्ट्र की जीवन रक्षा के लिये कार्य करते रहें । आदर्श पुरुष ग्राम प्रमुख को अपने निकट उसके रचनात्मक कार्यों एवं आदर्श चरित्र को देखकर अन्य लोग भी अच्छे बनें । अतः योग्य व्यक्ति की नियुक्ति करने पर आचार्य शुक्र ने अधिक बल दिया है । अच्छे नेताओं, अधिकारियों, प्रमुखों एवं प्रथप्रदर्शकों के द्वारा सामाजिक संरचना अच्छी हो इसलिये योग्य व्यक्ति को ग्राम प्रमुख बनाने की बात बताई गयी है । अच्छे लोग ही अपने समुदाय में अपने अच्छे कार्यों द्वारा अच्छी व्यवस्था ला सकते हैं ।

कर लेने की व्यवस्था—यद्यपि शासक का संसार में किसी न किसी रूप में महत्व तो है ही । शासक के बिना शासन में अशान्ति और उन्नति में बाधा उपस्थित हो जाती है । अराजकता वाले राष्ट्र कभी भी उन्नति नहीं कर सकते अपितु ऐसे राष्ट्र शीघ्र पराधीन हो जाते हैं । जनता जीवन रक्षा की चिन्ता में चिन्तित रहती हुई विकास के कार्यों को छोड़ देती है । ऐसी विषम स्थिति में अच्छा शासक ही जनता को अपने कार्यों के द्वारा सुरक्षा का आश्वासन देता है । जनता-जनार्दन के कल्याण के लिए शासक जो भी कार्य करता है उसके लिये ही वह जनता से शुल्क (कर) के रूप में कुछ अर्थ चाहता है । इसके लिये शासक ने अपना एक शुल्क विभाग, शुल्काधिकारी (शौल्किक) की नियुक्ति की हुई थी । शासक की आय का शुल्क, कर ही एक मात्र साधन है । शुल्क न देने पर राज्य की आय में बाधा उपस्थित होती है । जैसा कि आचार्य शुक्र का मत है :—

"ऐसे पुरुष को शौल्किक (कर लेने वाला, शुल्क लेने वाला) बनाना चाहिए, जो लेने देने वालों के मूल धन का नाश न करे । इस प्रकार जो शुल्क (कर) ग्रहण करता है उसे शौल्किक कहते हैं ।[2]

---

१. आधर्षकेभ्यश्चोरभ्योह्यधि कारिगणात्तथा ।
प्रजासंरक्षणे दक्षो ग्रामपो मातृपितृवत् ।। शुक्र २।१७०

२. यथा विक्रयिणां मूलधन नाशो भवेन्नहि ।
तथा शुल्कं तु हरति शौल्किकः स उदाहृतः ।। शुक्र २।१७४

बाजार की भूमि का और राजपथों का राजा 'कर' ले। इस पर कर लेने के विषय में शुक्र ने अपना विचार इस प्रकार बताया है :—

"दुकानदारों से विपण की भूमि का कर और मार्ग में चलने वालों से मार्ग की शुद्धि, रक्षा और सुधार के लिए कर ले।"[1]

आचार्य शुक्र ने कर संग्रह करने के कारण राजा-शासक को दास के समान सेवा-रक्षा करने का दायित्व राजा को दिया है :—

"सबसे 'कर' लेकर दास के समान रक्षा करे।"[२]

अच्छा शासक जनता को दुखी करके कभी भी अर्थ संग्रह नहीं करता है। जनता की आय और शक्ति के अनुरूप ही वह कर-शुल्क निर्धारण करता है। राष्ट्र की आर्थिक स्थिति पर ही शुल्क लेना देना निर्भर करता है। कर-शुल्क लेने वाले अधिकारी को कैसा होना चाहिये ? जैसे :—

शासक के भाग-कर को लेने वाले अधिकारी को कैसा होना चाहिये ? "जो उद्यान के माली के समान यत्न से वृक्षों की रक्षा करता हुआ फल-फूलों को ग्रहण करता है। उसी प्रकार कर अधिकारी को राज्य से अंश-भाग (कर) ग्रहण करना चाहिये।"[3]

अर्थ प्राप्ति में करों का महत्वपूर्ण स्थान है किन्तु नवीन करों को लगाकर जनता को दुखी नहीं करना चाहिये। अच्छा शासक शुल्क प्राप्ति के लोभ में प्रजा का शोषण न करे अन्यथा जनता उसके विरुद्ध हो जाती है।

"नवीन कर और शुल्क आदि से जनता दुखित हो जाती है।"[४]

राज मुद्रा और लेख का महत्त्व :—राजमुद्रा का राज्य संचालन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस मुद्रा का प्रयोग हर कोई नहीं कर सकता है। राज्याज्ञा इस मोहर के कारण ही प्रमाणिक मानी जाती है। जैसे :—

---

१. तथा चापणिकेभ्यस्तु पण्यभू शुल्कमा हरेत्।
मार्गसंस्कारक्षार्थं मार्गगेभ्यो हरेत्फलम् ॥ शुक्र ४।२४०

२. सर्वतः फलभुग्भुत्वा दासवत्स्यात्तरक्षणे ॥ शुक्र ४।२४१

३. वृक्षान्संरक्ष्ययत्नेन फलं पुष्पं चिचिन्वति।
मालाकार इवात्यन्तं भागाहारस्तथाविधः ॥ शुक्र २।१७१

४. नवीन कर शुल्काद्यैर्लोक उद्विजते तत :। शुक्र २। २६४

राजा की मुद्रा से चिह्नित जो लेख है वही राजा है और राजा, राजा नहीं है।[1]

मौखक आदेश असत्य और राज्याज्ञा के विरुद्ध भी हो सकता है या राज्य विरोधी व्यक्ति उसके विरुद्ध झूठा प्रचार कर सकता हैं। अतः इ न सबसे प्रामाणिक मुद्रा सहित लेख सत्य माना जाता है। जैसे :—

"राजा के लेख के बिना कभी भी सेवक को कार्य नहीं करना चाहिये। राजा को भी अल्प या अधिक आज्ञा लेख के बिना नहीं देना चाहिये।"[2]

इस प्रकार के उद्धरणों से प्राचीन काल की राजमुद्रा और राजा के लेखों का महत्त्व विदित होता है। इससे राज्य मुद्रा और लेखका प्राचीन भारत में कितना प्रचलन था यह ज्ञात होता है।

विनिमय के लिए सिक्कों की आवश्यकता—राजा को अर्थ के व्यवहार को चलाने के लिए कोई स्वरूप तो देना ही होगा। वह स्वरूप ही मुद्रा के रूप में अति प्राचीन काल से प्रयुक्त हुआ है। उससे पूर्व या अविकसित देशों में सर्वप्रथम मुद्रा का रूप वस्तु विनिमय ने लिया हुआ था। आचार्य शुक्र ने सिक्कों के कई भेद किये हैं। जो अनेक रूपों में प्रयुक्त हुए हैं। पण एवं कार्षापण की परिभाषा इस प्रकार की गई है :—

"दस मासा मात्रा भार के तांबे की जो राजमुद्रा (सिक्का) होती थी उसे 'पण' (पैसा) माना जाता था और एक सौ पचास वराटियों (कौड़ियों) का जो मूल्य हो उसे 'कार्षापण कहते हैं।"[3]

आचार्य शुक्र ने जहां तांबे के सिक्कों का वर्णन किया है वहां सोने के छोटे से छोटे और बड़े से बड़े सिक्कों का भी वर्णन किया है।

चार मासे वजन के सोने को 'निष्क' कहते हैं।[4]

ऋण लेख्य किसे कहते हैं ? अर्थ का संकट उपस्थित होने पर जो उधार या ऋण के रूप में एक दूसरे से लिया जाता है। ऋण लेने पर प्रमाण के

---

२. नृप संचिह्नितं लेख्यं नृपस्तन्न नृपोनृपः ॥ शुक्र २ । २८३

३. न कार्यं भृतकः कुर्यान्नृप लेखाद्विना क्वचित् ।
नाज्ञापयेल्लेखनेन विनाल्पं महन्नृप ॥शुक्र २ । २८१

४. दशमाषमितं ताम्रं तत्पणोराजमुद्रितम् ।
वराटिसार्धशतकं मूल्यं कार्षापणश्चसः । शुक्र ४।११३

५. चतुर्माषमितं स्वर्णं निष्क इत्यभि धीयते । शुक्र ४।२१४

लिये अथवा स्मृति के लिये जो लिखा जाता है उसे ऋणलेख्य नाम दिया गया है। जैसे :—

"ब्याज पर धन को लेकर साक्षी सहित जो लेख किया-कराया जाता है उसे बुद्धिमानों ने ऋण लेख्य कहा है।"[1]

इस धन को तीन प्रकार का माना गया है :—औपनिध्य, याचितक, औत्तमर्णिक।

१—औपनिध्य :—विश्वास पर सज्जन पुरुष जिस धन को धरोहर के रूप में रख जाते हैं उसे 'औपनिध्य' कहते हैं।[2]

२—याचितः—बिना वृद्धि के अर्थात् बिना सूद के लिये हुए अलंकारादि को 'याचित' कहते हैं।[3]

३—औत्तमर्णिक :—सूद पर लिये हुये धन को औत्तमर्णिक कहते हैं।[4]

विनिमय किसे कहते हैं :—आचार्य शुक्र ने आर्थिक अवस्था में विनिमय की परिभाषा इस प्रकार बताई है :—

"दिये हुए मूल्य से जो प्राप्त हो उसे विनिमय कहते हैं।"[5] अर्थशास्त्र में 'विनिमय' प्रणाली आज भी चल रही है। प्राचीन और आधुनिक विनिमय प्रणालियों का तुलनात्मक विवेचन पाठक स्वयं देखेंगे कि प्राचीन भारतीय अर्थ-शास्त्री किस प्रकार विनिमय करते थे।

पारितोषिक और वेतन में अन्तर :—अर्थ को ही जगत के व्यवहार चलाने में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। कुछ लोग समाज में अच्छे कार्य करते हैं, ऐसे लोगों को प्रोत्साहित करने के लिये उन्हें जो कुछ दिया जाता है उसे 'पारितोषिक' कहते हैं। जैसा कि पारितोषिक और वेतन की परिभाषा आर्थिक विचारक शुक्रने इस प्रकार दी है :—

---

१. वृद्धया धनं गृहीत्वा तु कृतं वा कारितं च यत्।
ससाक्षिमच्चतत्प्रोक्तमृणलेख्यंमनीषिभिः ॥ शुक्र २।३०१

२. विस्रंभान्निहितं सद्भिर्यदौपनिधिक हितम्। शुक्र २।३१६

३. अवृद्धिकं गृहीतान्यालंकारादि च याचितम्।

४. सवृद्धिकं गृही यदृणं तच्चौत्तमर्णिकम् ॥ शुक्र २।३१७

५. दत्तमूल्यादि संप्राप्तः स वै विनिमयी कृतः। शुक्र २।३२९

"सेवा, शूरवीरता आदि से संतुष्ट होकर जो दिया जाये उसे 'पारितोषिक' कहते हैं।"[1]

"वृत्तिरूप से जो धन दिया जाता है उसे 'वेतन' कहते हैं।[2]

द्रव्य और अर्थ में अन्तर:—शुक्राचार्य ने द्रव्य और अर्थ की परिभाषा इस प्रकार वर्णन की है :—

कौड़ी आदि से लेकर रत्न पर्यन्त को **द्रव्य** कहते हैं।[3] पशु, अन्न, वस्त्र, तृण आदि को **धन** (अर्थ) कहते हैं।[4]

व्यवहार में प्रायः लोग कहा करते हैं कि उसके पास इतना धन या अर्थ है और अर्थ का प्रयोग होते ही प्राचीन कालमें प्रयुक्त होने वाले कृषि से उत्पन्न होने वाली वस्तुयें और कृषि से कृषण कराके उत्पादन की वृद्धि करने वाला पशु को धन नाम से सम्बोधित किया गया है क्योंकि युग के अनुरूप उस समय इनसे परिपूर्ण व्यक्ति ही धनवान् माना जाता था।

जिसके पास रत्न आदि प्रचुर मात्रा में हों उसे द्रव्यवान् कहा जाता था। अतः द्रव्य में रत्न आदि की गणना की गई है।

वस्तुओं के मूल्य में तेजी-मंदी क्यों आती हैं?—आचार्य शुक्र ने व्यावहारिक दृष्टि को ध्यान में रखते हुए उपभोग और पदार्थों की मांग के अनुसार ही उनके मूल्यों में तेजी और मंदी आती है[5] माना है। इसके साथ ही साथ वस्तुओं के मूल्य वृद्धि और मूल्य के ह्रास (तेजी-मंदी) का मूल कारण शासकों की दुष्टता को माना है।[6]

शासक को जनता सर्वोच्च अधिकारी मानती है उसकी नीति एवं निष्पक्षीय भावना से शीघ्रता से उसकी आज्ञा के विरुद्ध कोई कार्य करने को समर्थ नहीं होता। प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने अपने विचारों से जनता के सुख दुखों का ध्यान रखते हुए शासक को सदैव सावधान करने की चेष्टा की। उनके हृदयों में स्वार्थ और लोभ की भावनाओं को नहीं आने दिया। उन्हें शास्त्रों का ज्ञान, अच्छे पुरुषों का संग एवं जनता के सुख दुखों का ध्यान रहता था।

---

१. सेवाशौर्यादि संतुष्टैर्दत्तं तत्पारितोषिकम्।
२. भृत्तिरूपेण संदत्तं वेतनतत्प्रकीर्तितम्॥ शुक्र २।३३३
३. व्यवहार्थं बराटाद्यं रत्नांतं द्रव्यमीरितम्।
४. स पशु धान्यवस्त्रादि तृणांतं धन संज्ञकम्॥ शुक्र २।३४६
५. यथा कामात्पदार्थानामनर्धमधिकं भवेत्। शुक्र २।३४९
६. मूल्य हानिस्तु चै तेषां राजदौष्ट्येन जायते। शुक्र २।३५०

वस्तुओं के मूल्य में निर्धारण एवं नियन्त्रण और जनता में उसका सही वितरण करने का एक मात्र उद्देश्य जनता को सुखी रखना था। जनता सुखी रहने पर, शासन के विरुद्ध किसी प्रकार का बुरा आचरण नहीं करती है।

जब भी शासक स्वार्थी, लोभी एवं शोषक होकर, व्यापारी वर्ग से अर्थ उत्कोच (रिश्वत) से रूप में लेता है तभी खाद्यान्नों में सहसा तेजी आ जाती है। इसलिए इस तेजी मंदी का मूल कारण प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक आचार्य शुक्र ने राजा (शासक) की दुष्टता (लोभमयी भावना) को माना है। आधुनिक भारत में स्वतन्त्रता के पश्चात् रात दिन मूल्य वृद्धि में शासकों के कारण ही जनता कष्ट सहन कर रही है और जिनके पास अर्थाभाव है वे उन वस्तुओं का उपभोग ही नहीं कर सकते। जनता के इन सभी दुखों का दायित्व आचार्य शुक्र ने शासक पर डाला है और शासक को इसका दोषी माना है। शासक के विरुद्ध इन्हीं अव्यवस्थाओं के कारण जनता विद्रोह कर बैठती है। भूखा व्यक्ति क्या-क्या पाप (बुराइयां) नहीं कर लेता।[1]

आजीविका कैसे दी जाये :—संसार में मनुष्य को जीने के लिये—आजीविका आवश्यक मानी गयी है। यदि व्यक्ति के पास आजीविका के लिये कोई साधन नहीं होगा तो वह कैसे जीवन यापन करेगा ? आजीविका रहित व्यक्ति समाज के, शासन के और राष्ट्र के लिए घातक होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को रोजी रोटी की समस्या का समाधान शासक को ही करना होता है। प्रत्येक व्यक्ति को जीवित रहने का अधिकार है अतः उसके परिश्रम के अनुरूप उसे कार्य देना होगा। जैसाकि शुक्र ने कहा है :—

जिससे भृत्य का भरण पोषण हो सके उसे वैसी ही भृति (नौकरी) में लगाना चाहिये।[2]

यदि जीवन के भरण पोषण के अनुरूप व्यक्तियों को कार्य न मिलेगा अथवा कम वेतन का कार्य मिलेगा जिससे उसका जीवनयापन नहीं हो रहा है। ऐसी स्थिति में भी वे लोग राज्य के कोप से अर्थ लेने वाले और प्रजा को दुख देने वाले होते हैं। मनुष्य को जब अच्छे मार्गों से आजीविका नहीं मिलती अथवा जीवन का कम वेतन में निर्वाह नहीं हो पाता, ऐसी स्थिति में बुरे मार्गों को अपना कर वह अपना जीवन निर्वाह करता है। जैसे :—

---

१. बुभुक्षितः किं न करोति पापम्। पंचतन्त्र-नीतिवाक्य

२. अवश्यपोष्यवर्गस्य भरणं भृतकाद्भवेत्।
तथा भृतिस्तु संयोज्या यथोग्याभृतकाय वै॥ शुक्र २।३९२

"जो भृत्य अल्प वेतन पाने वाले हैं उनको शासक ने स्वयं शत्रु बना दिया है। वे भृत्य दूसरों के साधक हैं और शासक की बुराइयों से राज्य कोष को हरण करने वाले एवं प्रजा को हानि पहुँचाने वाले होते हैं।"[1]

आर्थिक योजनाओं में कार्य करने वालों के साथ व्यवहार

आचार्य शुक्र ने आर्थिक योजनाओं को पूर्णरूप से सफल बनाने के लिए उसमें काम करने वालों की सुख सुविधा का पूर्ण ध्यान रखा है। यदि आर्थिक व्यवस्था में काम करने वालों को विश्राम करने, भोजन करने आदि का अवकाश न दिया जायेगा तो वे उतनी तीव्रगति से कामों को न कर सकेंगे। अतः शुक्राचार्य ने आधुनिक युग के श्रम कल्याण की भाँति बहुत पहले ही काम करने वालों की सुख सुविधा का पूर्ण ध्यान रखा हुआ था :—

"भृत्यों को अपने घर का काम करने के लिये नित्य दिन और रात में छोड़ देना (अवकाश दे देना) चाहिये। रात्रि में तीन पहर[2] अर्थात् ९ घंटे और दिन में ३ घण्टा एक पहर का अवकाश देना चाहिये एवं जो दिन में ही भृत्य कार्य करने वाले हों उन्हें केवल अर्ध प्रहर अर्थात् १॥ घण्टा ही अवकाश देना चाहिये।"[3]

आचार्य शुक्र के इस प्रकार के उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग में समाज की आर्थिक स्थिति बहुत ही अच्छी थी और औद्योगिक कार्यों का अत्यधिक प्रचलन था। आधुनिक युग की भाँति औद्योगिक संस्थान अधिक से अधिक समय काम करते थे और उनमें १५ घंटे निरन्तर काम होता रहता था। केवल ९ घण्टे उनमें काम बन्द होता था। काम इतना अधिक होता था कि जो लोग मासिक वेतन पर कार्य करते थे वे ही सम्पूर्ण कार्य नहीं कर सकते थे। अतः दैनिक मजदूरी पर भी अधिक लोग कार्य पर लगाये जाते थे। ऐसे लोगों की सुख सुविधा का भी ध्यान रखा जाता था और उन्हें १॥ घण्टा प्रतिदिन भोजन करने का या आराम करने का अवकाश

---

१. ये भृत्याहीन भृतिकाः शत्रवस्ते स्वयं कृताः।
परस्यसाधकास्ते तु छिद्रकोष प्रजाहराः ॥ शुक्र २।३९३

२. तीन घण्टे का एक प्रहर माना जाता है॥

३. भृत्यानां गृहकृत्यार्थं दिवा यामं समुत्सृजेत्।
निशि यामत्रयं नित्यं दिनभृत्येऽर्धयामकम् ॥शुक्र २।३९७

मिलता था। श्रमिक राष्ट्र विकास की दृष्टि से अधिक उत्पादन बढ़ाते थे और राज्य उनके कल्याण का पूर्ण ध्यान रखता था।

संचितकोष एवं लाभांश की सुविधा

नित्य श्रम करने वाला श्रमिक दैनिक व्ययों के अधिक होने के कारण अपनी आपत्ति के लिये कुछ भी अर्थ एकत्रित नहीं कर सकता। अतः उसके वेतन में से अनिवार्य रूप से बचत करने के उद्देश्य से शुक्र ने आर्थिक दृष्टि से राजा एवं श्रमिक को अधिक लाभ हो इसलिये ऐसी व्यवस्था दी है :—

"भृत्य की वृत्ति से वेतन का चतुर्थ या छठा भाग काट कर राजा को सुरक्षित कर देना चाहिये। उसके पश्चात् दो या तीन वर्ष में उसे आधा या पूर्ण धन दे देना चाहिये।"[1]

आचार्य शुक्र के इस प्रकार के श्लोकों से ऐसा विदित होता है कि श्रमिकों, कर्मचारियों की भविष्य में होने वाली आवश्यकताओं पर यह अनिवार्य बचत वाला अर्थ आर्थिक संकट में परम सहायक सिद्ध होगा। नौकरी छोड़ते समय व्यक्ति को आर्थिक कष्ट न हो अतः उनके वेतन का ४-६ भाग काटकर कई वर्षों में कितना अधिक हो जायेगा ? जिससे उसे तत्काल किसी प्रकार का भी आर्थिक संकट नहीं होगा।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक शुक्र ने मनुष्य की आर्थिक स्थिति सुधारने एवं राज्य की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने और आर्थिक संस्थाओं में अधिक पूँजी लगाने के उद्देश्य से अपने कर्मचारियों का वेतन का कुछ भाग अनिवार्य रूप की बचत में लगाने की एक सुन्दर योजना प्रस्तुत की। आधुनिक युग में आज संसार के सभी देश श्रमिकों के कल्याण की ऐसी बचत योजनायें चला रहे हैं। किन्तु प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्री इसे बहुत पहले ही चला चुके थे।

अधीनस्थ व्यक्तियों से अच्छा व्यवहार न करने का दुष्परिणामः—

दूरदर्शी आर्थिक विचारक आचार्य शुक्र ने अच्छे प्रशासकों को आर्थिक व्यवस्था में बाधा उपस्थित न हो अतः अपने अधीनस्थ व्यक्तियों के साथ अच्छा व्यवहार न करके दुष्परिणामों का इस प्रकार वर्णन किया है—

"जो शासक अपने भृत्यों से सदा कठोर वचनों का प्रयोग करता है, समय पर उनके श्रम का पूरा वेतन नहीं देता, कठोर दण्ड देता है और उनका अपमान

---

१. षष्ठांशं वा चतुर्थांशं भृतेर्भृत्यस्य पालयेत्।
दद्यात्तदर्धं भृत्याय द्वित्रिवर्षेऽखिलं तु वा। शुक्र २।४०६

करता है, वह राजा अपने इस प्रकार के व्यवहारों से अपने भृत्यों को शत्रुता करना सिखाता है।"[1]

अर्थ व्यवस्थापक व्यक्ति को अपने अधीनस्थ व्यक्तियों की मान प्रतिष्ठा का भी ध्यान रखना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन की रक्षा के लिए कहीं नौकरी करता है। उस जीविका उपार्जन करने वाले का अपना भी स्वाभिमान और सम्मान है। कोई भी व्यक्ति यदि अपने अधीनस्थ व्यक्ति को अपमानित करेगा अथवा उसका वेतन पूरा न देगा या नियत समय पर वेतन नहीं देगा तो वह उसके इस प्रकार के दुर्व्यवहारों से शत्रु बन जायेगा।

इस प्रकार के व्यवहार से भृत्य कभी अपने स्वामी को नहीं छोड़ते

यदि काम करानेवाला स्वामी अपने भृत्यों की आवश्यकताओं का पूर्ण ध्यान रखेगा तो उसके यहां से भृत्य कभी भी नौकरी नहीं छोड़ सकते। जैसे :—

"नियत समय पर वेतन देकर सन्तुष्ट करने पर, सम्मान देने से, योग्यता के अनुरूप उन्नति देने से, मीठे वचनों के व्यवहार से समझाने पर भृत्य कभी भी अपने अधिपति (स्वामी) को नहीं छोड़ते।"[2]

अधिक समय तक कार्य करने वालों के साथ कैसा व्यवहार होना चाहिए

नौकरी समाप्त होने के पश्चात् एवं सत्यनिष्ठा से वर्षों कार्य करने के बाद भृत्यों से उनकी भविष्य की आजीविका चलाने के लिये कैसा व्यवहार करना चाहिये ? इस पर आचार्य शुक्र ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं :—

"जिस सेवक ने राजा की सेवा करते हुए अपने जीवन के ४० वर्ष पूर्ण कर लिये, राजा ऐसे व्यक्ति को अब बिना सेवा लिये वेतन का आधा भाग आजीवन पुरस्कार (पेन्शन) के रूप में दे।"[3]

शुक्रनीति में सामाजिक आर्थिक स्थिति को दृष्टि में रखते हुए इस आर्थिक विचारक ने लिखा हैं कि उस सेवा करनेवाले व्यक्ति के अवकाश ग्रहण करने

---

१. वाक्यपारुष्यान्न्यून भृत्या स्वामी प्रबलदण्डतः।
भृत्यं प्रशिक्षयेन्नित्यं शत्रुत्वं त्वपमानतः॥ शुक्र २।४०८

२. भृतिदानेन संतुष्टा मानेन परिवर्धिताः।
सान्त्विता मृदुवाचा ये न त्यजन्त्यधिपं हि ते॥ शुक्र २।४०९

३. चत्वारिंशत्समा नीताः सेवया येन वै नृपः।
ततः सेवा विना तस्मै भृत्यर्धं कल्पयेत्सदा॥ शुक्र २।४०२

के कारण उस व्यक्ति की आर्थिक स्थिति न बिगड़े अतः उसके परिवार के समस्त सदस्यों का व्यवहार राज्य को ही वहन करना चाहिये। जैसे :—

"जब तक उसके बच्चे समर्थ न हों तब तक उनके भरण-पोषण के लिए भृत्य के आधा वेतन का आधा भाग दे। सुशील भृत्य की पत्नी एवं कन्या को भी आधा से आधा भाग दे।"[1]

नौकरी करनेवाले भृत्य एवं उसके परिवार के आश्रितों को नौकरी छोड़ने के बाद आर्थिक कष्ट न हो, अतः राज्य की ओर से पूर्ण आर्थिक सहायता दी जाती थी। इस प्रकार समाज में बुराइयों का जन्म नहीं होता है और समाज सुखी एवं सन्तुष्ट रहता है।

योग्यता के अनुरूप चारों वर्णों में सुव्यवस्था के लिये कार्य विभाजन

आचार्य शुक्र ने जनता में रहनेवाले व्यक्तियों की योग्यता को देखते हुए उन्हें कार्य विभाजित किया हुआ था। शुक्र के विचार से आर्थिक विकास में या अर्थसंग्रह में बाधा उपस्थित न हो अतः व्यक्तियों की योग्यता एवं कार्यक्षमता को देखते हुए उन्हें कार्य देने की व्यवस्था की हुई थी। प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्य के अनुरूप श्रम करे और अपने श्रम का उचित पुरस्कार प्राप्त करे।

"ग्राम अधिपति (प्रमुख) ब्राह्मण को नियुक्त करना चाहिए। लेखक कायस्थ को नियुक्त करना चाहिए, शुल्काधिपति (शुल्क को ग्रहण करनेवाला) वैश्य को नियुक्त करना चाहिये और प्रतिहार (दूत) पद पर शूद्र को नियुक्त करना चाहिये।"[2]

उन्नति चाहने वाले व्यक्ति को इन छः को छोड़ देना चाहिये—इन ६ बुराइयों से उन्नति करनेवाले व्यक्ति के मार्ग में बाधा उपस्थित हो सकती है। क्योंकि जैसी चीजों का व्यक्ति चिन्तन करता है वैसा बन सकता है। ये ६ कार्य की सफलता में बाधक हैं। जैसे :—

"उन्नति के इच्छुक व्यक्ति को इन ६ दोषों को त्याग देना चाहिये। १—निद्रा २—तन्द्रा ३—भय ४—क्रोध ५—आलस्य ६—दीर्घसूत्रता।"[3]

---

१. यावज्जीवं तु तत्पुत्रेऽक्षमे बाले तदर्धकम्।
मार्यायां वा सुशीलायां कन्यायां वा स्वश्रेयसे॥ शुक्र २।४०३

२. ग्रामपा ब्राह्मणोयोज्यः कायस्थो लेखकस्तथा।
शुल्कग्राही तु वैश्यो हि प्रतिहारश्च पादजः॥ शुक्र २।४२०

३. षड्दोषापुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।
निद्रातन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता॥ शुक्र ३।५४

पूर्व वर्णित सभी दोष उद्योग कार्य में विघ्न डालने वाले हैं। अतः उद्योगी व्यक्ति को इनका परित्याग ही कर देना चाहिये।

धन मित्रता और शत्रुता भी करा देता है—जगत में अर्थ और अर्थवान् का सर्वत्र सम्मान है। यहाँ तक कि "धनवान् के द्वार पर गुणी पुरुष सेवक के समान खड़े रहते हैं।"[1] जगत के व्यवहार को चलाने में अर्थ का सदा से महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

धन देते समय मित्रता और लेते समय शत्रुता करनेवाला है।[2]

अर्थ के कारण मित्रता और शत्रुता हो जाती है, अतः व्यवहार कुशल व्यक्तियों को अर्थ वृद्धि के लोभ से धन ऐसे लोगों को नहीं देना चाहिये, जहाँ से मूल पूंजी ही नष्ट हो जाये।

"आहार व्यवहार में संकोच को छोड़कर ही मनुष्य सुखी हो सकता है।"[3]

लिखकर और साक्षी के समक्ष धन सूद पर देना चाहिये—

अर्थ को देखकर मनुष्य के मन में लोभ का आना स्वाभाविक ही है। अतः दूसरों को धन देते समय १—लेख २—जमानत ३—और साक्षी इन तीन का विशेष ध्यान रखना चाहिये। ऐसी व्यवस्था रखने पर मूलधन नष्ट नहीं होता और प्रमाण की त्रुटि नहीं रह जाती है। जैसे प्राचीन अर्थशास्त्री शुक्र का विचार है :—

"बुद्धिमान् व्यक्ति को भूलकर भी कभी बिना लिखे हुए व्यवहार को नहीं करना चाहिये।"[4]

"सम्बन्ध, जामिन (प्रतिभू) एवं साक्षी के रहने पर ही धन देना चाहिये क्योंकि ग्रहण करते समय लिखा हुआ प्रमाण वापसी पाते समय सुख का देनेवाला होता है।"[5]

---

१. तिष्ठन्ति सधनद्वारे गुणिनः किंकरा इव। शुक्र ३।७९
२. धनं मैत्री करं दाने चादाने शत्रुकारकम्॥ शुक्र ३।८७
३. न दद्यात् वृद्धिलोभेन नष्टं मूलधनं भवेत्।
आहारे व्यवहारे च त्यक्त लज्जः सुखी भवेत्॥ शुक्र ३।१६६
४. न लेखेन विना कुर्याद् व्यवहारं सदा बुधः। शुक्र ३।१८२
५. सम्बन्धं सप्रतिभुवं धनं दद्याच्च साक्षिमत्।
गृहीतलिखितं योग्यमानं प्रत्यागमे सुखम्॥ शुक्र ३।१८५

प्रत्येक वस्तु की अति हानिकारक होती है—अपनी एक सीमा तक निर्धारित कार्य अच्छा रहता है। सीमा के अतिक्रमण करने एवं अति हो जाने पर अच्छा कार्य भी बुरा हो जाता है। अति किसी भी चीज की अच्छी नहीं होती। यथा :—

"अति दान करने से भी दरिद्रता आ जाती है, अति लोभ करने से तिरस्कार हो जाता है और अति आग्रह करने से भी निश्चय ही मनुष्य की मूर्खता प्रतीत होती है।"[१]

लाभ को दृष्टि में रखते हुए कार्य करे :—"बुद्धिमान् मनुष्य अधिक व्यय वाला कार्य न करे और व्यवसायी पुरुष अधिक लाभ की आशा से ही काम करते हैं।"[२]

मनुष्य को अपना भला सोचकर ही कार्य करना चाहिये।

उत्तम जीविका और उत्तम देश कौन है :—वही जीविका उत्तम जीविका है जिससे अपने धर्म की हानि न हो, वही देश उत्तम देश है जिसमें कुटुम्ब का भरण-पोषण हो जाये।[३]

जगत में जीवित रहने के लिए जीविका की परमावश्यकता है। अतः उस जीविका को अच्छा माना गया है जिसमें अपने धर्म की हानि न हो। वही देश निवास करने योग्य है जिसमें अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण हो जाये।

अयोग्य होने के कारण ये राष्ट्र के शत्रु हैं :—मूर्खपुत्र, कुवैद्य, रक्षा न करने वाला पिता और राजा, क्रोधी और धनवान् होकर अदाता—ये सब प्रजा के शत्रु हैं।[४]

इन पूर्व वर्णित लोगों के द्वारा यदि राष्ट्र को कोई लाभ न हो सके तो ऐसे व्यक्तियों का राष्ट्र को क्या लाभ। अतः इन्हे दश का शत्रु समझना चाहिये।

---

१. अति दानेन दारिद्रयं तिरस्कारोति लोभतः।
अत्याग्रहान्नरस्यैव मौर्ख्यं संजायते खलु ॥ शुक्र ३।२१३

२. न च व्ययाधिकं कार्यंकर्तुमीहेत पण्डितः।
लाभाधिक्यं यत्क्रियतेचेषद्वाव्यवसायिभिः ॥ शुक्र ३।२४१

३. न स्यात्स्वधर्महानिस्तु ययावृत्त्या च सावरा।
स देशः प्रवरो यत्र कुटुम्ब भरणं भवेत् ॥ शुक्र ३।२६३

४. मूर्खः पुत्रः कुवैद्यश्चारक्षकस्तु पिता प्रभुः।
चण्डो भवेत्प्रजाशत्रुरदाता धनिकश्चयः ॥ शुक्र ४।१६

जिस राष्ट्र ने हमारे जोवन को उन्नत करने में इतना बड़ा योगदान देकर कार्य किया, उन्नत या अपने कार्य में दक्ष होने पर यदि हम उसके निवासियों को लाभ न पहुँचा सके तो हमारा जोवन व्यर्थ है और हम राष्ट्र के शत्रु और स्वार्थी हैं। जो केवल अपने हो लाभ की सोचते हैं।

जैसा राजा होगा वैसा हो प्रजा होगी :—प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने आर्थिक विकास का विवेचन करते हुए सर्वप्रथम शासक को अच्छा बनाने की चर्चा की है। पेड़ के पत्तों को पानी देने की अपेक्षा पेड़ की जड़ को पानी देना परमावश्यक है। ठीक इसी प्रकार आचार्य शुक्र ने राजा को प्रजा का आदर्श और न्यायकर्ता माना है। वह अपने आचरण द्वारा प्रजा को प्रभावित कर लेता है और प्रजा भी सदाचार से कार्य करने लगती है। जैसा राजा होगा वैसी ही प्रजा भी होती है। जैसा कि शुक्र का मत है :—

"न युगों का दोष है न प्रजाओं का किन्तु समस्त दोष राजा का ही है क्योंकि प्रजा वही आचरण करती है जिससे नृपति-शासक प्रसन्न रहे।"[1]

गीता में भी कहा गया है कि बड़े लोगों के आचरण को देखकर छोटे लोगों पर भी उस भले बुरे आचरण का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता है। जैसे :—

"श्रेष्ठ लोग जैसा आचरण करेंगे उनको देखकर इतर लोग भी वैसा ही आचरण करेंगे क्योंकि वे प्रजा के लिए उदाहरण हैं। उनके प्रमाणों को देखकर लोग उनका अनुसरण करते हैं।"[२]

शासक को इसीलिये उद्योगी, आदर्श, अर्थचिन्तन करने वाला, प्रजाहित-चिन्तक और न्यायकर्ता माना गया है।

"जिस देश का शासक महापापी होता है वहाँ मनुष्य अधर्म में तत्पर हो जाते हैं, वहाँ न समय पर मेघ बरसता है और न वहाँ अन्न फल ही होता है।"[3]

वहाँ देश की हानि, शत्रु की वृद्धि, धन का नाश होता है।[४]

१. युगानां न प्रजानां न दोषः किं तु नृपस्य हि।
प्रसन्नो येन नृपतिस्तदाचरति वै जनः॥ शुक्र ४।५६

२. यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ गीता ३ अध्याय २१ श्लोक

३. महापापी यत्र राजा तत्राधर्म परोजनः।
न कालवर्षी पर्जन्यस्तत्र भूः न महाफला॥ शुक्र ४।५८

४. जायते राष्ट्र ह्रासश्च शत्रुवृद्धिर्धनक्षयः। शुक्र ४।५९

विपन्नावस्था में शासक को व्यापारी एवं कृषकों की रक्षा करनी चाहिये

शासन की अभिवृद्धि में किसान और धनवानों का सबसे बड़ा योगदान होता है। धनवान् ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में आधुनिक पूँजोपति एवं शोषण की भावनाओं से अनुप्राणित नहीं थे। अतः आपत्ति पड़ने पर राजा उनकी पूर्ण सहायता करता था। यदि संकट के समय उनकी सहायता शासन करेगा तो वे भी राष्ट्र पर संकट पड़ने पर अपना सर्वस्व प्रसन्नता के साथ बलिदान करने में तनिक भीं संकोच न करेंगे। किसी भी राष्ट्र की आर्थिक स्थिति अन्न और अर्थ के कारण ही अच्छी रह सकती है। इसलिये कृषि ही है बल जिनका ऐसे किसानों और धनवानों की आपत्ति में सहायता करना राजा का परम कर्तव्य है।

"यदि धनवान् और कृषक व्यक्ति सत्य का आचरण (नियमपूर्वक) कार्य करते हुए अपने व्यवहार (व्यापार) में हानि में (घाटे में) आ गया हो तो ऐसी स्थिति में शासक को संकट से उनका उद्धार करना चाहिये।"[1]

अन्याय करने वाले धनवानों को दण्ड

शुक्राचार्य ने जहाँ धनवानों की सहायता का विशेष ध्यान रखा है, वहाँ दूसरी ओर अन्याय करने पर उनका समस्त धन छीनने की भी व्यवस्था दी है।

देश की सुरक्षा करने वाले सैनिकों की सम्पत्ति का पूर्ण ध्यान रखने का दायित्व भी राजा पर था, क्योंकि राष्ट्र का सैनिक निश्चिन्त होकर राष्ट्र की सेवा एवं रक्षा के लिए कार्यरत है ऐसी स्थिति में उसकी धन सम्पत्ति को कौन देखेगा ? अतः इसका सम्पूर्ण भार राजा पर ही था।

"उन सैनिकों के धन का संरक्षण शासन स्वयं अपने कोष के समान यत्न-पूर्वक करे। यदि कोई धनवान् मिथ्याचार (छल कपट) द्वारा धन एकत्रित करता है तो उसका सम्पूर्ण धन छीन लेना चाहिये।"[2]

सैनिकों का प्रतिबन्ध

आचार्य शुक्र ने अनियमित कार्यों को अत्यन्त बुरा मानकर उन पर प्रतिबन्ध लगाये हुये थे। यदि शासन में सैनिकों को अत्यधिक सुविधायें प्रदान की हुई थीं

---

१. सत्याचारस्तु धनिका व्यवहारे हता यदि।
राजा समुद्धरेत्तांस्तु तथाऽन्यांश्च कृषीबलान्॥ शुक्र ४।१३२७

२. धनं संरक्षयेत्तेषां यत्नतः स्वात्मकोषवत्।
संहरेद् धनिकात् सर्वं मिथ्याचाराद्धनं नृपः॥ शुक्र ४।१३२९

तो दूसरी ओर प्रजा के कार्यों में बाधा डालने का भी उन्हें निषेध किया हुआ था। प्रजा की रक्षा करना और उनके श्रम से उपार्जित अन्न एवं धन का ही भाग सैनिक प्राप्त करते हैं यदि वे प्रजा वर्ग को प्रपीड़न देंगे तो वे समस्त सुविधायें कहाँ से प्राप्त कर लेंगे? अतः शुक्राचार्य ने ग्रामों में बिना कार्य के उन्हें जाने से निषेध किया है :—

"राजा के कार्य के बिना किसी भी सैनिक को गांव में प्रवेश नहीं करना चाहिये और कहीं भी किसी प्रकार ग्रामवासियों को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिये।"[1]

ग्रामवासियों का सैनिकों के प्रति व्यवहार

परस्पर प्रजा एवं सैनिकों में अच्छे व्यवहार रहें अतः आचार्य शुक्र ने प्रजा को निर्देश दिया है कि वह सैनिकों के साथ किसी प्रकार का व्यवहार न रखे।

"ग्रामवासी जनों को भी सैनिकों के साथ नित्य कोई व्यवहार (सम्बन्ध) नहीं रखना चाहिये।"[2]

ये लोग राज्य की आर्थिक स्थिति में बाधक होते हैं :—

इस प्रकार के अकर्मण्य लोग अपने कार्यों के द्वारा राष्ट्र के अन्य लोगों को उद्योगहीन बनाकर आर्थिक विकास में बाधा डालेंगे। बुरे मार्गों का अनुसरण कर जब बुरे लोगों का भरण पोषण हो जायेगा तो वे अच्छे मार्गों को अपना कर अर्थ उपार्जन क्यों करेंगे। अतः आचार्य शुक्र ने आर्थिक व्यवस्था में विघ्न डालने वाले निम्नलिखित लोगों को देश से निकाल देने तक की राय दी है :—

"मद्य पीने वाले, धूर्त, चोर, जार, क्रोधी, हिंसक, वर्ण एवं आश्रम की व्यवस्था को त्यागने वाला नास्तिक और धूर्त लोगों को।"[3]

"दूसरे के अभ्युदय को न देख सकने वाला, उत्कोच (रिश्वत) लेने वाला, अकार्य करने वाला, राष्ट्र के गोपनीय कार्यों और रहस्यों को प्रकट करने वाले को देश से निकाल देना चाहिये।"[4]

---

१. नृपकार्यं विना कश्चिन्न ग्रामं सैनिको विशेत्।
तथा न पीडयेत् कुत्र कदापि ग्रामवासिनः॥ शुक्र ४।१३२४

२. सैनिकैर्न व्यवहरेन्नित्यं ग्राम्य जनोऽपि च॥ शुक्र ४।१३२५

३. मद्यपकितवस्तेनो जारश्चण्डश्च हिंसकः।
त्यक्तवर्णाश्रमाचारो नास्तिकः शठ एव च॥ शुक्र ४।९३

४. अन्योदयासहिष्णुश्च ह्युत्कोच ग्रहणेरतः।
अकार्यकर्ता मन्त्राणां कार्याणमिदकस्तथा॥ शुक्र ४।९५

ऊपर वर्णित उद्धरणों में जिन लोगों का वर्णन हुआ है उनके द्वारा राष्ट्र के अहित के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता है। ऐसे व्यक्ति राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था में अपने कार्यों द्वारा अन्य कर्तव्यनिष्ठ और उद्योगी व्यक्तियों को भी अनुत्साहित कर बाधा उपस्थित करते हैं। इसीलिए ऐसे लोगों को देश से निकालने की व्यवस्था आचार्य शुक्र ने दी है। प्रारम्भिक स्थिति में और आर्थिक निर्माण में राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को सक्रिय योगदान देना पड़ता है। सभी देशवासियों के सहयोग से ही राष्ट्र का आर्थिक विकास हो पाता है। ऐसे कार्यों में कुछ त्यागी, उत्साही, उद्योगी और शुद्ध आचरण वाले व्यक्तियों की आवश्यकता होती है क्योंकि उनके कार्यों के द्वारा दूसरों पर भी अच्छा प्रभाव पड़ता है।

कोष और उसकी आवश्यकता :—"अर्थ का थोड़ा-थोड़ा संग्रह जब समुदाय के रूप में एकत्रित हो जाता है तब उसे 'कोष' कहते हैं।"[1]

अब तक अर्थ का महत्त्व केवल पृथक् रूप से ही था किन्तु जब वह अधिक रूप में एकत्रित होकर सम्पूर्ण राष्ट्र के उपयोग के लिए प्रयुक्त किया जाता है तब उसे कोष नाम से पुकारा जाता है। कोष की आवश्यकता एक विशाल राष्ट्र के शासन संचालन के लिए नितान्त आवश्यक है। उस राष्ट्र के संचालन के लिए आचार्य शुक्र ने लिखा है कि :—

"राजा को जिस किसी प्रकार से धन का संचय करना चाहिये। उस धन के संचय से राष्ट्र, सेना और यज्ञ आदि कार्य करें।"[2]

आपत्ति के समय के लिए, राष्ट्र की रक्षा के लिए एवं प्रजा के कल्याण के लिए ही कोष की आवश्यकता होती है। ऐसे समय में यदि अच्छे राजा ने कोष एकत्र नहीं किया है तो उसे महान् कष्ट उठाना पड़ता है।

इस प्रकार प्रजावर्ग को दुखी करके यदि राजा कोष की वृद्धि करता हो तो उसे इसका बुरा परिणाम देखना पड़ता है।

"जिस राजा—शासक ने अपनी नीति और बल को छोड़ कर अपनी प्रजा को पीड़ा देकर धन एकत्र किया हो, उस राजा का राज्य शत्रुओं के आधीन हो जाता है।"[3]

---

१. एकार्थ समुदायो यः स कोषः स्यात्पृथक् पृथक् · शुक्र ४।११६

२. येन केन प्रकारेण धनं संचयनुयान्नृपः।
तेन संरक्षयेद्राष्ट्रं बलं यज्ञादिकाः क्रिया ॥ शुक्र ४।११७

३. त्यक्ता नीति बलं स्वीय प्रजा पीड़नतो धनम्।
संचितं येन तत्तस्य स्वराज्यं शत्रुसांद्भवेत् ॥ शुक्र ४।१२३

"राजा आपत्तिकाल को छोड़कर दण्ड और पृथ्वी का शुल्क बढ़ाकर कोष की वृद्धि न करें।"[1]

यदि दुर्भाग्य से किसी प्रकार राजा का कोष समाप्त हो गया हो और राष्ट्र पर महान् संकट आने वाला हो या आर्थिक विकास के लिए कोई परियोजना बनानी हो ऐसी दशा में अपने राज्य के धनिकों से धन ऋण लेकर कार्य करे न कि प्रजा को प्रपीड़न देकर कोष की वृद्धि करे। यथा:—

"अपनी आपत्ति में राजा सूदपर धनियों से धन ले और जब राजा आपत्ति से पार हो जाये उस समय वृद्धि सहित वापस कर दे।"[2]

इस प्रकार के उद्धरणों से अवगत होता है कि उस युग में जनता की आर्थिक स्थिति इतनी अच्छी थी कि प्रजा के पास अत्यधिक धन था और शासक प्रजा का व्यर्थ के शुल्कों-करों से शोषण नहीं करता था एवं शासन का कर्मचारी-तन्त्र ईमानदार था। व्यापारी वर्ग को प्रायः असत्य कार्य शासक और कर्मचारी-तन्त्र सिखाता है। यदि व्यापारी शासक को या शासन के अधिकारियों को रिश्वत या किसी प्रकार की भी सहायता देगा तो क्या अपने घर से देगा? वह तो बेईमानी-कमतोल, अधिक भाव लगाकर ही जनता का रक्त शोषण (खून चूस) कर ही देगा।

राजा को प्रजा संकट पर अत्यधिक ऋण भी दे देती थी क्योंकि शासक की दृष्टि में दोष नहीं थे। वह ऋण को लेकर सूद सहित वापस करने का विश्वास दिलाता था। शासक के इस प्रकार के सत्य विचारों से प्रजा पर भी अच्छा प्रभाव पड़ता था। राजा, प्रजा में सन्तोष धैर्य और राष्ट्रहित की भावनायें अधिक थीं और स्वार्थ की भावनाओं का सर्वथा अभाव था।

शुक्राचार्य के अधिक व्याज लेने पर विचार—

राज्य में धनवान् धनवृद्धि हेतु ऋण देते हैं किन्तु उस ऋण में सूद लेने की एक निर्धारित व्यवस्था थी। निर्धारित व्यवस्था के विरुद्ध यदि कोई धनवान् कार्य करता था तो उसे ऋण दाता अधिक धन देने से निषेध कर देता था। शुक्राचार्य के समय में मूल धन से चार गुना सूद लिया जाता था। अन्याय करने पर इससे अधिक व्याज नहीं दिया जाता था। जैसे :—

---

१. दण्ड भाग शुल्कानां आधिक्यात्कोषवर्धनम्। शुक्र ४।१२४

२. धनिकेभ्यो भृतिं दत्वा स्वापत्तौतद्धनं हरेत्।
राजास्वापत्समुत्तीर्णस्तत्संदद्यात् सवृद्धिकम्॥ शुक्र ४।१२६

"मूलधन से जब धनिक (धनवान्) अधमर्ण से ऋणदाता से चारगुना वृद्धि धन दे चुका हो पुनः ऋणदाता को धनिक को कुछ भी नहीं देना चाहिये ।"[1]

धनिक सैनिकों को वृत्ति, भत्ता आदि देने की व्यवस्था :—

राष्ट्र में सुरक्षा एवं आर्थिक संकट उपस्थित होने पर ऐसा प्रतीत होता है कि धनवान् राजा की तन से सैनिक बनकर और धन से सहायता कर कार्य करते थे। ऐसे कार्य करने वालों को शासक को अधिक से अधिक लाभ देने की व्यवस्था बताई गई है। जैसे :—

"सेना में जो धनवान् सैनिक हों उन्हें उनकी योग्यता के अनुरूप वृत्ति दे और परदेश में युद्ध पर जाने पर उनका जो व्यय हुआ हो उससे तीसवां भाग अधिक मिलाकर दे ।"[2]

इस प्रकार के उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि जनता के शक्ति सम्पन्न और धन सम्पन्न लोग राज्य की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व भी बलिदान करने को तय्यार रहते थे। उनका ऐसा विचार था कि यदि राज्य ही नष्ट हो जायेगा तो हमारा धन और तन किस काम का। उनका समस्त कार्य नष्ट हो जायेगा। अतः राष्ट्र की रक्षा, प्रजा के हित और अपने लाभ के लिए वे राष्ट्र को सर्वोपरि मानते थे।

राष्ट्र की उन्नति के लिए एवं प्रजा के कल्याणार्थ कोष को सुरक्षा सर्वोपरि थी। कोष को राज्य का मूल माना जाता था। जब मूल नहीं रहेगा फिर अन्य भाग उसका कहाँ से आयेगा ? अतः कोष को राष्ट्र का मूल बल माना गया है। बिना कोष के शासक कोई भी कार्य नहीं कर सकता है। कोषहीन शासक के मित्र, परिजन अधिकारी और कर्मचारीगण उसको छोड़कर शक्ति-शाली शत्रु से मिल जाते हैं। अतः अपनी रक्षा के साथ-साथ कोष की रक्षा का भी ध्यान रखे। जैसे शुक्र का विचार है :—

"इस प्रकार अपनी प्रजा की रक्षा करने में समर्थ राजा कोष की सुरक्षा

---

१. मूलाच्चतुर्गुणा वृद्धिर्गृहीता धनिकेन च ।
अधमर्णान्नि दातव्यं धनिने तु धनं तदा ॥ शुक्र ४।१३३०

२. ये सैन्यधनिकास्तेभ्यो यथार्हां भृतिमावहेत् ।
पारदेश्यं च त्रिंशांशमधिकं तद्धनव्ययात् ॥ शुक्र ४ १३२८

करे क्योंकि बल का मूल कारण कोष होता है और कोष का मूल बल को समझना चाहिये।''[1]

राजा को अपने कोष की वृद्धि माली के कार्य के समान करनी चाहिये और अपनी प्रजा की रक्षा से शत्रुओं को कर देने वाला बनाकर उनके धन से कोष की वृद्धि करनी चाहिये।[2]

शुल्क का लक्षण:—शुल्क किसे कहते हैं ? इस पर आचार्य शुक्र ने शुल्क का लक्षण इस प्रकार बताया है—

विक्रय और क्रय करने वालों से जो राजभाग लिया जाये उसे 'शुल्क' कहते हैं।[3]

शासक यदि शुल्क न लेगा तो अपने शासनाधिकारियों को वेतन कैसे और कहाँ से देगा ? शुल्क लेते समय इस बात का अधिक ध्यान रखा गया है कि शुल्क जीवनोपयोगी वस्तुओं पर इतना अधिक न लगे कि उसका सारा भार क्रेताओं पर पड़ जाये। अतः आचार्य शुक्र ने शुल्क लेने में इस सिद्धान्त को माना है:—

'राजा लाभ को देखकर ही क्रेता से शुल्क ले।'[4]

''राजा को शुल्क माली के समान लेना चाहिये। जैसे माली पेड़ पौधों की रक्षा करता हुआ उनसे फूल और फल लेता है। अतः मालाकार के समान शुल्क लेना चाहिये न कि कोयला बनाने वाले के समान।''[5]

अधिक शुल्क लिए जाने से व्यापारी वर्ग भी जनता का शोषण करते हैं। इसलिये आचार्य शुक्र ने माली के समान वृक्ष की रक्षा करते हुये फल लेने की उपमा दी। माली को अपने हाथों से लगाये हुए पेड़ों से अधिक स्नेह होगा। ठीक उसी प्रकार अच्छे शासक को आचार्य शुक्र ने प्रजावर्ग से शुल्क लेने में माली का उदाहरण दिया है। कोयला बनाने वाले व्यक्ति के साथ तुलना नहीं

---

१. तथा कोपस्तु संधार्यः स्वप्रजा रक्षणक्षमः।
बलमूलो भवेत्कोषः कोषमूलं बलं स्मृतम् ॥ शुक्र ४।१३०

२. मालाकारस्यवृत्यैव स्व प्रजा रक्षणेव च।
शत्रु हि करदीकृत्यतद्धनैः कोषवर्धनम् ॥ शुक्र ४।१३३

३. विक्रेतृक्रेतृतो राजभागः शुल्क मुदाहृतम् ॥ शुक्र ४।२१७

४. लाभं दृष्ट्वा हरेच्छुल्कं क्रेतृतश्च सदानृपः। शुक्र ४।२२१

५. मालाकार इव ग्राह्यो भागो नागारंकारवत् ॥ शुक्र ४।२२३

की, क्योंकि कोयला बनाने वाला तो सम्पूर्ण जंगल को कोयला बनाने के काम में लायेगा। अतः शुल्क लेने की एक मात्रा निर्धारित की है। शुल्क शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है।

आचार्य शुक्रकी सुनियोजित अर्थव्यवस्थाः—कोष एवं राज्य के आय व्यय को दृष्टि में रखते हुये बुद्धिवान् शासक को अपनी अर्थव्यवस्था चलानी चाहिये। जितनी चीजों की आवश्यकता हो उन्हें ही प्रयोग में लाना चाहिये। किसी भी वस्तु का अपव्यय नहीं करना चाहिये। प्रत्येक कार्यक्रम सुनियोजित स्थिति में होना चाहिये। जैसेः—

'राजा उन्हें अच्छी प्रकार धारण करे और एक वर्ष में एक लाख रुपया संचय करे। संभार, दान, उपभोग के लिए डेढ़ हजार रुपया व्यय करे।'[1]

'लेखन कार्य पर सौ रुपये प्रतिमास स्त्री और पुत्रों के लिए तीन सौ रुपये एवं विद्वानों के लिये प्रतिमास दो सौ रुपये व्यय करे।'[2]

'घुड़ सवारों के लिए, पैदल सेना के लिये चार हजार रुपये, हाथी, ऊँट, बैल, और युद्धयन्त्र को चलाने वालों के लिए चार सौ रुपया प्रति मास राजा व्यय करे।'[3]

'इतना व्यय होने के पश्चात् शेष धन को कोष में जमा कर देना चाहिये और अन्य किसी प्रकार व्यय नहीं करना चाहिये।'[4]

इस प्रकार आय को आवश्यक व्यय कार्यों में वितरित कर शेष धन को कोष में जमा कर अर्थ का दुरुपयोग नहीं किया जाता था। पूर्व वर्णित उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि अर्थ व्यवस्था को कैसे सुन्दर ढंग पर सुनियोजित किया हुआ था।

अपव्यय को इसमें रोका गया है। सुनियोजित आर्थिक व्यवस्था रहने से उच्च अधिकारी राष्ट्र के धन का दुरुपयोग नहीं करते और राष्ट्र आर्थिक संकट

---

१. धारयेन्नृपतिः सम्यक् वत्सरे लक्षकर्षभाक्।
संभार दान भोगार्थ धनं सार्धं सहस्रकम्॥ शुक्र ४।८८९

२. लेखकार्ये शतं मासि मन्त्र्यर्थे तु शतत्रयम्।
त्रिशतं दार पुत्रार्थे विद्वर्थे शतद्वयम्॥ शुक्र ४।८९०

३. साद्यश्यपदगार्थं हि राजा चतुः सहस्रकम्।
गजोष्ट्रवृषनालार्थं व्ययी कुर्याच्चितुः शतम्॥ शुक्र ४।८९१

४. शेष कोपधनं स्थाप्यं व्ययी कुर्यान्नि चान्यथा ॥ शुक्र ४।८९२

में नहीं पड़ता। जिस राष्ट्र की ये योजनायें हैं उस राष्ट्र की आर्थिक स्थिति को देखकर ही योजनाओं का निर्माण किया गया है। अनुमानित आयपत्र एक सुनियोजित पद्धति पर बना होता था कि जिसमें राष्ट्र हित देखकर बाद में कटौती करने की आवश्यकता ही नहीं होती थी। आचार्य शुक्र का यही सफल अर्थशास्त्री होने का प्रमाण स्पष्ट दिख रहा है।

किन साधनों के द्वारा अर्थ का उपार्जन किया जाये :—अर्थ के बिना जीवन यापन होना कठिन है और अर्थ को ही जगत के व्यवहार में सर्वोपरि माना गया है। पुनः जिस अर्थ का इतना महत्त्व है अन्ततोगत्वा वह अर्थ कैसे उपार्जन किया जाये ? क्या बिना परिश्रम के दूसरों का एकत्रित किया हुआ धन अपहरण करने से अर्थ संग्रह होगा ? अच्छा समाज इस प्रकार के कार्यों को अच्छा नहीं मानता है। बेशक बुरा समाज इस कार्य को भी उद्योग पूर्ण कार्य मानकर अच्छा माने किन्तु अच्छा समाज इन्हें मान्यता नहीं देता। यथा शुक्राचार्य ने भी माना है :—

"दूसरों का धन अपहरण करने वाले जगत में चोर और जार दोनों निन्दित कहे गये हैं।"[1]

एक तरह आचार्य शुक्र दूसरों के अर्थ का अपहरण बुरा मान रहा है और दूसरी ओर शोषण, अपहरण के द्वारा ही पूँजीपति व्यवस्था का प्रतिपादन कर रहा है :—

" जिस प्रकार व्याध मृगों का वध करने के लिये सुस्वर में गीत सुनाता है उसी प्रकार माया (कपट) के बिना मनुष्यों को अधिक धन नहीं मिल सकता।"[2]

एक दूसरे उदाहरण द्वारा इसे और स्पष्टता किया गया है :—

"विना दूसरे के धन को हरण किये विना कोई भी महाधनी नहीं बन सकता और माया (कपट) के विना वह धन अपनी इच्छा के अनुसार मिल भी नहीं सकता।"[3]

अर्थ को मनुष्य दोनों प्रकार से ग्रहण करता है किन्तु प्राचीन भारतीयों का

---

१. परस्व हरणे लोके जार चोरौतुनिन्दितौ ॥ शुक्र ४।१२७४

२. व्याधोमृगवधं कर्तुं गीतं गायति सुस्वरम् ।
मायां विना महाद्रव्यं द्राङ् न संपाद्यते जनैः ॥ ४।१२७७

३. विना परस्व हरणान्न कश्चित् स्यान्महाधनः ।
मायया तु विनातद्धिन साध्यं स्याद्यथेप्सितम् ॥ शुक्र ४ १२७८

दृष्टिकोण है कि किसी को दुख देकर उसका अर्थ ग्रहण मत करो। वैसे तो आधुनिक युग में भी साम्यवादी एवं समाजवादी विचारधारा के लोग भी यह अनुभव करने लगे हैं कि एक पूंजीपति अपने श्रमिकों से अधिक कार्य लेकर अधिक पूंजी प्राप्त करता है और उन्हें उनके श्रम के अनुसार–लाभ नहीं देता है। वह श्रमिकों का शोषण करता है। संसार के श्रमिक एक होकर इस शोषणवाद के विरुद्ध नारा लगा कर क्रान्ति लाना चाहते हैं और कार्ल मार्क्स आदि ने इस व्यवस्था के विरुद्ध समाज का ध्यान आकर्षित किया है।

"वस्तुतः अधिक धन का संचय करना भी महा दुख है और उसकी रक्षा करने में उससे भी अधिक चौगुना दुख होता है, यदि क्षणमात्र भी अर्थ रक्षा की उपेक्षा की जाये तो शीघ्र ही वह नष्ट हो जाता है।"[1]

एकमात्र उपाय अर्थ प्राप्त करने का उद्योग ही है। परिश्रम से प्राप्त वस्तु का व्यक्ति कभी भी दुरुपयोग नहीं करता। यद्यपि प्रारम्भिक स्थिति में परिश्रम से अर्थ उपार्जन करने में महान् कष्ट तो होता ही है किन्तु उपार्जन के पश्चात् उपभोग करने में अत्यन्त सुख की प्राप्ति होती है। इस के विपरीत बुरे मार्गों से अर्थ उपार्जन करने वाले को उपार्जन में तत्काल लाभ तो मिल जाता है किन्तु वह सुख पूर्वक उस अर्थ का उपभोग नहीं कर सकता है। अतः प्राचीन भारतीयों ने उद्योग को ही **अर्थ प्राप्ति का मूल कारण माना है। वह उद्योग, कृषि**—व्यापार और आजीविका के माध्यम से ही प्राप्त कर सकता है। जैसे:—

उद्योगी पुरुष सिंह रूपी लक्ष्मी को प्राप्त कर लेता है।[2]

व्यापार में ही लक्ष्मी (अर्थ) निवास करती है।[3]

आजीविका में लगा हुआ मनुष्य सदा समाज के कल्याण की बात सोचता है।

आचार्य शुक्र ने अपने शुक्र नीतिसार के अन्तिम भाग में अर्थ प्राप्ति के उपायों को बड़े सारगर्भित शब्दों में व्यक्त किया है:—

"संसार में मनुष्य अर्थ का सेवक बन कर कार्य करता है किन्तु अर्थ किसी का भी दास नहीं है।"[4]

---

१. अर्जने तु महद् दुःखं रक्षणे तच्चतुर्गुणम्।
क्षणं चोपेक्षितं यत्तद्विनाशं द्राक्समाप्नुयात्॥ शुक्र ४।१४८

२. उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी।

३. व्यापारे वसते लक्ष्मी।

४. अर्थस्य पुरुषो दासोऽस्त्वर्थो न कस्यचित्॥ शुक्र ४।१२८३

इस उद्धरण से तो जगत में अर्थ का ही गुणगान किया गया है किन्तु जो अर्थ संसार के समस्त अप्राप्य सुखों को भी प्राप्त करा देता है वह अर्थ कैसे प्राप्त किया जाये ? इस पर शुक्र ने अपना अन्तिम निर्णय देकर अर्थ प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त किया है :—

"अतः अर्थ प्राप्ति के लिये तत्पर होकर मनुष्य सदा प्रयत्न (उद्योग) करे।"[1]

वास्तविक रूप से अर्थ का इस प्रकार संग्रह करना चाहिये जिससे मनुष्य कभी दुख अनुभव न करे और अर्थ के प्रति इतना भी सम्मोह न करे कि अर्थ को ही सब कुछ समझकर अनर्थपूर्ण कार्य करने लगे। अतः इन सभी समस्याओं को देखते हुए आचार्य शुक्र ने अर्थ के संग्रह और व्यय करने में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है :—

"कृपण के समान धन का संरक्षण करे और समय के आने पर विरक्त के समान दान देदे एवं सदा वस्तु के यथार्थ ज्ञान के लिए स्वयं प्रयत्न करे।"[2]

उद्योग युक्त कार्यों में लगा हुआ व्यक्ति ही एक दिन अपने उद्देश्य को पूर्ण कर लेता है। अर्थ प्राप्ति का सभी प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों ने उद्योग को ही मूल कारण माना है। सामाजिक नियमों का परिपालन करते हुए अच्छे व्यक्ति को अर्थ का संचय करना चाहिये।

कार्य सिद्धि के लिये आचार्य शुक्र ने दो प्रकार की युक्तियाँ बताई है। १—छलरूपा २—सत्परूपा। इन दोनों युक्तियों में छलरूपा युक्ति को अच्छा नहीं माना है क्यों कि छलरूपा वृत्ति से महान् लोगों का भी आचरण बुरा हो जाता है।

"कार्य सिद्धि के हेतु युक्ति, दो प्रकार की बताई गई है। जो लोग कपटी हैं वे छलरूपी युक्ति का ही आश्रय लेते हैं किन्तु कपट करना अच्छे लोगों के 'शील' को नाश कर देता है।'[3]

---

१. अतोर्थाय यतेतैव सर्वदा यत्नमास्थितः ॥ शुक्र ४।१२८३

२. संरक्षयेत्कृपणवत् कालेदद्याद्विरक्तवत् ।
वस्तुयाथात्म्य विज्ञाने स्वयमेवयते त्सदा ॥ शुक्र ४।१५४

३. युक्तिश्छलात्मिका प्रायस्तयान्या योजनात्मिका ।
यच्छद्मचारी भवति तेन च्छद्म समाचरेत् ।
अन्यथा शीलनाशाय महतामपि जायते ॥ शुक्र ४।१३००

उत्थानहीनो राजा हि बुद्धिमानपि नित्यशः।
प्रधर्षणीयः शत्रूणां भुजंग इव निर्विषः।।

महाभारत शान्तिपर्व ८८ अध्याय २७ श्लोक

[जो राजा उद्योगहीन होता है, वह बुद्धिमान् होने पर भी विषहीन सर्प के समान सदैव शत्रुओं के द्वारा पराजित होता रहता है]

३

आचार्य भीष्म पितामह

तृतीय अध्याय

आचार्य भीष्म पितामह

परिचय

आचार्य भीष्म पितामह का प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों में अपना एक विशिष्ट स्थान है। ये महाभारत काल में हुए हैं। महाभारत में उन्होंने कौरवों की बहुत बड़ी सहायता की। यद्यपि भीष्म पितामह यह अच्छी प्रकार जानते थे कि कौरवों की नीति अच्छी नहीं है और ये असत्य मार्ग पर चल रहे हैं किन्तु कौरवों का अन्न खाते थे जिसके कारण उनका मन कौरवों के हित में अधिक लगा रहता था। महाभारत के युद्ध में सत्य की जीत हुई और असत्य की पराजय हुई। आचार्य भीष्म पितामह बाण शय्या पर पड़ गये और उनका दूषित अन्न का दूषित रक्त जब समाप्त होने लगा तभी उन्हें वास्तविकता का पता चला।

आचार्य भीष्म महाराजा शान्तनु के पुत्र थे। पिता के सुख के लिए इन्होंने आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया। भीष्म अपने बाल्यकाल से ही दृढ़ निश्चयी था किन्तु पिता के दूसरा विवाह करने पर दूसरे पुत्र के उत्तराधिकार के लिए इन्होंने कठोर भीष्मव्रत धारण किया, जिससे इनका नाम 'भीष्म' पड़ गया। आगे चल कर महाभारत काल में इन्होंने कौरवों की पूर्ण रूप से सहायता की और ये सभी कौरव पाण्डवों में अवस्था में सबसे बड़े थे जिससे इनका नाम 'भीष्मपितामह' प्रसिद्ध हो गया।

महाभारत का रचनाकाल ईसा से चार सौ वर्ष पूर्व विद्वानों ने माना है। इसके साथ ही साथ कुछ परम्पराएँ ऐसी भी है जिनमें महाभारत का रचनाकाल १ हजार ई० पू० माना जाता है। कुछ इतिहासकारों का ऐसा भी विचार है कि मूल महाभारत बहुत पहले लिखा गया है उसके पश्चात् इसके स्वरूप में कुछ विस्तार हुआ है। महाभारत के अध्ययन और विशेषकर 'शान्तिपर्व' के राजधर्म प्रकरण का परिशीलन करने पर विदित होता है कि आचार्य भीष्म पितामह राज्य की रक्षा, प्रजा के जीवनोपार्जन और व्यक्ति की जीवन रक्षा के लिए राजा को ही सर्वोच्च अधिकारी मानते हैं। राजा का ही परम कर्तव्य है कि वह

अपने प्रबन्ध से प्रजा में शान्ति, सुरक्षा और जीविका का पूर्ण प्रबन्ध रखे। जिस राज्य की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ और उन्नत नहीं वह राष्ट्र अधिक दिन स्थिर और उसकी प्रजा भोजन-आच्छादन से कभी भी सुखी नहीं रह सकती।

महाभारत के युद्ध समाप्त होने के पश्चात् कौरव पराजित हो गये और पाण्डव विजेता घोषित हुए। अकस्मात् सबसे बड़े पाण्डु पुत्र युधिष्ठिर को युद्ध में अपने प्रिय और श्रेष्ठ लोगों के मारे जाने पर महान् कष्ट हो रहा था। अतः वह राज्य नहीं करना चाहता था। उसको सभी अच्छी प्रकार समझा चुके थे। अन्त में कृष्ण ने उसे राज्य करने एवं राज्य की आर्थिक व्यवस्था को सुनियोजित ढंग पर चलाने के लिए शिक्षा दी परन्तु उसने किसी की न मानी। अन्त में उस युग के महान् अर्थशास्त्री और परशुराम के प्रिय शिष्य भीष्म पितामह 'बाणशय्या' पर पड़े हुये थे। वे ज्ञान के भण्डार थे उनके संसार से विदा होने पर वह ज्ञानराशि भी लुप्त हो जाती। अतः कृष्ण ने उस ज्ञान से संसार को लाभ उठाने के लिए भीष्म पितामह से युधिष्ठिर को उस ज्ञान को देने के लिए प्रार्थना की क्योंकि आचार्य भीष्म पितामह के जीवन के केवल छप्पन दिन शेष रह गये थे। श्रीकृष्ण के अधिक आग्रह करने पर आचार्य भीष्म पितामह ने उनसे शक्ति देने की प्रार्थना की और शक्ति, चेतना पाकर कर्तव्यविमूढ़ महाराजा युधिष्ठिर को महाभारत महाकाव्य के शान्तिपर्व में वर्णित उपदेशों के माध्यम से महाभारत के युद्ध में राष्ट्र की आर्थिक स्थिति के छिन्न-भिन्न हो जाने के पश्चात् पुनः उस आर्थिक व्यवस्था को किस प्रकार संगठित किया जा सकता है इसका विस्तृत विवेचन कर के कार्य करना बताया है। अच्छे राजा को अपने राज्य की आर्थिक स्थिति किस प्रकार सुधारनी चाहिये, प्रजा को किस प्रकार सुखी रखा जा सकता है? अर्थ क्या है? उसका जीवन में क्या महत्व है? इस प्रकार के सभी प्रश्नों का जो उत्तर भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर को दिया वह आगे इस प्रकरण में विस्तृत रूप से वर्णित किया गया है।

प्राचीन भारतीय विचारकों के तीन प्रकार के विचारों को मैंने तीन रूपों में पुस्तकाकार देने की चेष्टा की है, जिससे प्राचीन भारतीय विचारकों के विस्तृत चिन्तन का ज्ञान, अध्येताओं को हो सकेगा।

१—प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक : इसमें केवल अर्थ उपार्जन, अर्थ सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। २—प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारक :—इसमें प्राचीन भारतीय विचारकों के राजनीति सम्बन्धी विचारों का विवेचन किया गया है। राज्य का संचालन कैसे और किन लोगों के

द्वारा किया जाये। प्राचीन भारतीय राजनीति को इसमें सुविस्तृत रूप में लिखा गया है। ३—प्राचीन भारतीय सामाजिक विचारक : इसमें सामाजिक संरचना को कैसे रखा जाये एवं प्राचीन भारतीयों के समाज सम्बन्धी विचारों को इसमें स्पष्ट किया गया है। इसमें अर्थ सम्बन्धी ही चर्चाएँ हैं।

महाभारत के विषय में विदेशी विद्वानों के उसकी भाषा एवं घटनाओं को देखते हुये भिन्न-भिन्न प्रकार के मत हैं। वैसे पाश्चात्य लेखकों की यह धारण है कि महाभारत महाकाव्य किसी एक काल की रचना नहीं है अपितु समय-समय पर इसमें परिवर्धन हुआ है और बहुत अन्त में यह इस विस्तृत रूप में प्रकाश में आया। परम्परावादी लोगों का ऐसा विश्वास है कि वेदव्यास जैसे वक्ता और गणेश जैसे लेखक ने अविरल गति से इस महाकाव्य की रचना की है। पाश्चात्य विद्वानों की इस महाभारत की तिथि निश्चय करने में कुछ पक्षपात पूर्ण व्यवहार की झलक अवगत होती है। यह माना जा सकता है कि 'महाभारत महाकाव्य' जिस आकार में वर्तमान समय में हमारे समक्ष है वह सम्भवतः ईसा ५ ६ शताब्दी से पूर्व न रहा हो किन्तु ५ वीं शताब्दी ईसा पूर्व मानना भी प्राचीन भारतीय वाङ्मय के विपरीत है। छठी शताब्दी ईसा पूर्व इतिहासकारों ने गौतम बुद्ध और महावीर को माना है और इस दोनों धार्मिक सुधारकों ने वैदिक धर्म के विरुद्ध ही 'धार्मिक आन्दोलन' छेड़ा था। जिस धर्म के प्रति बौद्ध और जैनों का आन्दोलन चला, उस धर्म को इस स्थिति में पहुँचते-पहुँचते कितना समय लग चुका होगा? किसी भी वस्तु का विनाश तो शीघ्रता से हो जाता है किन्तु विकास होने में कई शताब्दियों का समय लगता है। इस प्रमाण के लिये हमारे सामने इतिहास साक्षी है। अतः भारतीय दृष्टिकोण से महाभारत का यह काल और आचार्य भीष्म पितामह का यह समय निर्धारण युक्ति संगत नहीं दिखता।

डाक्टर विन्टरनित्स ने महाभारत का काल ४ शताब्दी ईसा पूर्व स्वीकार किया है।

हॉपकिन्स ने भी महाभारत का रचनाकाल चौथी शताब्दी ईसा पूर्व ही माना है।

मैकडोनेल केवल पूर्व वर्णित विद्वानों से कुछ निष्पक्ष भाव से निर्णय करने की ओर प्रवृत्त हुआ है और उसने ईसा से ५ वीं शताब्दी पूर्व महाभारत का रचना-काल माना है। इन तथ्यों के आधार पर आचार्य भीष्म पितामह का जन्म काल भी ४,-५ शताब्दी ईसापूर्व के लगभग ही माना जाता है।

कुछ विद्वानों की महाभारत के अन्तर्गत शान्तिपर्व के उपदेष्टा आचार्य भीष्म पितामह के विषय में एक बहुत बड़ी शंका है। उनका कहना है कि महाभारत में भीष्म पिताहम एक काल्पनिक पात्र है। इस नाम का महाभारत में कोई उपदेष्टा था ही नहीं। अतः प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों में भीष्म पितामह का नाम ही नहीं है।

यदि आचार्य भीष्म पितामह को काल्पनिक व्यक्ति गिना जाता है तो क्या महाभारत महाकाव्य को भी कल्पनापूर्ण कहा जायेगा? महाभारत में भीष्म पितामह का अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। काशी राज की तीन पुत्रियों अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका को भीष्म पितामह ही जीत कर लाये थे किन्तु उन्होंने अपने आजन्म ब्रह्मचारी रहने का भीष्म व्रत लिया हुआ था। अतः अपने छोटे भाई को उन्हें दिया किन्तु उसने भी स्वीकार नहीं किया जिससे वे दुखी हो गईं और अन्त में अम्बिका ने अपने अपमान होने के प्रतिशोध को शिखण्डी बन कर लिया। वही अर्थशास्त्र के विद्वान् आचार्य भीष्म पितामह कौरवों के अन्न को खाकर युद्ध में शिखण्डी के द्वारा ही परास्त हुए।

अन्ततोगत्वा यह मानना ही पड़ेगा कि महाभारत के सभी उपाख्यानों का उद्देश्य सामाजिक संरचना को ठीक रखना एवं आर्थिक योजनाओं का सुचारु रूप से संचालन करना। था पाण्डवों के शासन की आर्थिक स्थिति महाभारत के युद्ध के पश्चात् छिन्न-भिन्न हो चुकी थी। उस आर्थिक स्थिति को सुधारने में आचार्य भीष्म पितामह के आर्थिक विचारों ने ही आर्थिक विकास में बहुत बड़ा कार्य किया। यद्यपि यह सब काल्पनिक ही क्यों न हो किन्तु आर्थिक विकास की दृष्टि से इन विचारों का भारतीय अर्थशास्त्र में कुछ न कुछ महत्त्व तो अवश्य ही है। इस कल्पना में भी विद्वानों को वास्तविकता से देखना चाहिये कि क्या सत्य है और क्या असत्य है। भीष्म पितामह ने कौरवों के यहाँ आश्रय लेकर उनके अन्न को खाकर कभी न्यायविरुद्ध कार्यों का विरोध नहीं किया किन्तु बाण शय्या पर पड़े रहने पर भीष्म ने माना कि मैं कौरवों का अन्न खाकर सब कुछ जानने पर भी कुछ नहीं कर सका।

इस प्रकार की सभी घटनायें महाभारत में आचार्य भीष्म पितामह का अस्तित्व स्वीकार का रही हैं। प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्री भीष्म की विद्वत्ता को उस युग के महापुरुष कृष्ण जानते थे। जिन्होंने युधिष्ठिर को उस आर्थिक विचारक भीष्म से राज्य की आर्थिक स्थिति को सुव्यवस्थित करने के लिये—आर्थिक विचारों को जानने के लिये आग्रह किया। आचार्य भीष्म ने अर्थ-

व्यवस्था को कैसे सुधारा जाये इस पर जो कुछ कहा वह आगे इस प्रकरण में विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है।

महाभारत के युद्ध समाप्त होने के पश्चात् पाण्डवों के सबसे बड़े भाई धर्मराज युधिष्ठिर को युद्ध में मारे गये अपने स्वजनों के प्रति दुख होने लगा और उस दुख के कारण उन्हें अपने प्राप्त राज्य से उदासीनता होने लगी। धर्मराज को कुछ भी अच्छा न लगता था। वे चिन्तित रहते थे और राज्य के प्रति सर्वथा उदासीन हो गये थे। जिस राज्य को पाने के लिए इतना कष्ट झेला और न्याय एवं सत्य की रक्षा के लिए इतना बड़ा महाभारत हुआ, उसकी वह चिन्ता ही नहीं कर रहा था। इस पर महारथी अर्जुन ने युधिष्ठिर को किंकर्तव्य विमूढ़ देखकर कहा कि "नपुंसक और दीर्घसूत्री को राज्य कैसे प्राप्त हो सकता है? क्रोध के वशीभूत होकर इतने राजाओं का विनाश किस लिये कराया यदि राज्य ही नहीं करना था तो।

'हे राजन्! जो किसी का धन अपहरण कर लेता है वह उसके धर्म को भी नाश कर देता है। हमारे धन के अपहरण किये जाने पर हम कैसे किसी को क्षमा कर सकते हैं।'[1]

सांसारिक व्यवहार में अर्थ का महत्त्व—मनुष्य बिना अर्थ के सांसारिक व्यवहार को नहीं चला सकता है। उसे संसार में रहना अत्यन्त कठिन हो जायेगा। हां निष्क्रिय और जगत के व्यवहार को छोड़कर वह संन्यासी हो सकता है किन्तु धनहीन रहकर जगत के व्यवहार को नहीं चला सकता है। जिस प्रकार पतित व्यक्ति शोचनीय है उसी भाँति निर्धन भी, निर्धन और पतित में किसी प्रकार का भेद प्रतीत नहीं होता।

"जिस प्रकार पर्वतों से अनेक नदियाँ निकलती हैं उसी प्रकार अधिक एकत्रित धन से सभी कार्यों का सम्पादन होता है।"[2]

"अर्थ से ही धर्म और काम एवं स्वर्ग की प्राप्ति होती है। लोगों के जीवन का निर्वाह भी अर्थ के बिना सिद्ध नहीं हो सकता है।"[3]

---

१. धर्मं संहरते तस्य धनं हरति यस्य सः।
ह्रियमाणे धने राजन् वयं कस्य क्षमेमहि॥ महा., शान्ति ८ अध्याय १३ श्लोक

२. अर्थेभ्यो हि विवृद्धेभ्यः सम्भृतेभ्यस्ततस्ततः।
क्रियाः सर्वाः प्रवर्तन्ते पर्वतेभ्य इवापगाः॥ महा. शान्ति ८।१६

३. अर्थाद् धर्मश्च कामश्च स्वर्गश्चैव नराधिप।
प्राणयात्रापि लोकस्य विना ह्यर्थं न सिद्धयति॥ महा. शान्ति ८।१७

अर्थ ही सब वस्तुओं का मूल स्रोत है—"जिस प्रकार भयंकर गर्मी पड़ने पर कुसरितायें (छोटी-छोटी नदियाँ) सूख जाती हैं, उसी प्रकार अर्थहीन हुए अल्पवृद्धि वाले व्यक्ति के समस्त कार्य छिन्न-भिन्न हो जाते हैं।"[1]

अर्थवान् व्यक्ति ही संसार में कुछ न होने पर भी संसार में सब कुछ है और सभी लोग उसके शुभचिन्तक हैं। जैसा कि अर्जुन ने युधिष्ठिर को स्पष्ट करके बताया है :—

"जिसके पास अर्थ होता है उसी के सब मित्र होते हैं, जिसके पास अर्थ है उसी के सभी बन्धु बान्धव हैं। जिसके पास धन है वही संसार में पुरुष कहलाता है और जिसके पास अर्थ है, वही पण्डित (विद्वान्) माना जाता है।"[2]

निर्धन व्यक्ति अर्थ के बिना अपनी किसी भी कामना की पूर्ति नहीं कर सकता है। अर्थवान् व्यक्ति ही अर्थ से अर्थ उपार्जन कर सकता है। जैसे :—

"यदि धनहीन व्यक्ति अर्थ की कामना करता है तो उसके लिये प्रबन्ध होना सम्भव नहीं है, जैसे हाथी के पीछे बड़े-बड़े हाथी चले आते हैं उसी प्रकार अर्थ से अर्थ बंधा हुआ है।"[3]

यहाँ तक देखा जाता है कि अर्थ में इतनी शक्ति है कि उसके बिना जगत के चारों पदार्थ भी प्राप्त नहीं हो सकते। यथा :—

"हे नराधिप अर्थ से धर्म, काम, स्वर्ग, हर्ष की प्राप्ति और क्रोध पर जय, और शास्त्रों का अध्ययन एवं शत्रुओं का दमन ये सब पूर्ण हो जाते हैं।"[4]

अर्थवाला मनुष्य इस लोक में ही नहीं अपितु परलोक में भी सुख पाता है। धनहीन दुख में ही अपना समस्त जीवन व्यतीत करता है। निर्धन व्यक्ति का जन्म अच्छे कुल में होने पर भी उसे कोई नहीं पूछता। यदि संसार का सबसे भ्रष्ट व्यक्ति अर्थवान् है तो वह सबसे उच्च कुल का और सबसे उत्तम है।

---

१. अर्थेन हि विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः।
विच्छिद्यन्ते क्रिया सर्वा ग्रीष्मे कु-सरितो यथा ॥ महा. शान्ति. ८।१८

२. यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः।
यस्यार्थाः स पुंमाल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः ॥ महा. शान्ति ८।१९

३. अधनेनार्थ कामेन नार्थ शक्यो विधित्सितुम्।
अर्थैरथा निबध्यन्ते गजैरिव महा गजाः ॥ महा. शान्ति ८।२०

४. धर्मः कामश्च स्वर्गश्च हर्षः क्रोधः श्रुतं दमः।
अर्थादेतानि सर्वाणि प्रवर्तन्ते नराधिपः ॥ महा. शान्ति. ८।२१

अर्थ को समस्त वस्तुओं का मूल स्रोत मानते हुए शान्ति पर्व में इस प्रकार वर्णन हुआ है :—

"अर्थ के द्वारा ही कुल की प्रतिष्ठा होती है और धन से ही धर्म की वृद्धि होती है। हे पुरुषों में श्रेष्ठ ! निर्धन व्यक्ति के लिये सुख देने वाला यह लोक है न परलोक ही है।"[1]

अर्थ को जगत के व्यवहार का मूल माना गया है। इस जगत को प्राचीन भारतीयों ने कर्म भूमि माना है। कर्म करने का मनुष्य को फल अवश्य मिलता है।

गीता में वर्णन आया है कि पुण्यों के नष्ट होने पर पुनः शुभ कर्मों के उपार्जन के लिए इस कर्म भूमि में आना पड़ता है। यथा :—

'वे उस विशाल स्वर्गलोक (सुखों को) को भोगकर पुण्यों के क्षीण होने पर मृ युलोक में आते हैं।"[2]

महाभारत के शान्तिपर्व में कर्मों को अर्थ प्राप्ति का साधन माना गया है। बिना कर्म (परिश्रम) के क्या कोई फल पा सकता है ? जैसे :—

"हे राजन् ! यह कर्मभूमि है और वार्ता की इसमें प्रशंसा की गई है। कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा और अनेक प्रकार के शिल्प ये सबके सब अर्थ प्राप्ति के साधन हैं।"[3]

अर्थ को चारों पदार्थों में प्रमुख स्थान दिया गया है और अर्थ को तीनों पदार्थों का अवयव माना गया है। जैसे कि उस उद्धरण में स्पष्ट हुआ है :—

"श्रुति का विचार है कि धर्म और काम अर्थ के ही दो अवयव हैं। अर्थ की सिद्धि होने पर उन दोनों की भी सिद्धि हो जायेगी।"[4]

---

१. धनात् कुलं प्रभवति धनाद् धर्मः प्रवर्धते।
नाधनस्यास्त्ययं लोको न परः पुरुषोत्तम ॥ महा. शान्ति. ८।२२

२. ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। गीता ९।२१

३. कर्मभूमिरियं राजन्निह वार्ता प्रशस्यते।
कृषिर्वाणिज्यगोरक्षं शिल्पानि विविधानि च ॥ महा. शान्ति.
आपद्धर्म १६७।११

४. अर्थस्यावयवावेतौ धर्मकामाविति श्रुतिः।
अर्थसिद्धया विनिर्वृत्तावुभावेतौ भविष्यतः ॥ महा. शान्ति. आप. १६७।१४

शत्रु की शक्ति से भयभीत हुए राजा को अर्थ का संचय और आवश्यक वस्तुओं का संग्रह करना चाहिये। जैसे :—

"शत्रु की शक्ति से डरे हुए राजा को अर्थ और तेल, चर्बी, मधु, घी, औषधियों का संग्रह करना चाहिये।"[1]

अर्थ हीन व्यक्ति का जीवन जगत में व्यर्थ है। वह जगत में कुछ भी कार्य नहीं कर सकता। यहां तक कि अपने जीवन की रक्षा भी नहीं कर सकता है। उसमें किसी धार्मिक कृत्य करने तक की शक्ति नहीं है। जैसे :—

"अर्थ (धन) हीन व्यक्ति धर्म के कृत्यों को यथा विधि नहीं कर सकता है। जिस प्रकार पर्वत से नदी बहती है, उसी प्रकार धन ही धर्म का उद्गम स्थान है।"[2]

धर्मराज युधिष्ठिर को सभी भाइयों ने समझाया किन्तु वह नहीं माना अन्त में द्रौपदी ने इस प्रकार कहा :—

"नपुंसक व्यक्ति वसुधा का उपयोग नहीं कर सकता है और न अर्थ (धन) को ही प्राप्त कर सकता है।"[3]

अन्त में सभी के समझाने के पश्चात् धर्मराज युधिष्ठिर कृष्ण के पास गये। कृष्ण ने युधिष्ठिर को उसके मन की समस्त शंकाओं के समाधान और अपने राज्य की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिये उपायों को सीखने के विषय में उपदेश दिया। भीष्म पितामह समस्त विद्याओं के पारंगत विद्वान् हैं। तुम उनसे उस ज्ञान को सीखलो।

श्री कृष्ण ने आचार्य भीष्म पितामह के पास जाकर उनसे प्रार्थना की कि आप समस्त विद्याओं के ज्ञाता हैं। अतः अपने ज्ञान से आप राजा युधिष्ठिर के मन के संताप को दूर कीजिये।

हे कुरुप्रवीर! आप के जीवन के अब केवल छप्पन दिन शेष हैं।[4]

"हे वीर भीष्म! जब आप इस लोक से चले जाओगे, उस समय समस्त

---

१. अर्थ संनिचयं कुर्यात् राजा परबलार्दितः।
तैलं वसामधुं घृतमौषधानि च सर्वशः॥ महा. शान्ति. ६९।५६

२. ना धनो धर्म कृत्यानि यथावदनुतिष्ठति।
धनाद्धि धर्मः स्रवति शैलादभि नदी यथा॥ महा. शान्ति. ८।२३

३. न क्लीवो वसुधां भुंक्ते न क्लीवो धनमश्नुते। महा. शान्ति ९।१४।१३

४. पञ्चाशतं षट् च कुरुप्रवीर शेषं दिनानां तव जीवितस्य।
महा. शान्ति. ५१।१४

ज्ञान लुप्त हो जायेगा; अतः ये सभी लोग आपके पास धर्म का विवेचन कराने के लिये आये हैं।"[1]

युधिष्ठिर अपने परिचितों के शोक से अपना सारा शास्त्र ज्ञान खो बैठे हैं, अतः आप इन्हें धर्म-अर्थ युक्त बातें सुनाकर शीघ्र ही इनका शोक दूर कीजिए।

बाण शय्या पर पड़े अर्थशास्त्र के विद्वान् आचार्य भीष्म पितामह ने इस प्रकार अपनी असमर्थता प्रकट की :—

'हे गोविन्द ! ये वाण विष और आग के समान मुझे पीड़ा दे रहे हैं, अतः मुझमें कुछ भी कहने की क्षमता नहीं है।'[2]

श्रीकृष्ण के अधिक आग्रह करने और अपनी शक्ति देने के पश्चात् प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर को अपने राष्ट्र में आर्थिक संगठनों को अच्छी प्रकार से संगठित करने के लिये उपदेश दिये है। पीछे के प्रसंग में जगत के व्यवहार को चलाने के लिए अर्थ को अत्यावश्यक माना है किन्तु अब सबसे विचारणीय यह है कि जिस अर्थ की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है उसकी प्राप्ति कैसे और किन साधनों के द्वारा होगी ?

अर्थ प्राप्ति में उद्योग का महत्व :—

राजा युधिष्ठिर को आचार्य भीष्म पितामह ने राष्ट्र की छिन्न-भिन्न आर्थिक स्थिति को ठीक करने के लिए उपाय बताये हैं। उन उपायों में उद्योग को प्रमुख माना गया है क्योंकि बिना उद्योग के क्या अर्थ कभी प्राप्त हो सकता है ? कभी भी नहीं। जैसे :—

'हे पुत्र युधिष्ठिर ! तुम्हें सदा उद्योग के लिये प्रयत्न करना चाहिये। उद्योग के बिना केवल भाग्यवादी बनकर राजा अर्थ को प्राप्त नहीं कर सकते हैं।"[3]

प्रायः संसार में दो विचारधारा के लोग पाये जाते हैं। एक पुरुषार्थी (उद्योगी) और दूसरे भाग्यवादी। इन दोनों में उद्योग की पूर्ति के लिए और

---

१. अमुं च लोकं त्वयि भीष्म याते, ज्ञानानि नङ्क्ष्यन्त्यखिलेन वीर।
अतस्तु सर्वे त्वयि संनिकर्षे समागता धर्म विवेचनाय॥
महा. शान्ति. ५१।१७

२. न च मे प्रतिभा काचिदस्ति किंचित् प्रभावितुं।
पीड्यमानस्य गोविन्द विषानलसमैः शरैः॥ महा. शान्ति. ५२।२

३. उत्थानेन सदा पुत्र प्रयतेथा युधिष्ठिर।
न ह्युत्थानमृते दैवं राजामर्थं प्रसादयेत्॥ महा० शान्ति० ५६।१४

अर्थ प्राप्ति के लिए उद्योग को ही प्रधान माना गया है। उद्योग के द्वारा ही मनुष्य असम्भव वस्तुओं को भी प्राप्त कर लेता है। अतः इन दोनों में उद्योग ही मुख्य माना गया है। जैसे :—

"साधारणतया ये दोनों भाग्य और उत्थान (उद्योग) ही माने गये हैं, इनमें भी मैं उद्योग को ही प्रधान मानता हूँ। भाग्य तो पूर्व से ही निश्चित है।"[1]

उद्योगी पुरुष कभी भी विघ्नों से नहीं डरता है। वह अपने कर्म के देवता की उपासना में अबाध गति से लगा रहता है। वस्तुतः यही उन्नति का साधन और सफलता का मूलमंत्र है। यथा :—

"यदि तुम्हारे प्रारम्भ किये हुए कार्य में बाधा पड़ जाये तो तुम्हें मन में संताप नहीं करना चाहिये। तुम्हें अपने को पुरुषार्थ में लगाये रखना चाहिये, यही राजाओं की नीति है।"[२]

राज्य की रक्षा, राज्य की उन्नति और राज्य की आर्थिक स्थिति अच्छी तभी हो सकती है जब उस देश का राजा उद्योगी, साहसी, धैर्यशाली, सत्यवादी और चरित्रवान् होगा। अनुद्योगी राजा को देखकर उसकी प्रजा भी अनुद्योगी हो जाती है। अतः राजा का उद्योगी होना ही कल्याणकारी है। जैसे—

"हे युधिष्ठिर! राजा को सदैव ही उद्योग कार्यों में रत होना चाहिये। जो राजा अनुद्योगी बन कर नारी के समान बैठा रहता है उस राजा की कहीं भी प्रशंसा नहीं होती है।"[3]

"बृहस्पति ने राजाओं के लिए उद्योग का महत्त्व बताया है। उद्योग ही राजधर्म का मूल है। इस विषय में जो श्लोक हैं उन्हें मैं यहाँ कहता हूँ।"[४]

उद्योग के बल पर ही व्यक्ति बहुत बड़े-बड़े कार्य कर सकता है और बिना उद्योग के कोई भी कार्य नहीं कर सकता है। उद्योग के बल पर राजा अपने

---

१. साधारणं द्वयं ह्येतद् दैवमुत्थानमेव च।
पौरुषं हि परं मन्ये दैवं निश्चितमुच्यते॥ महा० शान्ति० ५६।१५

२. विपन्ने च समारम्भे संतापं मा स्म वै कृथाः।
घटस्वैव सदाऽऽत्मानं राज्ञामेष परो नयः। महा शान्ति० ५६।१६

३ नित्योद्युक्तेन वै राजा भवितव्यं युधिष्ठिर।
प्रशस्यते न राजा हि नारीवोद्यमवर्जितः॥ महा० शान्ति० ५७।१

४. उत्थानं हि नरेन्द्राणां बृहस्पतिरभाषत।
राजधर्मस्य तन्मूलं श्लोकांश्चात्र निबोधमे॥ महा० शान्ति ५८।१३

विशाल साम्राज्य के लोगों को रोजी रोटी देकर आर्थिक समस्यायें सुलझा देता है और उद्योग के बल पर ही समस्त प्रजा को संगठित कर शक्तिशाली शत्रु को परास्त कर देता है। जिस प्रकार इस उद्धरण में है :—

"उद्योग के बल से इन्द्र ने अमृत प्राप्त किया, उद्योग से ही असुरों का संहार किया और उद्योग से ही स्वर्ग में सम्मान प्राप्त किया।"[1]

उद्योग के बिना संसार में कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकते हैं। उद्योग में ही समस्त कार्यों की सफलता छिपी है। उद्योगहीन व्यक्ति के पास कितनी भी सम्पत्ति क्यों न हो किन्तु वह शीघ्र ही समाप्त हो जाती है और ऐसा व्यक्ति अधिक दिन सुखी नहीं रह सकता है। उद्योग उन्नति का पथ प्रदर्शक और अधिक लोगों को आजीविका देता है। उद्योग दुख, दरिद्रय और आलस्य को दूर करता है। उद्योगी व्यक्ति उद्योग के बल से शक्तिशाली शत्रु को पराजित कर परतन्त्र कर देता है। जैसे इस उद्धरण में अधिक स्पष्ट किया गया है:—

"उद्योगहीन राजा बुद्धिमान् होने पर भी निर्विष (विषरहित) सर्प के समान सदैव पराजित होता रहता है।"[2]

पूर्व वर्णित उद्धरणों से अवगत होता है कि अर्थ प्राप्ति में 'उद्योग' का अत्यन्त महत्त्व पूर्ण स्थान है। यदि ऐसा कहा जाये कि अर्थ प्राप्ति का मूलमंत्र उद्योग है तो अतिशयोक्ति न होगी। वस्तुतः अर्थ अन्ततोगत्वा आये तो कहाँ से आयेगा उसका एकमात्र साधन उद्योग है। चाहे वह व्यापार हो, चाहे खनिज वस्तुएँ हों और चाहे लघु उद्योगों के माध्यम से हो। लघु उद्योगों के माध्यम से प्रारम्भ किया जाने वाला कार्य अधिक हाथों को काम और भरण पोषण की समस्या का समाधान करेगा। इसलिये सभी कालों और सभी परिस्थितियों में उद्योग की प्रथम स्थान में गणना होती रही है और यहाँ तक कि आज के युग का नाम 'औद्योगिक युग' ही हो गया है। आचार्य भीष्म ने तो यहाँ तक माना है कि बिना व्यवसाय के ये सभी वस्तुयें प्राप्त नहीं हो सकती हैं :—

---

१. उत्थानेनामृतं लब्धमुत्थानेना सुरा हताः।
उत्थानेन महेन्द्रेण श्रैष्ठ्यं प्राप्त दिवीह च ॥ महा० शान्ति० ५८।१४

२. उद्योगहीनो राजा हि बुद्धिमानपि नित्यशः।
प्रधर्षणीयः शत्रूणां भुजङ्ग इव निर्विष ॥ महा० शांति० ५८।१६

"विद्या, तप और विपुल धनराशि ये सब व्यवसाय (उद्योग) के बल से ही प्राप्त हो सकते हैं।"[1]

आर्थिक विकास में राजा (शासक) की आवश्यकता :-

संसार का यह सदा से नियम रहा है कि 'जिसकी लाठी उसकी भैंस'। शक्तिशाली व्यक्तियों ने शक्ति हीनों को कष्ट दिया है और देते रहते हैं। वीर सदा से पृथ्वी को भोगता रहा हैं किन्तु समाज में सदा से सभी वीर नहीं रहते हैं। जगत का यह भी एक शाश्वत नियम है कि एक व्यक्ति ही सभी कार्य अबाधगति से और सदैव कुशलता से नहीं कर सकता है। समाज बहुमुखी उन्नति कर सके, अतः प्राचीन भारतीय विचारकों ने वर्ण व्यवस्था के माध्यम से कार्य विभाजन कर लिया था और उस युग की परिस्थिति के अनुसार उन्होंने एवं उस समय समाज ने इस वर्ण व्यवस्था को मान्यता दी हुई थी। परिस्थितियों के अनुरूप युग धर्म में भी परिवर्तन आते रहते हैं और सदा से एवं सभी राष्ट्रों में समाज को चेतना देने वाले विचारकों का जन्म होता रहा है और होता रहेगा। यह ध्रुव सत्य है।

महाभारत के शान्तिपर्व में राष्ट्र के आर्थिक विकास हेतु वर्ण व्यवस्था एवं आश्रम व्यवस्था[2] पर अत्यधिक विवेचन किया गया है। इन दोनों व्यवस्थाओं का उस युग में यह विशेष उद्देश्य रहा था कि राष्ट्र एकता, अखण्डता और सहयोग से उद्योग कर उन्नति करे। सभी को उसकी योग्यता के अनुरूप कार्य और जीविका दी जाये, जिससे जीवनयापन करने में किसी को किसी प्रकार की कठिनाई न हो। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कामों में कुशलता प्राप्त करता हुआ राष्ट्र को लाभ पहुँचाता था। आश्रम व्यवस्था के द्वारा राष्ट्र को यह लाभ होता था कि जीवन भर व्यक्ति दुखों से नहीं जूझता था चारों आश्रमों के सुख-दुख का अनुभव कर अपनी उपलब्धियों से समाज में प्रवेश करने वाले प्राणियों को वास्तविक ज्ञान देता था एवं अन्तिम उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति में लग जाता था। इसके साथ ही साथ यथा समय अपने ज्ञान और आश्रम व्यवस्था के अनुकूल नई पीढ़ी के लोगों के लिए स्थान छोड़ते जाते थे जिससे

---

१. विद्या तपो वा विपुलं धनं वा।
सर्वं ह्येतद् व्यवसायेन शक्यम्। महा० शान्ति० १२०।४५

२. उन पर विस्तृत अध्ययन के लिये मेरी पुस्तक 'प्रचीनभारतीय सामाजिक-संस्थायें' पृष्ठ १ से २२ पर देखे एवं प्राचीन भारतीय सामाजिक। विचारक पुस्तक को देखे।

समाज में इस प्रकार के अर्थ सम्बन्धी स्वार्थ नहीं टकराते थे। अपितु आश्रम बदलते हुए व्यक्ति अपने उत्तराधिकारियों को अपने अनुभवों के आधार पर सभी जीवनोपयोगी बातें बता जाते थे। उनके पदचिह्नों पर अगली पीढ़ी उसी प्रकार चल कर समाज की शृङ्खला को नहीं तोड़ती थी। ऐसे ही समय और वातावरण में प्राचीन भारतीयों ने संस्कृत वाङ्मय की वृद्धि की है। जो साहित्य आज हमारे लिये "औट ऑफ डेट" समय के विपरीत हो गया है और पाश्चात्यों के लिए प्रेरणा का स्रोत हुआ है।

सम्पूर्ण समाज के लोग अपनी शक्ति, योग्यता, कुशलता और उद्योग से राष्ट्र को उन्नत कर सके एवं उनके राष्ट्र निर्माण के कार्यों में समाज का कोई विरोधी तत्व बाधा न उपस्थित कर सके। अतः समाज की रक्षा के लिए न्याय प्रिय, समदर्शी, दुष्टदमन शासक की आवश्यकता हुई[1]। अच्छे शासक का आश्रय पाकर निश्चिन्त और निर्भीक होकर किसान अपने खेत में, व्यापारी अपनी दुकान में, शिक्षक राष्ट्र के निर्माण में, लेखक अपनी रचना में, श्रमिक अपने श्रम में, सैनिक अपने कर्तव्य में और प्रशासक वर्ग अपनी इमानदारी से काम में लग कर राष्ट्र की उन्नति में योगदान देते हैं। प्राचीन भारत में इस प्रकार की शान्ति और उन्नति के लिए अच्छे शासक की आवश्यकता रही और शताब्दियों तक यह व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रही है। किसी भी देश ने शान्त वातावरण में हीं अपने देश के आर्थिक विकास को किया है।

आचार्य भीष्म ने भी युधिष्ठिर को राजा की देश के आर्थिक विकास के लिए क्यों आश्वयकता पड़ी, इस पर विस्तृत रूप से अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है :—

"हे युधिष्ठिर ! राष्ट्र एवं राष्ट्रवासियों का यह मुख्य कर्तव्य है कि वह योग्य राजा का अभिषेचन करें क्योंकि बिना राजा के राष्ट्र बलहीन हो जाता है और चोर, डाकू, जनता को दुखी करने और लुटने लगते हैं।"[2]

इस प्रकार की अव्यवस्था में कोई भी राष्ट्र अपनी आर्थिक स्थिति के विषय में कुछ सोच सकता है ? ऐसी स्थिति में तो जीवन रक्षा करना ही अत्यन्त कठिन है आर्थिक स्थिति पर सोचना तो उससे भी अधिक कठिन है। जैसे :—

---

१. विस्तृत अध्ययन के लिये मेरी 'प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारक' पुस्तक देखें।

१. राष्ट्रस्यैतत् कृत्यतमं राज्ञ एवाभिषेचनम्।
अनिन्द्रमबलं राष्ट्रं दस्यवोऽभिभवन्त्युत ॥ महा० शान्ति० ६७।२

"अराजकता वाले राष्ट्र में धर्म की स्थिति भी बुरी हो जाती है। उस राष्ट्र की जनता परस्पर एक दूसरे को खाने लगती है। अतः उस देश को सर्वथा धिक्कार है।"[1]

भले व्यक्ति ही नहीं अपितु बुरे लोग भी बुराई के भय से दण्डधारी राजा की आवश्यकता अनुभव करते हैं। जैसे कि आचार्य भीष्म पितामह ने कहा है :-

"दूसरों के अर्थ का हरण करनेवाला पापी अराजकता में प्रसन्न होता है किन्तु जब अन्य लुटेरे उसका अर्थ हरण करते हैं तब वह भी राजा को चाहता है।"[2]

'यदि जगत में राजा रक्षा न करे तो अर्थवालों का नित्यप्रति वध, बन्धन और उन्हें परिक्लेश उठाना पड़े एवं किसी भी वस्तु को वे अपनी नहीं कह सकते।'[3]

राजा के न रहने पर समाज में कोई भी सामाजिक क्रिया नहीं हो सकती। यथा :—

"यदि राजा प्रजा की रक्षा न करे तो समाज में विवाह आदि सामाजिक कार्य भी न हो सकें।"[4]

आर्थिक विकास में वार्ता का स्थान—प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक उन्नति के लिये वार्ता को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। वार्ता शब्द के उच्चारण से ही कृषि, वाणिज्य और गोरक्षा का ज्ञान हो जाता है। इन तीनों का सभी प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों ने एक स्वर से महत्व स्वीकार करते हुए मानवीय जीवन के लिए इन्हें अत्यन्त उपादेय माना है। कृषि के बिना अन्न की प्राप्ति नहीं हो सकती और अन्न बिना पशु की सहायता के नहीं हो सकता। पशु और कृषि के बल पर ही वाणिज्य का जन्म हुआ है। इसलिये

---

१. अराजकेषु राष्ट्रेषु धर्मो न व्यवतिष्ठते।
परस्परं च खादन्ति सर्वथा धिगराजकम्॥ महा० शान्ति० ६७।३

२. प्रीयते हि हरन् पापः परवित्तमराजके।
यदास्य उद्धरन्त्यन्ये तदा राजानमिच्छति॥ महा० शान्ति ६७।१३

३. वध बन्धपरिक्लेशो नित्यमर्थवतां भवेत्।
ममत्वं च न विन्देयुर्यदि राजा न पालयेत्॥ महा० शान्ति ६८।१९

४. न विवाहाः समाजो वा यदि राजा न पालयेत्॥ ६८।२२

आचार्य भीष्म पितामह ने "वार्ता को इस जगत के जीवन का मूल कारण माना है।"[1]

"कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य तथा इसी प्रकार के अन्य व्यवसायों को जो जिस कार्य को करने में कुशल हो, उसी के अनुसार अधिक व्यक्तियों के द्वारा यह सम्पन्न कराना चाहिए।"[2]

ऊपर तीनों वार्ता में वर्णित वस्तुओं को जगत की जीविका के लिए अत्यन्त आवश्यक माना गया है। इन तीनों के बिना जीविका कैसे मिल सकेगी। अतः आचार्य भीष्म ने वार्ता का महत्व व्यक्त करते हुए उसमें वर्णित वस्तुओं को जगत के व्यवहार में महत्वपूर्ण माना है। जैसे :—

"कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य ये इस लोक में मनुष्यों की जीविका के साधन है।"[3]

आधुनिक युग में अथवा प्राचीन युग में वार्ता में वर्णित वस्तुओं को जीवन यापन, जीविका चलाने के लिए प्रमुख स्थान दिया गया था। कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य को मुख्य साधन माना गया था। इससे अधिक से अधिक लोग जीविका की समस्या हल कर लेते हैं और अधिक उत्पादन द्वारा राष्ट्र की रक्षा करते हैं एवं अपने आर्थिक जीवन को समुन्नत कर लेते हैं।

चतुर्वर्ग का अर्थशास्त्र में महत्त्व—प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण से चतुर्वर्ग का आर्थिक विकास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। केवल अर्थ को ही सब कुछ नहीं माना अपितु अर्थ के साथ अन्य तीन पदार्थों को भी माना गया हैं। चारों पदार्थों की प्राप्ति से ही मनुष्य का जीवन सफल हो सकता है। यदि चारों पदार्थों या चतुर्वर्ग का ज्ञान नहीं हो तो सभी के उपभोग के बिना मुक्ति प्राप्त ही नहीं हो सकती है। ऐसा प्राचीन भारतीयों का विश्वास है। आचार्य भीष्म पितामह ने भी महाभारत के शान्तिपर्व में इस १—धर्म २—अर्थ ३—काम और ४—मोक्ष पर इस प्रकार अपने विचार प्रकट किये हैं :—

"जिन वस्तुओं को त्रिवर्ग में सन्निहित कर वर्णन किया गया है, उनको तुम एकाग्र मन होकर सुनो १—क्षय २—स्थान और ३—वृद्धि इनको ही

---

१. वार्तामूलो ह्ययं लोक:। महाभारत-शान्तिपर्व ६८ अध्याय ३५ श्लोक

२. कृषि गोरक्ष्य वाणिज्यं यच्चान्यत् किंचिदीदृशम्।
पुरुषैः कारयेत् कर्म बहुभिः कर्मभेदतः॥ महा० शान्ति ८८।२७

३. कृषि गोरक्ष्य वाणिज्यं लोकानामिह जीवनम्। महा० शान्ति० ८९।७

त्रिवर्ग माना गया है। धर्म, अर्थ, काम का समय के अनुसार सेवन करना चाहिए। यदि महीपाल (राजा) धर्म के अनुसार कार्य करे तो चिरकाल तक पृथ्वी का पालन कर सकता है।"[१]

दूसरों का अहित कर अर्थ को कभी भी प्राप्त करने की ओर प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों की दृष्टि ही नहीं थी। जिस अर्थ को हम अपने सुख के लिए एकत्रित कर रहे हैं उसे दूसरों से अपहरण नही करना चाहिये।

क्रूरता का व्यवहार किये बिना ही अर्थ संचय करे।[२]

इस उद्धरण का भी यही तात्पर्य है कि दूसरों को दुखी करके अर्थ एकत्र मत करो। यह प्राचीन भारतीय विचारकों की अर्थ के प्रति दृष्टि और धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के प्रति विश्वास है।

भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर को बताया कि राजा को अर्थ को ही सब कुछ समझकर अर्थलोलुप नहीं होना चाहिये। इस प्रकार वह न प्रजा की रक्षा ही कर सकता है और न अपना ही कल्याण।

आचार्य भीष्म पितामह ने दण्ड का सही उपयोग करने वाले शासक के पास त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की सिद्धि को माना है। जैसे :—

"दण्ड का उचित उपयोग होने पर ही राजा को धर्म, अर्थ और काम में सदा सफलता होती रहती है।"[३]

इस त्रिवर्ग के विषय में धर्मराज युधिष्ठिर ने आचार्य भीष्म पितामह से इस प्रकार प्रश्न पूछा था :—

"धर्म, अर्थ और काम का मूल क्या है ? इन तीनों की उत्पत्ति का कारण क्या है ? ये तीनों पदार्थ कहीं एक साथ मिले हुए और कहीं पृथक्-पृथक् क्यों रहते हैं ?।"[४]

इस प्रश्न का उत्तर आचार्य भीष्म पितामह ने इस प्रकार दिया है :—

---

१. त्रिवर्गश्चापि यः प्रोक्तस्तमिहैकमना शृणु।
क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च त्रिवर्गः परमस्तथा॥
धर्मश्चार्थश्च कामश्च सेवितव्योऽथ कालतः।
धर्मेण च महीपालश्चिरं पालयते महीम्॥ महा० शान्ति० ६९।७०

२. अनृशंसश्चरेदर्थं चरेत्। महा० शान्ति० ७०।३

३. दण्डे त्रिवर्गः सततं सुप्रणीते प्रवर्तते॥ महाभारत शान्ति १२१।१४

४. धर्मार्थकामाः किं मूलास्त्रयाणां प्रभवश्च कः। महाभारत शान्ति १२३।२

"जब संसार में मनुष्यों का मन शुद्ध होता है और वे धर्म, अर्थ का निश्चय करके प्रवृत्त होते हैं उस समय ठीक समय पर धर्म, अर्थ और काम तीनों एक साथ प्रकट होते हैं।"[1]

इन तीनों पदार्थों का मूल कारण संकल्प और विषय रूप को माना गया है। मोक्ष चतुर्थ वर्ग की प्राप्ति कैसे होती है? रजोगुणी भावनाओं का क्षय कैसे होता है?

"धर्म सदा ही अर्थ प्राप्ति का कारण है और काम अर्थ का फल कहलाता है, इन तीनों का मूल कारण संकल्प है और संकल्प विषय रूप है।"[2]

"सभी विषय पूर्ण रूप से आहार सिद्धि (उपभोग) के लिए हैं, यही धर्म, अर्थ और काम का मूल है, इस उपभोग से निवृत्त होना ही 'मोक्ष' कहा जाता है।"[3]

इस प्रकार इन चारों पदार्थों का अस्तित्व समक्ष आया और मोक्ष को इनमें विषयों से दूर एवं चारों पदार्थों में श्रेष्ठ और जीवन मुक्ति का अन्तिम पदार्थ माना गया है।

'धर्म से शरीर की रक्षा होती है, धर्म की प्राप्ति के लिए ही अर्थ बताया गया है और काम का फल ही रति है। ये तीनों रजोगुणयुक्त हैं।"[4]

फल की इच्छा करना ही दुःख का कारण माना गया है। फल को छोड़ना ही सुख का कारण है:—

इच्छा और मोह को त्याग कर यदि त्रिवर्ग का सेवन किया जाय तो वह सबसे श्रेष्ठ है।

"मोह और फल की इच्छा छोड़कर बुद्धिपूर्वक त्रिवर्ग का सेवन यदि

---

१. यदा ते स्युः सुमनसो लोके धर्मार्थनिश्चये।
कालप्रभवसंस्थासु सज्जन्ते च त्रयस्तदा॥ महाभारत शान्ति १२३।३

२. धर्ममूलः सदैवार्थः कामोऽर्थफलमुच्यते।
संकल्पमूलास्ते सर्वे संकल्पो विषयात्मकः॥ महाभारत शान्तिपर्व १२३।४

३. विषयाश्चैव कार्त्स्न्येन सर्व आहारसिद्धये।
मूलमेतत् त्रिवर्गस्य निवृत्तिर्मोक्ष उच्यते॥ महा. शान्ति. १२३।५

४. धर्माच्छरीर संगुप्तिर्धर्मार्थे चार्थ उच्यते।
कामो रतिफलश्चात्र सर्वे ते च रजस्वलाः॥ महा. शान्ति. १२३।६

मनुष्य करे तो श्रेष्ठ है। अर्थ प्राप्ति के लिए यदि बुद्धि से कार्य करने पर कभी अर्थ प्राप्त भी हो सकता है और कभी नहीं भी।"[1]

प्राचीन भारतीयों का अर्थ और त्रिवर्ग के प्रति अपना एक आध्यात्मिक रूप लिया हुआ एक विचित्र दृष्टिकोण है। इस दृष्टि से मिथ्या संग्रह और केवल मात्र अर्थ की चिन्ता में ही शेष तीन पदार्थों और कार्यों को छोड़कर मनुष्य धन पशु ही न बने अपितु उसे जीवन की वास्तविकता का भी ज्ञान हो। अतः इस प्रकार के विचार स्पष्ट किये हैं :—

"फल की कामना ही धर्म का मल है, धन को संग्रह करके रखना अर्थ का मल है और आमोद-प्रमोद काम का मल है, यदि त्रिवर्ग अपने दोषों से रहित हो तो लाभप्रद है।"[2]

अर्थ प्राप्ति और धन प्राप्ति में बुद्धि को सर्वोत्तम साधन माना गया है। आर्थिक विकास में बुद्धिसम्पन्न अधिकारियों को इसीलिये प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने आवश्यक माना है। बुद्धियुक्त व्यक्ति शीघ्रता और बिना विचारे किसी भी कार्य को नहीं करता है। अधिक मोह करने से ही बुद्धि नष्ट हो जाती है। जैसे :—

"प्रज्ञा (बुद्धि) का नाश ही मोह है। वह मोह धर्म और अर्थ दोनों का विनाश करने वाला है। इससे मनुष्य में नास्तिकता आती है और वह दुराचार की ओर प्रवृत्त हो जाता है।"[3]

शान्ति पर्व में इस प्रकार प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक आचार्य भीष्म पितामह के विचारों का अध्ययन करने से महाभारतकालीन आर्थिक स्थिति का भी ज्ञान होता है। भारतीय राजा इतने अर्थ सम्पन्न थे कि वे नित्यंप्रति हजारों स्नातक विद्यार्थियों को भोजन कराते थे। यदि उनकी आर्थिक अवस्था इतनी अच्छी न होती तो क्या वे इतना दान दैनिक रूप से कर सकते थे ? उनके पास सभी वस्तुएँ इतनी मात्रा में होती थीं तभी वे उनका दान करते थे ? इस प्रकार

---

१. श्रेष्ठे बुद्धिस्त्रिवर्गस्य यदयं प्राप्नुयान्नरः।
कर्मणा बुद्धिपूर्वेण भवत्यर्थो न वा पुनः॥ महा. शान्ति. १२३।८

२. अपध्यानमलो धर्मो मलोऽर्थस्य निगुहनम्।
सम्प्रमोदमलः कामो भूयः स्वगुणवर्जित॥ महा० शान्ति० १२३।१०

३. प्रज्ञानाशात्मको मोहस्तथा धर्मार्थनाशकः
तस्मान्नास्तिकता चैव दुराचारश्च जायते॥ महा० शान्ति० १२३।१६

की समृद्धि को पाण्डवों के विरोधी कौरव कैसे सहन कर सकते थे। अतः धृत-राष्ट्र ने अपने पुत्र की मानसिक एव शारीरिक स्थिति को देखते हुए पूछा था कि तुम अच्छा भोजन खाते हो और अच्छे वस्त्र पहनते हो फिर भी तुम क्यों सफेद और दुबले होते जा रहे हो ? इसका उत्तर दुर्योधन ने इस प्रकार दिया था :—

"हे पिता ! युधिष्ठिर के राजमहल में दस हजार महात्मन् (श्रेष्ठ) स्नातक सोने के पात्रों में भोजन करते हैं।"[1]

पाण्डवों की समृद्धि को देखकर दुर्योधन दुखी था। पाण्डव आर्थिक विचा-रक आचार्य भीष्म पितामह के आर्थिक विचारों के अनुरूप अपनी आर्थिक स्थिति को सुधार चुके थे। सभी क्षेत्रों में विवेकपूर्ण कार्यों से उन्होंने अच्छे व्यक्तियों का चयन कर नियुक्ति की हुई थी। पाण्डवों की आर्थिक नीति से प्रजा प्रसन्न और राज्य को अर्थ का अत्यधिक लाभ होता था।

पूर्व वर्णित उद्धरण से भीष्म पितामहकालीन आर्थिक स्थिति का एक सजीव चित्र दृष्टिगत होता है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि आचार्य भीष्म पितामह की निर्दिष्ट आर्थिक व्यवस्था पर चलकर पाण्डव आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो चुके थे।

व्यापारियों पर कर कैसे निर्धारण किया जाये :—

शासन की आय का मुख्य साधन 'कर' है। प्रजा वर्ग पर कर कैसे लगाये जायें ? जिससे उन्हें दुख न हो और वे लोग मन लगाकर अपने काम को करें। अधिक कर लगाने से भी व्यापारी वर्ग अधिक कार्य नहीं करेगा एवं राष्ट्र के आर्थिक ढांचे पर और उत्पादन पर इसका अत्यन्त बुरा प्रभाव पड़ेगा। अतः इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए आचार्य भीष्म पितामह ने व्यापारियों के सभी खर्चों को काटकर 'कर' लगाने की व्यवस्था दी है :—

"क्रय, विक्रय का ध्यान रखते हुये, वस्तुओं को लाने, ले जाने में जो मार्ग व्यय हुआ हो, उसमें काम करने वालों का भी व्यय (वेतन) देखकर उसके हानि-लाभ को दृष्टि में रखते हुए ही व्यापारियों पर 'कर' लगाना चाहिये।"[2]

---

१. दश तानि सहस्राणि स्नातकानां महात्मनाम् ।
भूञ्जते रुक्मपात्राभिर्युधिष्ठिर निवेशने ।। महा० शान्ति० १२४।११

१. विक्रयं क्रयमध्वानं भक्तं च सपरिच्छदम् ।
योगक्षेमं च सम्प्रेक्ष्य वणिजां कारयेत् करान् ।। महा० शान्ति० ८७।१३

इसके साथ इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि किस प्रकार का वह सामान है। उसके गुणों के अनुसार ही उस पर कर लगाना उचित रहता है। जैसे—

"वस्तु के उत्पादन और क्रेताओं की माँग शिल्प के गुणों को देखकर ही उस उत्पादन शिल्प पर एवं शिल्पकारों पर कर लगाना चाहिये।"[1]

कर लगाती बार एक बात का यह भी ध्यान रखना होगा कि प्रजा जनों की वास्तविक आर्थिक स्थिति कैसी है। शासक को जनता का शोषण अपने सुख-वैभव के लिए नहीं करना चाहिये।

"हे युधिष्ठिर ! राजा को चाहिये कि जनता के उन्नत, अवनत आर्थिक स्तर को देखकर ही अधिक और कम कर लगावे। वस्तु के कार्य और लाभ को देखकर उस पर कर निर्धारण करना चाहिये।"[2]

मनुष्य किसी भी कार्य को करता है वह कुछ प्राप्ति के लिए ही करता है। यदि उसे किसी वस्तु के उत्पादन में कुछ अंश भी लाभ नहीं होगा तो वह क्यों कर परिश्रम करेगा। अतः व्यापारी वर्ग के या उत्पादन कर्ता के लाभ का ध्यान रखते हुए कर लगाना उचित होगा। जिस प्रकार :—

"लाभ और कर्म यदि विना प्रयोजन के हुए तो कोई भी व्यक्ति किसी भी काम करने में प्रवृत नहीं होगा। अतः राजा और राजा के अधिकारी कर्ता को कर्म का भाग प्राप्त हो उसका ध्यान रखकर ही राजा को सदैव 'कर' निर्धारण करना चाहिये। अधिक तृष्णा के कारण मूल आधार आय को नष्ट न कर डाले।"[3]

अच्छा शासक अपने राज्य के आर्थिक लाभ के लिये यदि प्रयत्नशील रहेगा तो अपने यहाँ वाणिज्य करने वाले लोगों को अधिक सुविधायें देकर

---

१. उत्पत्तिं दानवृत्तिं च शिल्पं सम्प्रेक्ष्य चासकृत्।
शिल्पं प्रति करानेवं शिल्पिनः प्रति कारयेत् ॥ महा० शान्ति० ८७।१४

२. उच्चावचकरा दाप्या महाराज्ञा युधिष्ठिर।
यथा यथा सीदेरंस्तथा कुर्यान्महीपतिः ॥
फलं कर्म च सम्प्रेक्ष ततः सर्वं प्रकल्पयेत् ॥ महा० शान्ति० ८७।१५-१६

३. फलं कर्म च निर्हेतु न कश्चित् सम्प्रवर्तते।
यथा राजा च कर्ता च स्यातां कर्मणि भागिनौ।
संवेक्ष्य तु तथा राज्ञा प्रणेयाः सततं कराः।
नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चापि तृष्णया ॥महा शान्ति ८७।१७,१८

न्याय और अधिकार को दृष्टि में रखते हुए उचित रूप से ही कर लगायेगा। यदि राजा अपने लाभ की दृष्टि से मनमाना कर लगायेगा तो प्रजा इससे दुखी होकर उससे द्वेष करने लगेगी।

"स्थान और समय के विरुद्ध शासक प्रजा पर 'कर' का भार न डाले। परिस्थिति के अनुसार एवं उचित उपाय से सान्त्वना के साथ राजा कर ग्रहण करे।"[1]

अच्छे शासक अपनी जनता को दुख न देकर बड़ी नीति पूर्वक कर ग्रहण करते हैं। जनता को अधिक दुखी कर सारा जनमत शक्तिशाली राजा के विरुद्ध भी हो जाता है। अतः इस प्रकार कर ग्रहण करे :—

"जैसे भ्रमर शनैः-शनैः वृक्ष और फूलों से मधु संग्रह करता है उसी प्रकार राजा को भी राष्ट्र रूपी गाय को दुहना चाहिए।"[2]

जगत में अनेक ऐसे जीव हैं जो शासक को शान्तिपूर्ण पद्धति से कर लेने की शिक्षा देते हैं। यदि उनसे शिक्षा ग्रहण कर अच्छा राजा कार्य करे तो जनता में उसकी कर ग्रहण की व्यवस्था से कोई दुख ही अनुभव नहीं कर सकता। जैसे :—

"जल की जोंक जैसे शरीर का रक्त चूस लेती है, उसी प्रकार अच्छे शासक को कोमलता के साथ राष्ट्र से 'कर' ग्रहण करना चाहिये। जिस प्रकार व्याघ्री (बाघिन) अपने बच्चों को दाँत से पकड़कर इधर-उधर ले जाती है, उनके शरीर को न काटती है और न पीड़ा ही देती है, उसी प्रकार राजा को प्रजा से 'कर' लेना चाहिये।"[3]

इस प्रकार प्रजा के आर्थिक विकास का ध्यान रखते हुए राजा को अनेक व्यवहारिक उदाहरण देकर प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्री आचार्य भीष्म ने अधिक कर न लेनेके लिए परामर्श दिया है। करों के भारसे प्रजा जब दुखी हो जाती है, ऐसी स्थिति में करों से शोषण करने वाले राजा के राज्य को छोड़कर प्रजावर्ग के लोग इधर उधर भागने लगते हैं। पुनः ऐसा करने से उस राजा के राज्य

---

१. न चास्थाने न चाकाले करोस्तेभ्यो निपातयेत्।
आनुपूर्वेण सान्त्वेन यथाकालं यथाविधि ॥महा शान्ति ८८।१२

२. मधुदोहं दुहेद् राष्ट्रं भ्रमरा इव पादपम् ॥महा शान्ति ८८।४

३. जलौकावत् पिवेद् राष्ट्रं मृदुनैव नराधिपः।
व्याघ्रीव च हरेत् पुत्रान् संदशेन्न च पीडयेत् ॥महा० शान्ति० ८८।५

की आर्थिक स्थिति खराब हो जायेगी और संगठन की शक्ति छिन्न-भिन्न हो जायेगी। अतः नीतिज्ञ राजा प्रजा पर व्यर्थ के कर नहीं लगाता है। इस त्रुटि को दृष्टि में रखते हुए प्राचीन भारतीय सभी आर्थिक विचारकों ने एक मत होकर शोषण न करने का परामर्श दिया है।

व्यापारियों के लाभ का ध्यान—राष्ट्र के व्यापार का समस्त कार्य भार व्यापारियों पर निर्भर है क्योंकि व्यापारी व्यापार के हानि लाभ को अच्छी प्रकार जानते हैं और वाणिज्य में आपत्ति को लेने को भी तैयार रहते हैं। यहाँ तक कि अपने जीवन और धन को संकट में डालकर दूर- र देशों से अलभ्य वस्तुयें एकत्र कर ग्राहकों को आवश्यकता के अनुसार सुलभ करा देते हैं।

आचार्य भीष्म पितामह ने राजा युधिष्ठिर को व्यापारी वर्ग से होने वाली 'कर' की आय एवं राज्य में जनता की सुख सुविधाओं का ध्यान रखते हुए कार्य करने की बात इस प्रकार कही है :—

"अधिक और कम मूल्य पर क्रय करने वाले एवं व्यापार के लाभ के लिए कष्टप्रद प्रदेशों में घूमने वाले वणिक् 'कर' के भार से पीड़ा अनुभव करते हुये दुखी तो नहीं हो रहे हैं।"[1]

इस प्रकार के उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य भीष्म ने अपनी आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार की बनाई हुई थी कि जिससे राष्ट्र के किसी व्यक्ति का अहित न हो। सभी अपने-अपने कार्यों को कर्तव्यनिष्ठ होकर पूर्ण करते थे और अपने-अपने व्यवसायों में पूर्ण प्रसन्न थे।

"राजा को यह चाहिए कि वह असमय में कर लगा कर अर्थ संग्रह करने की चेष्टा न करें।"[2]

राष्ट्र की आर्थिक उन्नति में धनवानों का भी बहुत बड़ा योगदान होता है। अतः युधिष्ठिर को भीष्मपितामह ने आर्थिक वृद्धि के हेतु उनके सम्मान और सुख सुभीता का भी ध्यान रखते हुए व्यापारियों से राष्ट्र को होने वाले लाभ को बताया है। यदि शासक भ्रष्ट नहीं तो शासन में व्यापारी वर्ग और कर्मचारी तन्त्र भ्रष्टाचार नहीं कर सकते हैं। राष्ट्र को व्यापारियों से महान् लाभ होते हैं।

---

१. कच्चित् ते वाणिजो राष्ट्रे नोद्विजन्ति करार्दिता।
   क्रीणन्तो बहुनाल्पेन कान्तारकृत विश्रया ॥महा० शान्ति ८९।२३
२. नाकाले प्रणदेदर्थान्नाप्रिये जातु संज्वरेत् ॥महा० शान्ति ९३।३५

"बुद्धिमान् राजा समय के पड़ने पर ही प्रजा से धन ले। अर्थ नीति को प्रकट न करे। जिस प्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति गाय की रक्षा करता हुआ दूध दुहता है, उसी प्रकार राजा रातदिन पृथ्वी का पालन करते हुए ही उससे धन का दुहन करे।"[1]

जनता को जिस प्रकार कष्ट न हो ऐसे उपायों को काम में ला कर ही अच्छे राजा को प्रजा से धन संग्रह करना चाहिये। कष्ट देकर नहीं। जैसे :—

"मधुमक्खी जिस क्रम से पुष्पों से रस का संचय करती है, उसी भाँति राजा समस्त प्रजा जनों से द्रव्य लेकर उसका संचय करे।"[2]

अल्प संग्रह से भी कुछ दिन में अधिक संग्रह हो जाता है। अतः अच्छे राजा को अल्प साधनों द्वारा प्राप्त अर्थ को हेय की दृष्टि से नहीं देखना चाहिये।

"यदि अल्प धन भी प्राप्त हो रहा हो तो उसका तिरस्कार न करे।"[3]

जनता पर आतंक छा कर राजा अधिक दिन सुखी नहीं रह सकता है। यदि अच्छा शासक जनता पर अनुग्रह करता हुआ कर लेता है तो प्रजा कर देने में दुख अनुभव नहीं करती है। अधिक दुखी करके कर' लेने पर प्रजा भी असत्य का मार्ग अपनाती है और इन्हीं कारणों से सरकारी करों की चोरी करने की भावनायें प्रजावर्ग के मन में आती है। अतः भीष्मपितामह ने धर्मराज युधिष्ठिर को अपने आर्थिक विचार बताते हुए यह शिक्षा दी :—

"राजा को यह चाहिये कि वह सम्पूर्ण प्रजापर अनुग्रह करता हुआ उससे 'कर' ग्रहण करे। वह राजा दीर्घकाल तक प्रजा को पीड़ा देकर उस पर विद्युत के समान गिरकर अपना प्रभाव अर्जित न करे।"[4]

---

१. कालं प्राप्तमुपादद्यान्नार्थं राजा प्रसूचयेत्।
अहन्यहनि संदुह्यान्मही गामिव बुद्धिमान्॥ महा० शान्ति १२०।३३

२. यथा क्रमेण पुष्पेभ्यश्चिनोति मधु षट्पदः।
तथा द्रव्यामुपादाय राजा कुर्वीत संचयम्॥ महा० शान्ति १२०।३४

३. नार्थमल्पं परिभवे न॥ महा० शान्ति १२०।३६

४. तस्मात् राजा प्रगृहीतः प्रजासु मूलं लक्ष्म्याः सर्वशो ह्याददीत।
दीर्घं कालं ह्यपि सम्पीड्यमानो विद्युत्सम्पातमपि वा नोर्जितः स्यात्॥
महा० शान्ति १२०।४४

आय प्राप्ति के स्थानों पर अच्छे व्यक्तियों की नियुक्ति होनी चाहिये :—

आय प्राप्ति के कार्यों में वस्तुतः जितने अच्छे व्यक्तियों की नियुक्ति होगी। उतना ही राष्ट्र की आय में भ्रष्टाचार और व्यक्तिगत स्वार्थ की भावनायें उस विभाग के कार्यकर्ताओं और अधिकारियों के मन में नहीं आयेंगी। अतः इस प्रकार के व्यक्तियों की नियुक्ति करनी चाहिए :—

"विद्वान्, बुद्धिमान्, जितेन्द्रिय, कुशल, शूर, बहुश्रुत कुलीन तथा साहसी और धैर्य सम्पन्न लोगों को यथायोग्य सब कामों में नियुक्त करे।"[1]

आय प्राप्ति के स्थानों पर राजा को अपने विश्वासी व्यक्तियों को ही नियुक्त करना चाहिए। ऐसा करने से धन का अपहरण और आय प्राप्ति के साधनों में बाधा उपस्थित न होगी एवं स्वार्थ की भावनायें काम करते वालों के मन में नहीं आयेंगी। प्रायः देखा जाता है कि अर्थ पर ही जगत के समस्त कार्य निर्भर है। अर्थ विभाग को राज्य के संचालन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इसीलिये अर्थ को राज्य का मेरुदण्ड माना गया है और इसीलिए अर्थ प्राप्ति के स्थानों पर राजा को अपने ही निकट व्यक्तियों की नियुक्ति करने के लिए आचार्य भीष्म ने व्यवस्था दी है :—

"सोने की खान, नमक, शुल्क के स्थान, नदी के किनारे, हाथियों के स्थानों पर आय के निरीक्षण के लिए अपने अमात्य या अपने हितचिन्तक, विश्वस्त व्यक्तियों को राजा नियुक्त करे।"[2]

आय प्राप्ति के स्थानों पर यदि लोभी व्यक्तियों की नियुक्ति की जायेगी तो वे अपनी लोभी की प्रवृत्ति के कारण राज्य की समस्त आय का अपहरण कर लेंगे क्योंकि, लोभी व्यक्तियों में व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण सम्पूर्ण दोष उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसे लोगों में त्याग की भावनायें प्रायः समाप्त हो जाती है। जैसे :—

"लोभी व्यक्ति दूसरों के धन, उपभोग की सामग्री, स्त्री, पुत्र और समृद्धि आदि सभी को प्राप्त करना चाहता है। लोभी व्यक्ति में सभी प्रकार के दोष-

---

१. प्राज्ञा मेधाविनो दान्ता दक्षाः शूरा बहुश्रुताः।
कुलीनाः सत्त्वसम्पन्ना युक्ताः सर्वेषु कर्मसु॥ महा० शान्ति० ८६।१७

२. आकरे लवणे शुल्के तरे नागबले तथा।
न्यसेदमात्यान् नृपतिः स्वाप्तान् वा पुरुषान् हितान्॥ महा० शान्ति० ६९।२९

पाये जाते हैं, अतः शासक को उसे अपने यहाँ किसी पद पर नहीं रखना चाहिये।"[1]

प्राचीन भारतीय आर्थिक विकास में ग्राम संगठन का महत्वः—

अति प्राचीन काल से भारत ग्राम प्रधान देश रहा है। आज भी कृषि से उत्पन्न होने वाली समस्त वस्तुयें नगर वासियों के लिये ग्रामीण जनता ही उत्पादन की वृद्धि करके देती है। जो ग्राम राष्ट्र के अन्नदाता और खाद्य सामग्री के उत्पादक हैं। उनकी सुरक्षा एवं उनका संगठन करना भी आर्थिक विकास के दृष्टिकोण से प्राचीन भारतीयों ने आवश्यक समझा है। आचार्य भीष्म पितामह ने राजा युधिष्ठिर को राष्ट्र की आर्थिक स्थिति सुव्यवस्थित रखने एवं धनधान्य सम्पन्न करने के लिये ग्रामीण आंचल पर भी विशेष ध्यान दिया है।

"एक ग्राम का, दस ग्रामों का, बीस ग्रामों का, सौ ग्रामों का एवं हजार गांवों का पृथक्-पृथक् एक-एक अधिपति नियुक्त करे।"[2]

ग्रामीण जनता अपने कृषि के उत्पादन वृद्धि के कार्यों को छोड़कर एवं आर्थिक विकास के उद्योग पूर्ण कार्यों को छोड़कर अपने झगड़ों को निपटाने के लिये अर्थ और समय खराब करने दूर न जाये। अतः उन कार्यों के लिये अपने ग्राम में ही उनकी सभी समस्यायें हल करने की आचार्य भीष्म पितामह ने इस प्रकार युक्ति दी है :—

"ग्राम के अधिपतिका यह कर्तव्य है कि वह ग्रामीण जनों के झगड़ों का तथा ग्राम में जो-जो अपराध होते हों, उन सभी का पता लगाने और उनका पूर्ण विवरण दस ग्राम के अधिपति के पास भेजे। इसी प्रकार दस गाँवों वाला बीस गाँव वालों के पास और बीस ग्राम वाला अधीन जनपद के लोगों का सम्पूर्ण समाचार सौ ग्राम वाले अधिपति को सूचित करे।"[2]

इस प्रकार के उद्धरणों से विदित होता है कि ग्रामीण जनता के कल्याण के लिए प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने अच्छी व्यवस्था दी हुई थी। जिससे

---

१. धनं भोगं पुत्रदारं समृद्धिं सर्वं लुब्धः प्रार्थयते परेषाम्।
लुब्धे दोषाः सम्भवन्तीह सर्वे तस्मात् राजा न प्रगृह्णीत लुब्धम्॥
महा० शान्ति० १२०।४८

२. ग्रामस्याधिपतिः कार्यो दशग्राम्यास्तथा परः।
द्विगुणायाः शतस्यैवं सहस्रस्य च कारयेत्॥ महा० शान्ति० ८७।३

उन कर्मठ, उद्योगी कृषकों का धन और समय नष्ट न हो। वे रातदिन अर्थ संग्रह एवं वस्तु उत्पादन में लगकर राष्ट्र को अधिक अन्न और धन देकर सम्पन्न कर सकें और स्वयं सुखी रहें। अतः राष्ट्र की प्रथम एकाई ग्राम संगठन पर आर्थिक लाभ के लिये विशेष ध्यान दिया हुआ था। ग्रामीण संगठन को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए ग्राम अधिपति को इस प्रकार अधिकार भी दिये हुये थे :—

"इस प्रकार गाँव में जो आय और खाद्य सामग्री उपज हो उस सबको 'ग्राम अधिपति अपने पास रखे।"[1]

इस प्रकार के उद्धरण से ऐसा अवगत होता है कि प्राचीन भारतीय ग्राम व्यवस्था में अपना आर्थिक प्रबन्ध करने में ग्राम स्वतन्त्र थे। गाँवों की आय से प्राप्त होने वाले अन्न और धन को ग्राम अधिपति ग्राम की सुरक्षा के लिए अपने ही आप सुरक्षित रखता था। आज के युग की भान्ति नगर व्यवस्था, ग्राम व्यवस्थायें स्वतन्त्र रुप से अपना कार्य करती रहती थीं। ग्रामीण समस्याओं का शीघ्र समाधान हो और लोग आर्थिक बिकास में पूर्ण समय देकर पूरी शक्ति से कार्य कर सकेंगे। अपने बड़े छोटे झगड़ों का गाँव में ही निपटारा हो जाये अतः ग्राम संगठन को महत्त्व दिया हुआ था।

"जो सम्मान प्राप्त व्यक्ति सौ गाँवों का अध्यक्ष हो वह एक ग्राम की आय को उपभोग में ला सकता है। हे भरत श्रेष्ठ ! वह गाँव अधिक जनसंख्या वाला और धनधान्य से सम्पन्न हो। हे भरतनन्दन ! उस विशाल ग्राम का प्रबन्ध राजा के अधीनस्थ अनेक अधिकारियों के अधिकार में रहना चाहिये।"[2]

बड़े-बड़े ग्राम संगठनों के माध्यम से ही नगरों की उत्पत्ति का वर्णन आचार्य भीष्म पितामह ने राजा युधिष्ठिर को बताया। इस प्रकार के उद्धरणों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि संगठन, आर्थिक स्थिति सुधारने एवं अन्न को एकत्र करने की एक अच्छी परियोजना बनी हुई थी। जनसंख्या की वृद्धि के साथ ही साथ लोगों की आजीविका का भी उस संगठन में ध्यान रखा जाता था। प्रजाजन अपने-अपने कार्यों को अच्छी प्रकार कर सके और उनके कार्यों में किसी प्रकार

---

१. यानि ग्राम्याणि भोज्यानि ग्रामिकस्तानुपाश्रियात्। महा० शान्ति० ८७।६

२. ग्रामं ग्रामशताध्यक्षो भोक्तुमर्हति सत्कृत ।
महान्तं भरतश्रेष्ठ सुस्फीतं जनसंकुलम् ॥
तत्र ह्यनेक पायत्तं राज्ञो भवति भारत ॥ महा० शान्ति० ८७।७

की बाधा न हो, अतः ग्राम और नगरों के संगठनों को अतिनिकट स्थापित किया हुआ था।

उद्योग धन्धों एवं आर्थिक विकास में नगर संगठनों का महत्व :—

ग्रामीण विशाल जन समुहों के द्वारा ही नगरों के निर्माण के इतिहास का ज्ञान भी इन्हीं ग्राम संगठनों के द्वारा ज्ञात होता है। जैसे :—

"हजार गांवों का अधिपति एक शाखा नगर की आय पाने का अधिकारी है। उस लघुनगर में जो आय आय और सुवर्ण से हो उसे वह इच्छानुसार वेतन आदि देने में उपभोग कर सकता है। उस अधिपति को राष्ट्रीय संघ (राष्ट्र-वासियों) के साथ मिल कर रहना चाहिये।"[1]

शान्तिपर्व के नगर संगठन प्रकरणों का अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि आजकल की नगरमहापालिकाओं से अच्छे रूप में प्राचीन भारत में नगरों का संगठन रहा होगा। नगर का सभी प्रकार का प्रबन्ध बड़ी सतर्कता और ईमादारी से नगर का प्रमुख करता रहा होगा। अन्यथा ये प्रबन्ध इतनी अच्छी प्रकार पर कैसे चलते? नगर प्रमुख अपनी सहायता के लिए अपने साथ और भी अनेक सहयोगियों को रखता होगा, जिससे नगर की छोटी बड़ी समस्याओं का समाधान एवं कठिनाइयों का निराकरण होता रहा होगा। इसके साथ ही साथ 'नगर प्रबन्ध समिति' में अनेक सदस्य भी रहते थे जिनकी गति विधियों को देखने के लिए नगर प्रमुख ने कुछ गुप्तचरों को भी नियुक्त किया होता था जो सभी की मनोवृत्तियों का अध्ययन कर प्रमुख अधिकारी को ठीक-ठीक समाचार देता था। प्रायः यह देखा जाता है कि प्रत्येक युग में मानव अपने स्वभाव जन्य कार्यों के कारण स्वार्थ वृत्ति मन में ले आता है। प्राचीन नगर संगठन में भी कार्यों के अनुरूप एवं जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ नगर सगठन का कार्य भी अधिक बढ़ गया होगा जिसके लिये अधिक लोगों की नियुक्ति भी आवश्यक हुई। अधिक लोगों के कार्यरत होने पर उनकी गतिविधियों की जानकारी के लिए कुशल शासक नीति से ही कार्य लेता है। इतने बड़े नगर संगठन को चलाने उसकी आर्थिक व्यवस्था को सुव्यवस्थित रखने एवं नगर निवासियों की सभी प्रकार की कठिनाइयों का ध्यान रखना भी अत्यावश्यक हो जाता है। अतः नगर के संचालन के लिए नगरों में एक नगर प्रमुख का रहना आवश्यक था। जैसे :—

---

१. शाखानगरमर्हस्तु सहस्रपतिरुत्तमः।
धान्यहैरण्य भोगेन भोक्तुं राष्ट्रियसंगतः ॥ महा शान्ति. ८७।८

"प्रत्येक नगर में एक ऐसा अधिकारी होना चाहिये जो सभी कार्यों का एवं अर्थ का चिन्तन और निरीक्षण कर सके। जिस प्रकार आकाश में कोई महान्, ग्रह नक्षत्रों के ऊपर स्थित होकर घूमता है, ठीक उसी प्रकार यह नगर प्रमुख भी उच्च स्थान पर बैठकर उन सभी सभासदों के सन्निकट घूमकर उनके कार्यों का अच्छी प्रकार निरीक्षण करता रहे।"[1]

इसके साथ ही साथ गुप्तचरों द्वारा भी नागरिकों और सभासदों की गति विधियों की जानकारी वे नगर प्रमुख को देते हैं। जैसे आचार्य भीष्म ने व्यवस्था दी है :—

उस नगर प्रमुख का कोई गुप्तचर उन लोगों की मनोवृत्तियों को समझ कर उसके पास सही और समस्त समाचार देता रहे। रक्षा कार्य में नियुक्त अधिकारी एवं कार्यकर्तागण हिंसक स्वभाव के, पापवाले कार्यों में रत, दूसरों के धन के अपहरण कर्ता शठ होने लगते हैं। ऐसी स्थिति में ऐसे लोगों से नगर प्रमुख अथवा रक्षाधिकारी को इस समस्त प्रजा की रक्षा करनी चाहिये।"[2]

इस प्रकार संगठनों को देखने से विदित होता है कि प्राचीन भारत में लोगों की आर्थिक स्थिति अच्छी थी ,और आर्थिक व्यवस्था को अच्छा करने के लिये अच्छे, त्यागी, स्वार्थहीन व्यक्तियों की नियुक्ति की जाती थी।

व्यापार की वृद्धि और यातायात की सुविधा :—

आय की वृद्धि के लिये, व्यवसाय की उन्नति के लिये, यातायात की सुविधा के लिये आचार्य भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर को प्रबन्ध करने के लिये उपदेश दिये हैं मार्गों के माध्यम से व्यापार पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि मार्ग अच्छे नहीं होंगे तो आने जाने में कठिनाई होगी और क्रीत वस्तुओं का मूल्य अधिक होगा। मूल्य अधिक होने से प्रजावर्ग को अधिक कष्ट होगा। अत. राजा को राजमार्गों का भी निर्माण करना चाहिये। जैसे :—

---

१. नगरे नगरे वा स्यादेकः सर्वार्थचिन्तकः।
उच्चैः स्थाने घोररूपो नक्षत्राणामिव ग्रहः।
भवेत् स तान् परिक्रामेत् सर्वानेव सभासदः ॥ महा. शान्ति. ८७।१०—११

२. तेषां वृत्तिं परिणयेत् कश्चिद् राष्ट्रेषु तच्चरः।
जिघांसवः पापकामाः परस्वादायिनः शठाः ॥
रक्षाभिक्रुता नाम तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥ महा. शान्ति ८७।१२

"शासक को चाहिये कि वह बड़ी-बड़ी सड़कों का निर्माण करावे और आवश्यकता के अनुसार जलव्यवस्था और वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिये बाजार बिक्री केन्द्रों (बाजारों) का निर्माण करावे।"[1]

बड़े-बड़े बिक्री केन्द्रों के खुलने से राज्य, प्रजा एवं व्यापारी वर्ग को अत्यधिक आर्थिक लाभ होगा। इसलिये यातायात पर भी अधिक ध्यान देकर व्यापार की वृद्धि की गई है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने में कष्ट न हो अतः बड़े-बड़े राजमार्गों का शासक निर्माण करता था। राजमार्गों से राष्ट्र के एक भाग का दूसरे भाग से सम्बन्ध सुगमता से स्थापित हो जाता है।

राष्ट्रीय आयवृद्धि के राजमार्ग भी एक साधन होते हैं। दुर्भिक्ष, वृष्टि, अनावृष्टि एवं संकट के समय राज्य की ओर से निर्मित मार्ग अत्यधिक सहायक सिद्ध होते हैं। अति प्राचीन काल से यातायात की सुविधा के लिए राजमार्गों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। आर्थिक विकास पर इनका भी प्रभाव पड़ता है।

राष्ट्र के आर्थिक विकास में कृषि एवं कृषकों का स्थान :—

मनुष्य के जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति संसार के सभी देशों में आधुनिक काल में अथवा प्राचीन काल में कृषि और कृषक ही करते रहे हैं। अतः प्रत्येक राष्ट्र का शासक उस अन्नदाता कृषक को और रत्नगर्भा कृषि की उन्नति के लिये अधिक अन्न उपजाओ वाली अनेक योजनायें चलाता है। इसके साथ ही साथ किसानों के कल्याणार्थ भी अनेक कार्यक्रम बनाता है। जो किसान रातदिन अथक परिश्रम करके अच्छी से अच्छी फसलों को तय्यार करता है और स्वयं उस अच्छे अन्न का उपभोग न करके राष्ट्रहित के लिये शासक को सौंप देता है।

इस प्रकार के राष्ट्रसेवक कृषकों के विषय में उनके महत्त्व को अच्छी प्रकार अनुभव करते हुये युधिष्ठिर को भीष्मपितामह ने इस प्रकार समझाया है :—

"कहीं कृषक अधिक कृषि के कर से पीड़ित होकर तुम्हारे राज्य को छोड़कर तो नहीं जा रहे हैं? क्योंकि किसान ही राजाओं के भार को वहन करते हैं और वे ही जनता के लोगों का भी भरण-पोषण करते हैं।"[2]

---

१. विशालान् राजमार्गांश्च कारयीत नराधिपः।
प्रपाश्च विपणांश्चैव यथोद्देशं समाविशेत्॥ महा. शान्ति. ६९।५३

२. कच्चित् कृषिकरा राष्ट्रं न जहत्यतिपीडिताः।
ये वहन्ति धुरं राज्ञां ते भरन्तीतरानपि॥ महा शान्ति ८९।२४

इस प्रकार के उद्धरणों से विदित होता है कि कृषि सदा से मनुष्यों को अन्न देने वाली रही है और कृषक अपने परिश्रम से कृषि से अन्न का अधिक उत्पादन करके प्रजाजन के जीवन की रक्षा करता है। यदि सचमुच कृषक न होते तो जनता अन्न के बिना मर जाती। अतः राष्ट्र की धनधान्य की स्थिति अच्छी रखने के लिये किसानों को कष्ट नहीं देना चाहिये। अपितु उन्हें अनेक प्रकार की सुविधायें देकर अधिक उत्पादन बढ़ाने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिये। कृषि के माध्यम से ही अन्न की समस्या सदा से सभी देशों में हल होती रही है और होती रहेगी।

आचार्य भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर को प्रजा की रक्षा और सेना को जीवित रखने के लिये अन्न के भण्डारों की आवश्यकता पर इस प्रकार बल दिया है :—

"हे युधिष्ठिर ! नित्य तुम्हारा अन्न भण्डार पौष्टिक धान्यों से भरा रहना चाहिये और उसकी रक्षा का भार सज्जन पुरुषों को देना चाहिये। तुम धन-धान्य युक्त बनो।"[1]

कृषि, गोरक्षा वाणिज्य, के द्वारा ही राष्ट्र सदा जीवित, पुष्ट और आर्थिक उन्नति कर सकता है एवं कृषि के अन्न से जीवित रह सकता है क्योंकि अन्न को ही प्राण माना गया है। गीता में भी कहा गया है :—"अन्न से ही प्राणियों की उत्पत्ति होती है और वर्षा से अन्न की उत्पत्ति होती है।"[2]

सहकारिता पद्धति पर कृषि, पशुपालन और वाणिज्य :—

"कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य एवं इसी प्रकार के अन्य व्यवसायों को योग्य अधिकारी पुरुषों के द्वारा पूर्ण करना चाहिये।"[3]

इस प्रकार के उद्धरण इस तथ्य की पुष्टि के परिचायक हैं कि प्राचीन भारत में अधिक कुशलता से कार्य करने, अधिक उत्पादन की वृद्धि के लिये और राष्ट्रीय एकता की वृद्धि के लिये कृषि सहकारिता, सहकारी पशुपालन, दुग्धसंघ और इन सहकारिता समितियों द्वारा उत्पादित वस्तुओं को सहकारी व्यापारिक

---

१. कोष्ठागारं च ते नित्यं स्फीतैर्धान्यैः सुसंवृतम् ।
सदास्तु सत्सु संन्यस्तं धनधान्य परो भव ॥ महा० शान्ति ११९।१७

२. अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्न संभवः । गीता ३ अध्याय १४ श्लोक

३. कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं यच्चान्यत् किंचिदीदृशम् ।
पुरुषैः कारयेत् कर्म बहुभिः कर्मभेदतः ॥ महा० शान्ति ८८।२७

प्रतिष्ठानों द्वारा क्रय-विक्रय का कार्य भी होता था। ऐसा करने का उद्देश्य यह था कि जो व्यक्ति जिस कार्य में योग्य हों वे अपनी योग्यता का परिचय देकर निष्ठा के साथ उत्पादन की वृद्धि में राष्ट्रीय एकता एवं राष्ट्रीयकरण की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करना था।

अर्थ वृद्धि, जीवनोत्पादक वस्तुओं की उत्पत्ति, शारीरिक बल की उन्नति, योग्यताके अनुकूल कार्य विभाजन, समस्त प्रजाजन की आजीविका की व्यवस्था कर्तव्यनिष्ठ होकर अर्थ वृद्धि के कार्यों में काम करने पर ही हो सकता है। इस प्रकार राष्ट्रीय आर्थिक विकास में यदि कुछ अकर्मण्य लोग बाधा उपस्थित करते हैं तो राष्ट्रीय दृष्टि से यह बहुत बड़ी हानि है। इस प्रकार की बाधाओं को केवल अच्छा शासक ही दूरकर सकता है। यदि शासक इस प्रकार इन योजनाओं को क्रियान्वित करने में योगदान नहीं देता है तो ऐसे शासक की अत्यधिक निन्दा और अपमान होता है। जैसे—भीष्मपितामह ने राजा युधिष्ठिर को परामर्श देकर राज्य की आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ रखने का उपाय बताया है :—

"यदि मनुष्य कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य के कार्यों में सन्निहित हो जाये और दूसरी और चोरी आदि बाधाओं से संशय को प्राप्त हो जाये ऐसी स्थिति में राजा पर ही दायित्व है और अव्यवस्था से उसका अपमान होता है।"[1]

भारत अति प्राचीन काल से कृषिप्रधान देश रहा है अधिक लोगों की जीविका का साधन कृषि ही रही है। रत्नगर्भा कृषि से ही पर्याप्त सामग्री मिल जाती थी। प्राचीन भारती आर्थिक विचारकों ने कृषि की उन्नति के लिये अनेक साधनों को प्रयुक्त किया है। कृषि, पशु और वाणिज्य को जीविका का एक मात्र उपाय माना गया है। जैसे—शान्तिपर्व में कहा हैं :—

कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य ये सम्पूर्ण लोगों के जीवन हैं।[2]

कितना भी अर्थसम्पन्न व्यक्ति क्यों न हो किन्तु वह भी बिना अच्छे सहायकों के उस अर्थ की सुरक्षा और भविष्य में अपनी आर्थिक योजनाओं को नही चला सकता। अर्थ प्राप्ति में विशेषकर अच्छे सहायकों की नितान्त आवश्यकता होती है क्यों कि कार्य तो खोला जा सकता है किन्तु उस कार्य का संचालन

१. नरश्चेत्कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं चाप्यनुष्ठितः।
संशयं लभते किंचित् तेन राजा विगर्ह्यते॥ महा. शान्ति. ८८।२८

२. कृषि गोरक्ष्य वाणिज्यं लोकानामिह जीवनम्। महा. शान्ति. ८९।७

उससे भी कठिन कार्य है। अयोग्य संचालकों से राज्यों का पतन, समाज में भ्रष्टाचार की वृद्धि, कर्मचारियों में मनमाना कार्य करने की प्रवृत्ति और आर्थिक योजनायें घाटे में चलने लगती हैं क्योंकि जब बुरे व्यक्तियों के हाथ में कार्य संचालन आ जाता है, तभी ऐसा होता है। अतः आचार्य भीष्म पितामहने आर्थिक व्यवस्था को सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिये इस प्रकार परामर्श दिया है :—

"हे भरत नन्दन ! कोई भी शासक बिना सहायकों के एकाकी राज्य नहीं चला सकता और सहायकों के बिना किसी प्रकार भी अर्थ की प्राप्ति नहीं होती है।"[1]

आर्थिक विकास और परियोजनाओं के लिये कोष का महत्त्व :—

किसी एक साधारण कार्य को करने के लिए भी मनुष्य को कुछ संचित कोष की आवश्यकता होती है। पुनः राज्य की रक्षा किसी योजना के चलाने और किसी उद्योग प्रतिष्ठान के संचालन के लिए कोष की आवश्यकता क्यों न होगी। मनुष्य अपनी आर्थिक समृद्धि के समय अपनी आय में से जो धन एकत्र कर लेता है उस धन को ही 'कोष' कहते हैं। कोष के रहने पर ही व्यक्ति और शासक अर्थ से निश्चिन्त और अपने उद्देश्य में पूर्ण रूप से सफल होते हैं। जिस कोष पर राज्य का समस्त भार निर्भर है उस कोष की रक्षा एवं उसके महत्त्व के विषय में आचार्य भीष्म पितामह ने इस प्रकार अपने विचार व्यक्त किये हैं :—

"यत्नमें कटिबद्ध होकर राजाओं को सदैव अपने कोषकी रक्षा करनी चाहिये, क्योंकि कोष ही राज्य का मूल है और कोष ही राजाओं की आर्थिक वृद्धि का कारण है।"[2]

कोष के संचित धन को राजा को राज्य के महान् संकट के समय पर ही व्यय करना चाहिये। कोष के धन का कभी भी अपव्यय और दुरुपयोग नहीं करना चाहिये। ऐसा करने से कोष भी शीघ्र समाप्त हो जायेगा और राजा एवं राज्य की शक्ति शीघ्र क्षीण हो जायेगी। अतः इस प्रकार कोष की सुरक्षा करनी चाहिये :—

---

१. न च प्रशास्तुं राज्यं हि शक्यमेकेन भारत।
असहायवता तात नैवार्थाः केचिदप्युत ॥ महा. शान्ति. ११५।१३

२. कोषश्च सततं रक्ष्यो यत्नमास्थाय राजभिः।
कोषमूला हि राजानः कोषो वृद्धिकरो भवेत् ॥ महा० शान्ति ११९।१६

"जो वित्त राज्य की सुरक्षा करने से बचे, उसी को धर्म और उपभोग के कार्य में व्यय करना चाहिये। शास्त्र के ज्ञाता राजा को संचित कोष से अर्थ लेकर कभी व्यय नहीं करना चाहिये।"[1]

कोष को राजा का सबसे बड़ा बल माना गया है। कोष के नष्ट होने पर ही राजा का समस्त बल समाप्त हो जाता है। कोष के बल से शासक अन्य सभी बलों को प्राप्त कर सकता है। जैसा कि आचार्य भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर को बताया है :—

"कोष के क्षय होने से ही राजा के बल का भी नाश होता है।"[2]

अच्छा शासक कभी भूल कर भी शक्ति की वृद्धि के कारण निम्न साधनों को अत्यन्त संकट के उपस्थित होने पर भी अपने राज्य की सीमा से दूर न होने दे। जैसे :—

"भूख से पीड़ित होने पर, कष्ट में रहने पर भी कोष, राजदण्ड, सेना, मित्र एवं अन्य संचित साधनों को अपने राष्ट्र से कभी दूर न करे।"[3]

कोष का महत्त्व वर्णन करते हुए आचार्य भीष्म पितामह ने कोष को समस्त वस्तुओं का मूल माना है। यथा :—

"राजा का मूल सेना और कोष है। इनमें भी कोष ही सेना (बल) का मूल कारण है।"[4]

निर्धन व्यक्ति संसार में कोई छोटा से छोटा कार्य नहीं कर सकता है किन्तु धनवान् कठिन से कठिन कार्य को भी सुगमता से हल कर लेता है। जैसे—कोष का यहाँ गुणगान किया गया है :—

"धनहीन को दुर्बल कहा जाता है। धन से मनुष्य बलवान् होता है। धनवान् सब कुछ प्राप्त कर लेता है। जिसके पास कोष है वह सभी संकटों से पार हो जाता है।"[5]

---

१. यद्धि गुप्तावशिष्टं स्यात् तद्वित्तं धर्म कामयोः।
संचयान्त विसर्गी स्याद् राजा शास्त्रविदात्मवान् ।।महा० शान्ति० १२०।३५

२. राज्ञः कोशक्षयादेव जायते बलसंक्षयः ।। महा० शान्ति० १३०।१२

३. कोषं दण्डं बलं मित्रं यदन्यदपि संचितम्।
न कुर्वीतान्तरं राष्ट्रे राजा परिगतः क्षुधा ।। महा० शान्ति० १३०।३२

४. राज्ञः कोषबलं मूलं कोषमूलं पुनर्बलम् ।। महा० शान्ति १३०।३५

५. अधनं दुर्बलं प्राहुर्धनेन बलवान् भवेत्।
सर्वं धनवता प्राप्यं सर्वं तरति कोषवान् ।। महा० शान्ति० १३०।४९

प्राचीन काल में अथवा आधुनिक काल में सदा ही कोष वाला व्यक्ति अपने धन के बल से अनहोने कार्य भी करता आया है। इस युग में तो कोष के बल पर भी व्यक्ति सभी कुछ कर सक रहा हैं। कोष के बल पर ही पाप और जघन्य कृत्य पुण्य माने जा रहे हैं। प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक आचार्य भीष्म पितामह ने कोष को अत्यन्त बलवान् माना है किन्तु कोष का एकीकरण शुद्ध बुद्ध भावनाओं से ही होने पर बल दिया है। जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से अच्छी प्रकार अवगत हो रहा है :—

"कोष के द्वारा धर्म और काम, लोक एवं परलोक की प्राप्ति होती है किन्तु उस कोप (धन) को धर्म के द्वारा ही प्राप्त करने की इच्छा करे, अधर्म के द्वारा कभी भी नहीं।"[1]

यहाँ पर अधर्म के द्वारा धन एकत्रित करना अत्यन्त बुरा माना गया है क्योंकि अधर्म द्वारा एकत्र किया हुआ कोष कुछ दिन भी स्थिर नहीं रह सकता है। अतः परिश्रम, उद्योग द्वारा ही धन का संचय और कोष की वृद्धि करनी चाहिये।

कोष से सम्पन्न राजा को सबसे श्रेष्ठ माना गया है क्योंकि उसके लोग कोष वृद्धि में सतत प्रयत्नशील रहते हैं :—

"कोप की वृद्धि करने वाले कोषाध्यक्षों द्वारा सदैव प्रयत्न से जिसके कोप की वृद्धि हो रही हो, वही राजा सबसे उत्तम है।"[2]

कोष राज्य की आर्थिक वृद्धि में अत्यधिक सहायता करता है। कोष के न रहने पर न राजा न राज्य ही किसी अर्थ का है।

"बल हीन राजा के पास कोष कैसे रह सकता है और कोपहीन के पास बल (सेना) कैसे रह सकता है। शक्ति (सेना) हीन राजा के पास राज्य कैसे रह सकता है और राज्यहीन के पास (श्री) लक्ष्मी कैसे रह सकती है।"[3]

---

१. कोषेन धर्मः कामश्च परलोकस्तथा ह्ययम् ।
तं च धर्मेण लिप्सेत नाधर्मेण कदाचन। महा० शान्ति १३०।५०

२. कोषाख्यपटलं यस्य कोषवृद्धिकरैर्नरैः ।
आप्तैस्तुष्टैश्च सततं चीयते स नृपोत्तमः ॥ महा० शान्ति० ११५।२०

३. अबलस्य कुतः कोषो ह्यकोषस्य कुतो बलम् ।
अबलस्य कुतो राज्यमराज्ञः श्रीर्भवेत् कुतः ॥महा० शान्ति० १३३।४

अतः दोनों की प्राप्ति के लिए हे युधिष्ठिर ! अच्छे राजा को प्रयत्न करना चाहिये ।

"राजा के सेवक राजा को कोषहीन जानकर उसकी अवहेलना करते हैं । राजा से कम धन लेकर सन्तुष्ट नहीं होते और उसका कार्य उत्साहपूर्वक नहीं करते हैं ।"[1]

"कोष के कारण ही राजा सर्वत्र सम्मान पाता है और जैसे वस्त्र नारी के गुप्त अंगों को छिपाते हैं उसी प्रकार कोष (लक्ष्मी) राजा के सब पापों की रक्षा करता है ।"[2]

इस प्रकार के उद्धरणों से कोष का महत्त्व स्पष्ट प्रतीत हो रहा है । राजा, राज्य और उसकी आर्थिक परियोजनायें कोष के बिना कैसे पूरी हो सकती हैं ? अतः राज्य के उत्थान में आर्थिक विकास का कोप के आधार पर ही अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है ।

इस प्रकार आचार्य भीष्म पितामह के आर्थिक विचारों का राजा युधिष्ठिर पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा । आचार्य भीष्म से ज्ञानराशि प्राप्त कर उसने अपने राज्य की छिन्न-भिन्न आर्थिक स्थिति को सुव्यवस्थित कर लिया था ।



---

१. हीनकोषं हि राजानमवजानन्ति मानवाः ।
नचास्याल्पेन तुष्यन्ति कार्यमप्युत्सहन्ति च ॥ महा० शान्ति० १३३।६

२. श्रियो हि कारणाद् राजा सत्क्रियां लभते पराम् ।
सास्य गूहति पापानि वासो गुह्यमिव स्त्रियाः ॥ महा० शान्ति० १३३।७

"यो यस्मिन् कर्मणिकुशलस्तं तस्मिन्नेव योजयेत्"

(जो व्यक्ति जिस कार्य को करने में निपुण हो उसको उसी कार्य में नियुक्त करना चाहिये। चाणक्य सूत्र ११७)

४

आचार्य कौटिल्य

चतुर्थ अध्याय

आचार्य कौटिल्य

परिचय

'कौटिल्य अर्थशास्त्र' के अन्तिम पन्द्रहवें अधिकरण के प्रथम अध्याय में कौटिल्य अर्थशास्त्र के निर्माता का परिचय इस प्रकार मिलता है :—

"जिसने शास्त्र, शस्त्र और नन्द राजा के अधीन हुई भूमिका क्रोध के कारण अति शीघ्र उद्धार कर दिया, उसी कौटिल्य ने इस शास्त्र (कौटिल्य अर्थशास्त्र) को बनाया ।"[1]

इस प्रकार इस उद्धरण से विदित होता है कि इस अर्थशास्त्र का निर्माता आचार्य कौटिल्य ही था । ऐतिहासिक तथ्यों से अवगत होता है कि 'तक्षशिला विश्वविद्यालय' के प्रख्यात विद्वान् आचार्य कौटिल्य ने मगध की शासन शक्ति को छिन्न-भिन्न होता देखकर राष्ट्रीय भावनाओं से प्रभावित होकर मगध के लिए उचित शासक सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य को दिशा दिखाकर एक विशाल मगध साम्राज्य की स्थापना की ।

कुछ ऐसी भी किंवदन्तियाँ श्रुतिगत होती हैं कि कौटिल्य किसी कार्यवश कहीं जा रहे थे, अकस्मात् उसके पैर पर कुशा का कांटा चुभ गया । उस कांटे का क्रोध सम्पूर्ण कुशा के वन पर निकालने के लिए कुशा की जड़ों को 'मट्ठा' देकर समाप्त करने का कौटिल्य ने निश्चय किया । इस घटना को नवनन्द द्वारा अपमानित एक मन्त्री देख रहा था । उसने सोचा जब कुशा से क्रोधित होकर ऐसा किया जा रहा था, यदि किसी व्यक्ति से यह क्रोधित हो जायेगा तो उसका समूल वंश सहित नाश कर देगा । इस पर 'नवनन्द' राजा का कौटिल्य को निमन्त्रण दिलाकर उसे अपमानित किया गया, जिस अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए कौटिल्य ने अपनी शिखा खोली और प्रण किया कि 'नवनन्द' वंश का

---

१. येन शास्त्रं शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः ।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम् ॥
कौटिल्य १५ अधिकरण १ अध्याय ८० श्लोक

नाश करने के पश्चात् ही अपनी शिखा बाँधूंगा। मुद्राराक्षस संस्कृत के नाटक के अन्तिम अंक के अन्तिम श्लोक से कुछ लोग इस प्रकार की घटनाओं को जोड़ते हैं। ऐसे महान् राजनीतिज्ञ, राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के लिए अपने सर्वस्व को बलिदान करनेवाला व्यक्ति एक तुच्छ बात के लिए कभी ऐसा कर सकता है ? ये घटनायें कपोल कल्पित सी प्रतीत होती हैं किन्तु ऐसे महान् व्यक्ति के मन में राष्ट्रीय भावनाओं के कारण 'नवनन्द' राजाओं के अत्याचारों से प्रपीड़ित जनता के उद्धार, राष्ट्रीय एकता पर आँच आती देखकर एवं सिकन्दर महान् जैसे विजेता की इच्छाओं को जानकर राष्ट्र के हित को दृष्टि में रखकर दुष्ट राजा को पदच्युत करने एवं योग्य शासक का चयन करने के लिए ही ऐसा करना युक्ति संगत हो सकता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि 'अम्बी' जैसे देशद्रोही राजा 'पोरस' को पराजित करने के लिए सिकन्दर को अपने देश पर आक्रमण करने के लिए बुला सकता है, तो क्या आचार्य कौटिल्य राष्ट्र की एकता के लिए दुष्ट शासक को समूल नष्ट कर सिकन्दर को सदा के लिए अपनी राष्ट्रीय एकता और अखण्डता का प्रमाण नहीं दे सकता था ?

कौटिल्य तक्षशिला विश्वविद्यालय का अपने विषय का आचार्य और चन्द्रगुप्त मौर्य उस विश्वविद्यालय का विद्यार्थी थे। दोनों ने एक दूसरे का सहयोग लेकर एवं राष्ट्रहित को दृष्टि में रखते हुए मगध राज्य की शक्ति को संगठित करने का प्रण किया। इस प्रकार की एकता ने सिकन्दर तक का उत्साह तोड़ दिया था और उसकी बुद्धि कौटिल्य की नीति के समक्ष संचरित न हो सकी। आचार्य कौटिल्य की कुशाग्रबुद्धि, शासन संचालन की नीति और मगध साम्राज्य की स्थापना, सैन्य संगठन एवं रण कुशलता देखकर सिकन्दर आश्चर्य चकित था। कौटिल्य को एक विशाल साम्राज्य का महामात्य देखकर भी उसके अत्यन्त साधारण जीवन से सिकन्दर महान् अत्यधिक प्रभावित हुआ था।

आचार्य कौटिल्य को संस्कृत वाङ्मय में अनेक नामों से पुकारा गया है। कौटिल्य, चाणक्य और विष्णुगुप्त, कई नामों के कारण भिन्न-भिन्न व्यक्ति होने की परिकल्पना नहीं की जा सकती है और कौटिल्य की प्रामाणिकता पर किसी प्रकार की शंका भी नहीं की जा सकती है।

कुटिल नीति का पोषक, उसके दांव पेचों को अच्छी प्रकार से जानने के कारण उसका नाम 'कौटिल्य' पड़ा क्योंकि संस्कृत साहित्य के विशाखदत्त नामक महाकवि के राजनैतिक विषयक नाटक 'मुद्राराक्षस' का अध्ययन करने पर विदित होता है कि आचार्य कौटिल्य अपनी बुद्धि की तलवार को उठाता हुआ

सभी क्षेत्रों में पूर्ण रूप से सफल हो जाता है। वह लोहे की तलवार को कभी भी हाथ में नहीं उठाता किन्तु हजारों शत्रुओं को भयभीत कर कुछ ही क्षणों में संहार करके दिखा देता है। इन्हीं कुटिल नीतियों के कारण उसे 'कौटिल्य' नाम दिया गया है और उन कार्यों के कारण वह प्रसिद्ध हो गया।

चणक ऋषि की सन्तान होने के कारण 'चाणक्य' उसका नाम प्रसिद्ध हो गया, गोत्र के नाम से भी वह विख्यात हुआ है। जैसा कि आचार्य कामन्दकी ने अपने कामन्दकी नीतिसार के प्रथम सर्ग के द्वितीय श्लोक में आचार्य कौटिल्य के प्रख्यात वंश का इस प्रकार परिचय दिया है :—

'दान न लेनेवाले विशाल वंश में महान् ऋषियों के समान प्रसिद्ध वंश में जन्म लिया। जो जगत में विख्यात है।'

संसार की समस्त भाषाओं में अनुवादित होनेवाली रचना पंचतन्त्र का रचयिता भी विष्णुगुप्त को ही माना गया है। आचार्य कामन्दकी ने गुरु के रूप में आचार्य कौटिल्य के वास्तविक नाम 'विष्णुगुप्त' को लेते हुए नमस्कार किया है। इस प्रकार के प्रमाणों से आचार्य कौटिल्य, चाणक्य और विष्णुगुप्त भिन्न-भिन्न नामों का भ्रम पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है और ऐतिहासिक तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि अपने युग में आचार्य कौटिल्य अपने कार्यों से इतना प्रिय हो गया था कि उसके कार्यों के अनुसार ही उसे जनता कई नामों से उसे सम्बोधित करती थी।

वस्तुतः आचार्य कौटिल्य के विषय में पाश्चात्य विद्वानों ने जितनी भ्रमात्मक धारणायें फैलाई थीं, उन सभी का निवारण एवं कौटिल्य का सच्चा परिचय और 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' की प्रामाणिकता का ज्ञान 'कामन्दकी नीति सार' ग्रन्थ से अवगत हो रहा है, उतना किसी अन्य ग्रन्थ के अवलोकन से विदित नहीं होता। मेरा पूर्ण विश्वास है कि अध्येता कामन्दकी नीतिसार की उद्धृत पाद टिप्पणियों से वास्तविकता को अच्छी प्रकार जान सकेंगे कि 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' का रचयिता कौन था ? वह किस शताब्दी में हुआ और उस महान् व्यक्ति ने कौन-कौन विचित्र कार्य करके दिखाये हैं।

आचार्य कौटिल्य की विद्वत्ता, त्याग, साम्राज्य संगठन, अन्याय के प्रति विद्रोह, भ्रष्टाचार का उन्मूलन, स्वस्थ परम्पराओं की स्थापना, राष्ट्रीय एकता और देश की आर्थिक व्यवस्था को समुन्नत करने के लिए जो कुछ किया वह सब कामन्दकी के नीतिसार से अवगत होता है।

'जिस कौटिल्य ने प्रतिग्रह रहित पृथ्वी में विख्यात विशाल वंश में महान् ऋषियों के समान जन्म ग्रहण किया है ।'[1]

आचार्य कौटिल्य के विख्यात वंश चणक ऋषि की सन्तान चाणक्य होने का परिचय देते हुए उसकी तेजस्विता, बुद्धिमत्ता और दृढ़निष्ठा का परिचय इस श्लोक से स्पष्ट होता है । नन्दवंश के अत्याचार से इसी आचार्य ने मगध सामाज्य को स्वतन्त्र कराया और नन्दवंश का विनाश किया । जैसे :—

"जो वज्र और अग्नि के समान तेजवाला, जिसके वज्र के प्रहार से अच्छे पर्ववाला लक्ष्मी सम्पन्न नन्दवंश रूपी पर्वत मूल से ही गिर गया ।"[2]

"जो शक्ति में शक्तिधर (कार्तिकेय) के समान है, जिसने एकाकी मन्त्र की शक्ति से राजा चन्द्रगुप्त को साम्राज्य दिया ।"[3]

आचार्य कामन्दकी के इस प्रकार के उद्धरणों से यह अच्छी प्रकार विदित होता है कि आचार्य कौटिल्य इतिहास प्रसिद्ध सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के वंश के संस्थापक, एवं चन्द्रगुप्त को राजा बनाने वाले, नन्दवंश के विनाशक, सम्राट् चन्द्रगुप्त के महामात्य और कौटिल्य अर्थशास्त्र के निर्माता थे । चन्द्रगुप्त मौर्य का काल चौथी शताब्दी ईसा पूर्व निर्धारण किया गया है । उसी आधार पर आचार्य कौटिल्य का समय भी ४ शताब्दी ईसा पूर्व माना जाना न्याय-संगत है ।

आचार्य कौटिल्य को निष्पक्ष भाव से सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य और सिकन्दर महान् का समकालीन माना जाना चाहिये ।

संस्कृत साहित्य में १८ पुराणों का भी ऐतिहासिक तथ्यों के अन्वेषण करने में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है । प्राचीन भारतीय राजवंशों का पुराणों में अत्यधिक वर्णन हुआ है और विष्णुपुराण में तो चन्द्रगुप्त मौर्य का भी वर्णन हुआ है किन्तु आचार्य कौटिल्य का वर्णन करती बार सभी पुराण मौन दिखाई देते हैं । ऐसा भी हो सकता है कि 'कौटिल्य' उनका वर्ण्य-विषय नहीं अपितु राजाओं का वर्णन और कार्यों का वर्णन करना पुराणों का कार्य रहा है ।

---

१. वंशे विशाल वंश्मानामृषीणामिव भूयसाम् ।
अप्रतिग्राहकाणां यो बभूव भुवि विश्रुतः ॥
कामन्दकी नीतिसार १ सर्ग २ श्लोक

१. यस्याभिचारवज्रेण वज्रज्वलनतेजसः ।
पपात मूलतः श्रीमान् सुपर्वा नन्दपर्वतः ॥ कामन्दकी १।४

२. एकाकी मन्त्रशक्त्या यः शक्त्या शक्तिधरोपमः ।
आजहार नृचन्द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम् ॥ कामन्दकी १।५

कामन्दकी ने अपनी रचना में यह प्रमाणित किया है कि आचार्य कौटिल्य ने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि के द्वारा नवनन्द वंश को समाप्त कर, एक सुशासक को मगध साम्राज्य का शासक बना, देशकी विभक्त हुई शक्ति को संगठित कर मौर्य साम्राज्य की स्थापना की ।

आचार्य कौटिल्य की जनहितकारी आर्थिक योजनाओं को, सुसंगठित शासन पद्धतिको, सुनियोजित ग्राम, नगर व्यवस्था को और नियन्त्रित कर्मचारी तन्त्र को देखकर उसके रचनात्मक कार्यों एवं त्यागमय जीवन से प्रभावित होकर कामन्दकी ने अपनी श्रद्धा को इस प्रकार प्रकट किया हैं :—

"जिस बुद्धिमान् ने अर्थशास्त्र रूपी समुद्र से नीति शास्त्र रूपी अमृत निकाला, उस विद्वान् विष्णुगुप्त (आचार्य कौटिल्य) को मैं नमस्कार करता हूँ।"[1]

इस प्रकार के उद्धरणों से आचार्य कौटिल्य और उसके महान् ग्रन्थ 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' की प्रामाणिकता प्रकट होती है ।

प्राचीन भारतीयों की अर्थशास्त्र के चिन्तन की ओर कितनी रुचि और ज्ञान था । इस क्षेत्र में वे कितनी उन्नति और विकास कर चुके थे । उनकी विकसित एवं सुसंगठित आर्थिक व्यवस्था को देखकर विरोधी लोग आश्चर्य-चकित होकर अनेक प्रकार के दोषारोपण लगाते हैं ।

"आचार्य कौटिल्य ने सब शास्त्रों को अच्छी प्रकार अध्ययन कर एवं भली-भाँति उनका प्रयोग कर राजा के लिए इस शासन विधि को निर्मित किया है।"[2]

इस प्रकार के उद्धरण से यह अच्छी प्रकार विदित होता है कि नन्द साम्राज्य को विनष्ट कर, सुशासन की स्थापना के लिए, शासक को चरित्रवान् बनाने, कर्मचारी तन्त्र को कर्तव्यनिष्ठ बनाने और प्रजा को उद्योगशील बनाने के लिए "कौटिल्य अर्थशास्त्र" जैसे उपयोगी ग्रन्थ का निर्माण कर उसकी शासन विधि पर चलाकर कौटिल्य ने आर्थिक विकास का मार्ग दिखाया था ।

इस 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' से यह भी विदित होता है कि अर्थ को आवश्यक मानते हुए उस युग में प्रयुक्त होने वाले अन्य राजनीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, नीति-

---

१. नीतिशास्त्रामृतं धीमानर्थशास्त्रमहोदधेः ।
समुद्दध्रे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे ॥ कामन्दकी १।६

२. सर्वशास्त्राण्यमनुक्रम्य प्रयोगमुपलभ्य च ।
कौटिल्येन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधिः कृतः ॥ कौ० २।१०,६५

शास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और दर्शनशास्त्रों का भी कौटिल्य अर्थशास्त्र में विस्तृत विवेचन हुआ है क्योंकि उस युग में अर्थशास्त्र से इन सभी शास्त्रों का बोध होता था। आगे चलकर समय के अनुसार सभी शास्त्रों का स्वतन्त्र रूप से चिन्तन होने लगा है और आज वे शास्त्र पृथक्-पृथक् नामों से प्रयुक्त होने लगे हैं। प्राचीन काल में उपयोगिता एवं व्यवहार कुशलता के लिए शासक, मन्त्रिमण्डल, कर्मचारी वर्ग सभी इन सभी शास्त्रों के ज्ञाता होते थे। एक ही ग्रन्थ में पूर्व वर्णित सभी शास्त्रों का विवेचन इसीलिये होता था। इस प्रकार की घटनाओं के कारण ही पाश्चात्य विचारधारा के लोग ऐसा सोचते हैं कि प्राचीन भारतीयों को अर्थशास्त्र विषय का ज्ञान न था। उसका ही मुख्य कारण है कि हमारे भारतीय विश्वविद्यालयों में प्राचीन भारतीय विचारकों के विचारों के पठन-पाठन की पद्धति ही न चल पा सकी।

पाश्चात्य लेखकों को कौटिल्य अर्थशास्त्र की विषय वस्तु एवं प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों का अर्थशास्त्र, राजशास्त्र और समाजशास्त्र विषयक ज्ञान देखकर यह सहन न हो सका कि परतन्त्र भारतीय मस्तिष्क इतना सुयोग्य प्रशासक हो सकता है। इस प्रकार के पूर्वाग्रह को वे कैसे सुधार सकते थे। अतः उन्होंने प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक आचार्य कौटिल्य की सुव्यवस्थित ज्ञानराशि को प्रकाश में आते ही आलोचनायें प्रारम्भ कर दीं कि "कौटिल्य" नाम का कोई व्यक्ति ही नहीं हुआ है, यह ग्रन्थ भी जाली है और इसे अप्रामाणिक एवं अंग्रेजों के आगमन के बाद की रचना माना है।

प्राचीन भारतीय विचारकों से पाश्चात्य विचारकों को उच्चतम माननेवाले डाक्टर 'जॉली' जैसे व्यक्ति कौटिल्य के महत्त्व को कैसे सहन कर सकते थे। दुर्भाग्य यह था कि भारत परतन्त्र था और उसकी वास्तविक प्रतिभा वाले व्यक्ति अपनी रोजी रोटी की समस्या में लगे हुए थे और जो अति प्राचीन प्रतिभावान् विचारक थे उनकी रचनाएँ लुप्तप्राय थीं। सौभाग्य से महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री, गणपति शास्त्री, पण्डित शामशास्त्री, डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल आदि विद्वानों ने अपने प्राचीन गौरव को प्रकाश में लाने और 'आचार्य कौटिल्य' के अर्थशास्त्र को अंग्रेजी में अनुवाद करके एवं प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों के विचारों को संसार के समक्ष रखकर अपनी मान्यताओं को स्वीकृत कराया।

प्राचीन भारतीय विचारकों को प्रकाश में आता देखकर पाश्चात्य विद्वान् भी भारतीय संस्कृत वाङ्मय को अध्ययन करने की ओर प्रवृत्त हुए किन्तु हृदय

से वे इस प्राचीन भारतीय परम्परा को अच्छी दृष्टि से न देख सके और उन्होंने संस्कृत साहित्य का इतिहास लिखने में मनमाना समय निर्धारण किया।

डाक्टर जॉली ने प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों में आचार्य कौटिल्य की मान्यता को स्वीकार ही नहीं किया यहाँ तक कि अपनी पुस्तक 'अर्थशास्त्र ऑफ कौटिल्य' की भूमिका में आचार्य कौटिल्य को एक कल्पित व्यक्ति और कौटिल्य अर्थशास्त्र को एक जाली ग्रन्थ मानते हुए अपने ही इस मत के कई और पाश्चात्य विद्वानों को तय्यार किया। जिसमें 'ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर' के लेखक डॉक्टर विंटरनित्स और 'ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर' एवं 'संस्कृत ड्रामा' के लेखक डॉक्टर ए० बी० कीथ ने 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' को तीसरी शताब्दी की रचना माना है।

ऐतिहासिक तथ्यों के अध्ययन से यह भली भांति विदित होता है कि आचार्य कौटिल्य महत्वाकांक्षी सिकन्दर महान् का समकालीन था। सिकन्दर महान् ने प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक आचार्य कौटिल्य के महान् कार्यों को देखकर उसकी महत्ता स्वीकार की और उसके कार्यों के समक्ष सिर झुकाया। सैल्यूकस के मन में आचार्य कौटिल्य की विलक्षण बुद्धि के प्रति कुछ शंका थी अतः उसने सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् भारत पर आक्रमण किया। जिसका मूल्य उसे अपनी पुत्री, कुछ राज्य और अनेक अच्छे-अच्छे उपहार देकर चुकाना पड़ा। यूनानी लेखक मेगस्थनीज की इंडिका इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

यद्यपि मेगस्थनीज ने अपनी भारत यात्रा में कहीं भी आचार्य कौटिल्य का नाम नहीं लिया केवल सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासन प्रबन्ध का वर्णन किया है। यदि मेगस्थनीज ने आचार्य कौटिल्य का नाम नहीं लिया तो इसका यह कारण नहीं कि अर्थशास्त्र और कौटिल्य उस शताब्दी में थे ही नहीं। आचार्य कौटिल्य एक विचारक था। उसका राजसी ठाटबाट से कोई सम्बन्ध नहीं था। उसका कार्य शासन को अपनी व्यवस्था द्वारा सुदृढ़ बनाना एवं विकसित करना था। मेगस्थनीज का उद्देश्य केवल राजाओं से मिलने का था न कि कौटिल्य जैसे विचारकों से मिलने का था। सच्चा त्यागी, विचारक एवं राष्ट्र निर्माता अपने निर्माण के कार्यों में तल्लीन रहता है न कि आडम्बरी कार्यों के प्रदर्शन में। अतः मेगस्थनीज कौटिल्य के विषय में कुछ नहीं लिख सका। मेगस्थनीज को भारतीय भाषाओं का भी इतना ज्ञान न रहा होगा कि वह 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' जैसी पुस्तक को पढ़ सकता या उसकी विषय वस्तु को समझ सकता। अतः अपनी इस त्रुटि के कारण वह केवल राजसी वैभव को देखने में ही मंत्रमुग्ध हो गया

और कौटिल्य जैसे विचारक एवं अर्थशास्त्र जैसी पुस्तक से परिचित न हो सका। अतः उसने इन दोनों का वर्णन नहीं किया।

पाश्चात्य लेखकों ने एवं कुछ इतिहासकारों ने 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' के रचयिता आचार्य कौटिल्य को मेगस्थनीज के आधार पर भी प्रामाणिक नहीं माना।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय के विद्वान् एवं प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक कौटिल्य के समर्थक डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने अपनी पुस्तक 'हिन्दू पॉलिटी' में आचार्य कौटिल्य को ही 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' का रचयिता माना है और सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य का महामन्त्री। इस कौटिल्य अर्थशास्त्र को निम्नलिखित विद्वानों ने **चौथी शताब्दी ईसा पूर्व की** रचना माना है :—

१—प्राचीन भारतीय इतिहास लेखक वी० ए० स्मिथ २—एफ० डब्लू० थौमस ३—एल० डी० बर्नेट ४—जैकोबी ५—शामशास्त्री ६—डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ७—हेमचन्द्र राय आदि।

काव्यशास्त्र के विद्वान् काव्यादर्श एवं दशकुमारचरित के रचयिता आचार्य दण्डि ने अपनी पदलालित्य वाली भाषा में आचार्य कौटिल्य का नाम स्मरण किया है। प्रथम कुमार को कौटिल्य और कामन्दकी के समान नीतिशास्त्र के ज्ञान में कुशलमानते हुए तुलना की है।[1]

इस प्रकार के उद्धरण से ऐसा विदित होता है कि छठी शताब्दी में नीतिशास्त्र की पुस्तकों का पठन पाठन अति तीव्रगति से प्रचलित था और आचार्य कौटिल्य एवं कामन्दकी का नाम अत्यधिक प्रसिद्ध हो चुका था एवं तात्कालीन समाज में इनके ग्रन्थों का अत्यन्त सम्मान था। इसीलिये अनेक काव्य, नाटकों में आचार्य कौटिल्य का उल्लेख मिलता है।

डाक्टर कीथ ने अपनी 'ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर' में कौटिल्य अर्थशास्त्र को संस्कृत साहित्य का सबसे आकर्षक ग्रन्थ माना तो है किन्तु प्रामाणिकता और उसके निश्चत समय के विषय में डाक्टर 'जॉली' की ही नीति को अपनाया है। 'मैकियावली' हॉब्स, बिस्मार्क आदि से तुलना में कौटिल्य को न्यून ही दिखाने की चेष्टा की है। डॉक्टर कीथ ने आर्थिक दृष्टिकोण, देश, काल का तनिक भी ध्यान नहीं रखा। उन्होंने अधिकतर जॉली के मत को मुख्य माना है। कीथ ने एक दो उदाहरण उपस्थित कर यह भी दिखाया है कि यह

---

१. "कौटिल्यकामन्दकीयादिनीति पटल कौशलं"
दण्डि—दशकुमारचरित–प्रथमउच्छ्वास अन्तिममार्ग

'कौटिल्य अर्थशास्त्र' कौटिल्य की रचना नहीं हो सकती। कारण यदि कौटिल्य की ही यह रचना होती तो वह ऐसा क्यों लिखता—'अर्थ ही प्रधान है ऐसा कौटिल्य मानता है।'[१] कौटिल्य कहता है इससे यह तात्पर्य निकलता कि यह बोलने वाला कोई अन्य व्यक्ति है।

कीथ ने वर्णाश्रम धर्म आदि की चर्चा करते हुए कौटिल्य अर्थशास्त्र को ब्राह्मण धर्म का पोषक माना है। कौटिल्य के युग में समाज ने जिन मान्यताओं को महत्व दिया या अपनाया था उन्हीं का कौटिल्य ने युग के अनुरूप वर्णन किया है। युग के विरुद्ध तो उसने कहीं कुछ नहीं लिखा ?

इस कौटिल्य अर्थशास्त्र के अन्तिम पद्य पर भी डाक्टर कीथ के शंकालु मन और पक्षपाती मस्तिष्क ने वास्तविकताओं को स्वीकार नहीं किया। संस्कृत साहित्य का डाक्टर कीथ जैसे अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने अत्यधिक अध्ययन किया और काम भी किया। इस रुचि की हम प्रशंसा करते हैं किन्तु हृदय की कपटता और हमारे प्राचीन भारतीय विद्वानों की तिथियों में मनमाना क्रम बनाने में पक्षपात अवश्य किया है। परतन्त्रता के समय में ये ही पाश्चात्य विद्वान् हमारे साहित्य के भाग्य विधाता थे। इन्होंने जो उचित समझा वही समय निर्धारण कर दिया। कौटिल्य अर्थशास्त्र की विषय वस्तु संसार के सभ्य कहलाने वाले देशों की सभ्यता से हजारों वर्ष पूर्व सुव्यवस्थित रूप में आ चुकी थी जो पाश्चात्य विद्वानों के लिए असह्य थी। यही कारण था कि उन्होंने हमारे साहित्य के बारे में अनेक भ्रमात्मक धारणायें फैलाई हैं।

आचार्य कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ के अन्त में प्राचीन भारतीय अर्थ शास्त्रियों की हजारों वर्ष पूर्व से चिन्तन करने की प्रक्रिया का एवं अनेक मतभेदों का वर्णन करते हुये यह स्पष्ट दिखाया है कि "मैं प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रकारों के मत-भेदों को देखकर स्वयं विष्णुगुप्त ने इस अर्थशास्त्र के सूत्र और भाष्य का निर्माण किया है।"[२]

इस प्रकार के प्रमाणों एवं उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि आचार्य कौटिल्य से हजारों वर्ष पूर्व 'प्राचीन भारतीयों का अर्थशास्त्र' में

---

१. अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्यः। कौटिल्य १ अधिकरण ७ अध्याय १० श्लोक

२. दृष्ट्वा विप्रतिपत्तिं बहुधा शास्त्रेषु भाष्यकाराणाम्।
स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यं च ॥ कौ० १५।१।८१

कितना ज्ञान था और वे अर्थ का प्रतिपादन कितने विशद रूप में कर चुके थे। इसका समुचित वर्णन वास्तविक तथ्यों को देखकर किया है। अतः पूर्वाग्रह लेकर दोष देखने वाले दोषों को ही देखेंगे।

कुछ विदेशी विद्वानों ने 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' को किसी और का रचा ग्रन्थ माना है। इस प्रकार की धाणायें भ्रमात्मक और भारतीयों के उन्नत ज्ञान को मान्यता न देना है। आचार्य कौटिल्य ने स्वयं अपने ग्रन्थ की विषय-वस्तु को वर्णन करते हुए यह लिखा है: —

'सुखपूर्वक ग्रहण करने योग्य, तत्व वाले अर्थ और पदों का प्रयोग कर, ग्रन्थ व्यर्थ विस्तार को छोड़कर इस अर्थ शास्त्र को कौटिल्य ने बनाया है।'[१]

इस प्रकार के ऊद्धरणों से प्राचीन भारतीयों के अर्थशास्त्र के ज्ञान का अच्छा परिचय मिलता है और कौटिल्य अर्थशास्त्र का निर्माता निर्विरोध आचार्य कौटिल्य ही प्रमाणित होता है। अन्ततोगत्वा आचार्य कौटिल्य को उनके आर्थिक विचारों के कारण मान्यता मिल कर रही।

आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अध्ययन करने पर एवं पूर्वाचार्यों का वर्णन और अनेक नामों को पढ़ने से यह अच्छी प्रकार विदित हो रहा है कि आचार्य कौटिल्य के समय अतिप्राचीन काल से अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का चिन्तन करने वाले कई समुदाय थे जिन्हें अर्थशास्त्र के कई स्कूल कहा जा सकता है। एक-एक आचार्य इन स्कूलों के प्रवर्तक थे। जिनका नाम आचार्य कौटिल्य ने कृतज्ञता ज्ञापन करते हुए बड़े सम्मान के साथ लिया है।

पाश्चात्य विद्वानों ने प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रीय परम्पराओं को इसीलिए महत्व नहीं दिया कि यदि आचार्य कौटिल्य को प्रामाणिक माना जायेगा तो उसके ग्रन्थ को भी प्रमाण मानना पड़ेगा और कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णित प्राचीन भारतीय अनेक आचार्यों की अर्थशास्त्र सम्बन्धी चिन्तन प्रक्रियाओं को भी स्वीकार करना होगा। इस पाश्चात्य मान्यता एवं स्वीकृति से कुछ ही वर्षों की विकसित सभ्यता और पाश्चात्य आर्थिक चिंतन बहुत पीछे का प्रमाणित हो जाता है। उनका महत्त्व एवं शासन संचालन की विशेषतायें इस हजारों वर्षों पूर्व के आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक चिन्तन के समक्ष सर्वथा नवीन और प्रेरणादायक होकर गुरु पद पर सम्मानित होती।

---

१. सुखग्रहणविज्ञेयं तत्वार्थपदनिश्चितम्।
कौटिल्येन कृतं शास्त्रं विमुक्तग्रन्थ विस्तरम्॥ कौ० १।१।१६४

अतः इस सबको छिपाने के लिए उन्हें कौटिल्य अर्थशास्त्र ग्रंथ एवं उसके रचयिता आचार्य कौटिल्य को जाली, अप्रमाणिक और बहुत बाद की रचना सिद्ध करने के लिए द्रविड़ प्राणायाम की पृष्ठ भूमि का निर्माण करना पड़ा। अन्ततोगत्वा आचार्य कौटिल्य के सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक विचारों के सम्मुख पाश्चात्य विद्वानों को भी नतमस्तक होना पड़ा।

प्राचीन भारतीय विचारकों की चिन्तन प्रक्रिया, उनके अर्थशास्त्र के स्कूलों और आचार्य कौटिल्य की सर्वतोमुखी प्रतिभा का चमत्कार आगे वर्णित की जाने वाली विषय वस्तु से आधुनिक और पाश्चात्य विचारधारा के अध्येता स्वयं परिचित होकर किसी एक वास्तविक तथ्य पर पहुँच जायेंगे।

आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र के विषय में यदि ऐसा कहा जाये कि कौन सी चीज ऐसी है जो इसमें प्रतिपादित नहीं की गई है? और कौन सी ऐसी सामग्री है जो इसमें छूट गई है? इसका उत्तर बिना सम्पूर्ण 'कौटिल्य अर्थ-शास्त्र' का अध्ययन किये बिना देना अत्यन्त कठिन है। वस्तुतः आचार्य कौटिल्य ने अपनी 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' रूपी गागर में अर्थशास्त्र विषय सम्बन्धी सम्पूर्ण सागर को भर दिया है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के समय तक अर्थशास्त्र शब्द इन सभी शास्त्रों के लिए प्रयुक्त होता था :—राजशास्त्र, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र, विधिशास्त्र, इतिहास और अर्थशास्त्र। उसी परम्परा के अनुरूप आर्थिक विचारक आचार्य कौटिल्य के ग्रन्थ का नाम भी अर्थशास्त्र नाम से प्रसिद्ध हो गया।

इस महान् और विशाल सम्पूर्ण कौटिल्य अर्थशास्त्र में १५ अधिकरण, १५० अध्याय, १८० प्रकरण और ६ हजार श्लोक हैं।[1]

जीवन में अर्थ का महत्व :—भारतीय जीवन में 'अर्थ' का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है। अर्थ प्राप्ति के लिए ही मानव रात-दिन प्रयत्न-शील रहता है। आज के युग में प्रत्येक देश अपने आर्थिक विकास के लिए कठिन परिश्रम करके वैज्ञानिक उपायों द्वारा उन्नति कर रहा है। आधुनिक युग में पाश्चात्य अर्थशास्त्री अपने आर्थिक साधनों द्वारा विकास करते हुए यह अनुभव करते हैं कि हम ही संसार में आर्थिक क्षेत्र में सम्पन्न, खुशहाल और अपने

---

१. शास्त्रसमुद्देशाः पञ्चदशधिकरणानि सपञ्चाशदध्यायशतं साशीति प्रकरणशतं षट्श्लोक सहस्राणीति ॥

कौटिल्य अर्थशास्त्र १ अधिकरण १ अध्याय १६३ श्लोक

प्रयोगों में पूर्ण सफल हुए हैं। संसार परिवर्तनशील है। उद्योगी व्यक्ति सदा सभी युगों में अपने उद्देश्य में सफल रहा है।

प्राचीन और आधुनिक पद्धतियों में, देश, काल और परिस्थितियों पर विचार करते हुए यह विचार करना पड़ेगा कि दोनों पद्धतियों में कौन सी पद्धति उपयोगी और लाभप्रद सिद्ध हुई है। इस पर अधिक तुलनात्मक विवेचन आगे किया जायेगा। इस समय विचारणीय विषय यह है कि जिस प्रकार पाश्चात्य आर्थिक विचारक एडम स्मिथ, माल्थस, रिकार्डो, सिसमाण्डी, सेंट साइमन, जान स्टुअर्ट मिल, कार्लमार्क्स, रस्किन, टालस्टाय, मार्शल और कीन्स आदि ने अपने विचारों द्वारा अर्थशास्त्र को बहुत कुछ दिया है। ये पाश्चात्य आर्थिक विचारक जगत में अपने विचारों के द्वारा सम्मानपूर्ण स्थान पा चुके हैं और भारतीय विश्वविद्यालयों में अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से पाठ्यक्रमों में इनके विचारों को स्थान दिया गया है।

भारत में परतन्त्रता के समय ऐसा हुआ यह तो ठीक ही था किन्तु आज देश को स्वतन्त्र हुए २५ वर्ष हो गये किन्तु आर्थिक एवं शिक्षण पद्धति में तनिक भी परिवर्तन नहीं हो पाया। कारण या तो भारतीय विश्वविद्यालयों के अर्थशास्त्र के विद्वान् पाश्चात्य आर्थिक विचारकों के रंग में इतने रंगे हैं कि उन्हें प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों की रचनाओं अथवा विचारों का पता ही नहीं या वे भारत में रहते हुए प्राचीन भारतीय विचारधारा के विचारों से सहमत नहीं हैं किन्तु यदि सहमत नहीं हैं तो उन पर आलोचना करते हुए त्रुटि तो बता ही सकते हैं। पाश्चात्य और प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन हो। अतः प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों की विचारधारा को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। आशा है अर्थशास्त्र विषय के अध्येता इस पर निष्पक्ष भाव से मनन कर वास्तविकता को ग्रहण करते हुए प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों के आर्थिक विचारों को अवश्य अध्ययन करेंगे।

आचार्य कौटिल्य का नाम प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों में अत्यन्त सम्मान के साथ लिया जाता है। कौटिल्य ने अपने 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' में आर्थिक विषयों पर किस प्रकार अपने विचार प्रकट किये हैं। इस पर ही यहाँ विस्तृत सप्रमाण विवेचन किया जायेगा।

अर्थ किसे कहते हैं ?

आधुनिक और प्राचीन काल में अर्थ का जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। व्यक्ति अर्थ प्राप्ति के लिए ही अत्यधिक कष्ट सहन करता आ रहा है

अब विचारणीय विषय यह है कि जिस अर्थ के लिए मनुष्य इतने कष्ट उठाता है और रात दिन उसको पाने के लिए उत्सुक रहता है अन्तोगत्वा वह अर्थ क्या चीज है ?

आचार्य कौटिल्य ने अपने 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' में अर्थ की परिभाषा इस प्रकार की लिखी है :—

मनुष्यों की जीविका को अर्थ कहते हैं ।[1] और मनुष्यों वाली भूमि को भी अर्थ कहते हैं ।[2]

आचार्य कौटिल्य ने इस प्रकार अर्थ की परिभाषा दो प्रकार से मानी है । १—जीविका एवं २—भूमि । जीविका और भूमि का सम्बन्ध मनुष्य से जोड़ा गया है क्योंकि अर्थ और भूमि का लाभ मनुष्य के उपयोग और उपभोग के लिए ही तो होता है ।

प्राय: देखा जाता है कि संसार के सभी देशों में मनुष्य अपने भोजनाच्छादन और जगत के समस्त व्यवहार को कैसे चलाता है ? वस्तुत: आजीविका और व्यवहार बिना अर्थ के चल ही नहीं सकते । पुन: अर्थ की प्राप्ति कैसे होगी ? इसके लिए आचार्य कौटिल्य ने अर्थ प्राप्त करने के लिए भूमि (कृषि) को ही प्रथम स्थान दिया है । क्या भूमि कहने मात्र या भूमि के रखने मात्र से 'अर्थ की प्राप्ति, जीविका की समस्या हल और व्यवहार का सम्पादन हो जायेगा ? कभी नहीं । अत: प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक कौटिल्य ने उद्योग को जीविका और व्यवहार चलाने में आवश्यक माना है एवं अर्थ की प्राप्ति में बिना सहयोग के हो ही नहीं सकती । इसीलिए कौटिल्य ने दूसरे श्लोक में स्पष्ट करते हुए बताया कि मनुष्यों वाली भूमि को ही अर्थ माना है । जिस भूमि में मनुष्य होंगे वे ही मनुष्य अपने पुरुषार्थ से उस भूमि से अपनी आजीविका और जगत के व्यवहार को चलाने के लिए संगठित होकर उत्पादन को बढ़ायेंगे । भूमि और मनुष्यों से जीवन रक्षा हेतु जिस वस्तु की प्राप्ति हुई उसी को 'अर्थ' नाम दिया गया हैं । अर्थ मानव जीवनयापन करने के लिए एवं जगत का व्यवहार चलाने के लिए परमावश्यक माना गया है ।

'अर्थ' की परिभाषा बताते हुए आचार्य कौटिल्य ने उस शास्त्र की भी परिभाषा बताई है जो जगत् के व्यवहार को चलाने की एवं मनुष्य के जीवन

---

१. मनुष्याणां वृत्तिरर्थः । कौटिल्य १५ अधिकरण १ अध्याय १ श्लोक
२. मनुष्यवती भूमिरित्यर्थं ।। कौटिल्य १५ अधि० १ अध्याय २ श्लोक

को अर्थ के द्वारा उन्नत करने की प्रक्रिया को बताता है। उसकी परिभाषा इस प्रकार बताई है।

अर्थशास्त्र किसे कहते हैं ?

मानव के जीवन में और जगत के व्यवहार को चलाने में भूमि का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान माना गया है। आधुनिक, प्राचीन और पाश्चात्य सभी आर्थिक विचारकों ने भूमि का अधिक गुणगान किया है। यहाँ तक कि पृथ्वी को 'रत्नगर्भा', व'सुन्धरा' आदि अनेक नामों से उसके गुणों के कारण विभूशित किया गया है। अतः अर्थ प्राप्ति में भूमि को सर्व श्रेष्ठ माना गया है।

उस पृथ्वी (भूमि) को लाभ (प्राप्त) करने और पालन करने (रक्षा-करने) के उपायों को बताने वाले शास्त्र को '**अर्थशास्त्र**' कहते हैं।[1]

पृथ्वी अपने जीविका के लिए कैसे प्राप्त की जाये और प्राप्त होने पर कैसे उसकी रक्षा की जाये जिससे वह अधिक उत्पादन कर सके। इस प्रकार अधिक उत्पादन करने, जीविका देने और समाज के व्यवहार को चलाने के लिए जो शास्त्र मार्ग बताता है उस शास्त्र को ही अर्थशास्त्र नाम दिया गया है। अर्थ प्राप्ति के साधनों को भी यह शास्त्र बताता है। अर्थ को किस प्रकार एकत्रित किया जाये और एकत्रित करके उसका उपयोग और उपभोग किस प्रकार हो, इस प्रकार की व्यवहारिकता बताने वाले शास्त्र को अर्थशास्त्र नाम इस लिये ही दिया गया है। वस्तुतः यदि अर्थशास्त्र को व्यवहार शास्त्र कहा जाये तो अनुचित न होगा।

अर्थं का जीवन में महत्त्व :—वस्तुत : किसी भी काल में देखा जाय तो मानव जीवन को व्यतीत करने और सुखमय उपायों द्वारा जीवन यापन करने के लिए अर्थ, धन, हिरण्य, मुद्रा, कांचन आदि की परमावश्यकता रही है। इन नामों के बिना जगत का काम नहीं चल सकता था। अर्थ ने मानवीय जीवन को सार्थक और अर्थवाला बनाया है। अर्थ हीन व्यक्ति का जगत में कहीं भी सम्मान नहीं, कोई भी इस प्रकार के व्यक्ति का कभी भी विश्वास करने को तय्यार नहीं। अर्थवान् अर्थ के बल पर संसार में सभी दुर्लभ पदार्थों को सुगमता से प्राप्त करलेता है। अर्थ रहित व्यक्ति समाज में बलहीन, निरर्थक और भार प्रतीत होता है।

---

१. तस्याः पृथिव्या लाभ पालनोपायः शास्त्रं–अर्थशास्त्रं–इति।
कौटिल्य १५ अधिकरण १ अध्याय ३ श्लोक

आचार्य कौटिल्य ने मनुष्य की जीविका को 'अर्थ' माना है। समय के अनुसार अर्थ का स्वरूप बदलता रहा है। मूल्यवान् वस्तु को अर्थ का नाम दिया गया है। कभी पशु को कभी भूमि को और कभी विद्या को अर्थ माना गया है। कौटिल्य ने जगत के व्यवहार में अर्थ को मुख्य माना है। धर्म, अर्थ, काम में अर्थ को ही मुख्य माना गया है।[1] धर्म और काम का मूल 'अर्थ' ही है।[2]

मनुष्य अर्थ के बिना जगत का कौन सा कार्य कर सकता है? "लोक का निर्वाह अर्थ के द्वारा ही होगा",[3] जगत के सभी सम्बन्ध अर्थ से बँधे हैं। संसार में रहते हुए संसार के व्यवहार के लिए 'अर्थ' अत्यन्त आवश्यक है। अर्थ के बिना यह भी देखा जाता है कि मनुष्य बुरे-से-बुरे कार्य करने पर उतारु हो जाता है। यहाँ तक कि अर्थ के अभाव में आत्महत्या तक कर लेता है। प्राचीन युग में अथवा आधुनिक युग में अर्थवान् व्यक्ति का सभी सम्मान करते रहे हैं और करेंगे। समाज में अर्थहीन व्यक्ति से कोई परिचय तक नहीं करना चाहता। संसार में अर्थहीन को निर्धन और निर्बल माना गया है। अर्थ का मनुष्य को एक बहुत बड़ा सहारा होता है। क्योंकि प्रायः देखा जाता है कि अर्थ के रहने पर व्यक्ति को भूख भी कम लगती है किन्तु जब अर्थ का अभाव होता है, ठीक उसी समय क्षुधा भी बहुत बढ़ने लगती है और परस्पर लोगों से शत्रुता भी होने लगती है।[4]

अर्थहीन व्यक्ति जगत में तुच्छ माना जाता है। अर्थहीन व्यक्ति ही जीवन का यापन करने के लिये अत्यन्त दुखी रहता है और धन हीन व्यक्ति भूखा रहकर क्या-क्या पाप नहीं कर जाता।[5]

इस प्रकार मानव को जीवन का रक्षा के लिए अर्थ को नितान्त आवश्यकता है। बिना अर्थ के वह अपना किसी प्रकार का भा विकास नहीं कर सकता। जगत के व्यवहार को चलाने के लिए अर्थ का अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। सभी युगों में और सभी देशों में अर्थ को सभी ने आवश्यक माना है। जीवन में अर्थ की सभी ने उपयोगिता को स्वीकार किया है। जीवन में अर्थ का महत्व तो

---

१. अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्यः। कौ० १ अधिकरण ७ अध्याय १० श्लोक
२. अर्थ मूलौ हि धर्मकामविति ॥ कौटिल्य १।७।११
३. अर्थ प्रतिबन्धश्च लोको वर्तते ॥ कौ० ८।३।३५
४. धनक्षये दिव्यति जाठराग्निः।
५. विभुक्षितः किं न करोति पापम्।

है ही और अर्थ के बिना जीवन यापन करना अत्यन्त कठिन है किन्तु प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने इतना होने पर भी चार पदार्थों में अर्थ को द्वितीय स्थान दिया है। प्रथम स्थान धर्म को दिया है। प्रायः देखा गया है कि व्यक्ति अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए दूसरों के अधिकारों, सुखों और इच्छाओं का हनन कर अपना ही पोषण चाहता है। इन्हीं दुर्बलताओं को दूर करने के लिए भारतीय आर्थिक विचारकों ने अर्थ का जीवन के लिए या सामाजिक व्यवस्था चलाने में महत्व तो माना ही है किन्तु धर्म को प्रमुख स्थान दिया है।

आचार्य कौटिल्य ने समता के दृष्टिकोण को मानते हुए बताया है कि "साधु-सज्जन पुरुष दूसरे के अर्थ को अपने ही अर्थ के समान समझते हैं"[1] क्योंकि व्यक्ति के मन में दूसरे के धन को अपहरण करने की बुरी कामना न आ जाये। अतः दूसरों के धन को ग्रहण करने की भावना मानव के मन में न आये।

अर्थ प्राप्ति में उद्योग का महत्त्व :—

पीछे अर्थ की जगत के व्यवहार के लिए भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है और आचार्य कौटिल्य ने अर्थ को जीवन की रक्षा, उन्नति के लिए आवश्यक माना है किन्तु अर्थ प्राप्ति का मूल कारण उद्योग को ही माना है। विना उद्योग के कोई भी व्यक्ति किसी भी कार्य को नहीं कर सकता है। प्रगति के लिए उद्योग मुख्य साधन है। जैसे :—

उद्योग ही अर्थ का मूल कारण है और अनुद्योग अनर्थ का कारण है।[2]

अर्थ से ही मनुष्य का जीवन सुखमय व्यतीत होता है। अर्थ से रहित व्यक्ति जीवन भर दुख का अनुभव करता रहता है और विकास नहीं कर सकता है। अतः अर्थ प्राप्ति का उद्योग को मूल कारण माना गया है। इसलिये उन्नतिशील राजा को चाहिए कि वह नित्य उद्योगयुक्त कार्यों को अनुशासन की रीति से करे।[1]

आचार्य कौटिल्य ने शासक को राष्ट्र का प्रमुख माना है। शासक के उद्योग हीन होने पर राष्ट्र की समस्त आर्थिक उन्नति रुक जाती है और उसके राष्ट्र के लोग भी उसी के समान कार्य करने लगते हैं। जैसे निम्नलिखित उद्धरण से विदित होता है :—

---

१. कस्यचिदर्थं स्वमिव मन्यते साधुः। चाणक्य सूत्र २६५

२. अर्थस्य मूलमुत्थानमनर्थस्य विपर्ययः ॥ कौ० १।१९।४०

१. तस्मान्नित्योत्थितो राजा कुर्यादर्थानुशासनम् ॥ कौ० १।१९।४०

उद्योग हीन शासक का निश्चय ही विनाश हो जाता है और प्राप्त किये हुए एवं भविष्य में प्राप्त होनेवाले अर्थ का भी नाश हो जाता है। इसके अतिरिक्त जो शासक उद्योगी होता है वह अपने उद्योग के फल से समस्त अर्थ और सम्पदा को प्राप्त कर लेता है।[1]

इस प्रकार के कौटिल्य अर्थशास्त्र के उद्धरणों से अच्छी प्रकार अवगत होता है कि अर्थ प्राप्ति का, आर्थिक विकास का मूल कारण 'उद्योग' ही है। बिना उद्योग के कोई भी किसी प्रकार की आर्थिक उन्नति नहीं कर सकता है। चाहे उसके पास अत्यधिक अर्थ ही क्यों न हो किन्तु उसे वह बिना उद्योगी बने अधिक दिन तक स्थिर रखता हुआ सुखी नहीं रह सकता है।

पुरुषार्थ चतुष्टय और अर्थ के प्रति प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण

मानव जीवन को बुद्धि सम्पन्न, चेतना युक्त एवं भले-बुरे का ज्ञान होने के कारण जगत में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। मानव ने विवेकी होने के कारण जगत के विकास में बहुत बड़ा योगदान दिया है। संसार में प्रत्येक देश की अपनी-अपनी कार्य करने की एक पद्धतियाँ बनी हुई हैं। समाज को संचालन के कुछ नियम बने हैं जिनका परिपालन सभी के लिए आवश्यक और समाज के कल्याण के लिए उपयोगी माना गया है। विश्व के सभी लोगों के चिन्तन के दृष्टिकोण अपने-अपने भिन्न-भिन्न रहे हैं। उसी प्रकार प्राचीन भारतीयों का भी अपना एक दृष्टिकोण रहा है। प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने अर्थ को जगत के व्यवहार के लिए परमावश्यक तो माना ही है किन्तु अर्थ को ही सर्वस्व नहीं माना है। प्राचीन भारतीमों की अपनी एक विचित्र ही चिन्तन प्रक्रिया रही है। संसार के और समाजों में इसके दर्शन नहीं होते। भारतीयों का अपना एक विश्वास है कि मानव के जोवन का मुख्य उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना है। प्राचीन भारतीय सभी आर्थिक विचारकों ने मानवीय जीवन में चार पदार्थों को महत्वपूर्ण स्थान दिया है और यह स्वीकार किया है कि इन सबमें अर्थ का सर्वोच्च स्थान हैं किन्तु इन चारों पदार्थो का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है।

प्राचीन भारतीय विचारकों ने मानवीय जीवन में सामाजिक संरचना के लिए अर्थ को महत्व दिया है किन्तु अर्थ को ही सर्वस्व नहीं माना है। भारतीयों

---

१. अनुत्थाने ध्रुवो नाशः प्राप्तस्यानागतस्य च।
प्राप्यते फलमुत्थानाल्लभते चा सम्पदम्॥ कौ० १।१९।४१

का परम्परागत यह विश्वास है कि जीवन का मुख्य उद्देश्य चार पदार्थों की प्राप्ति है ।

ये चार पदार्थ इस प्रकार हैं—१—धर्म २—अर्थ ३—काम ४—मोक्ष ।

१. **धर्म**—मानवीय जीवन में सद्भावपूर्ण वातावरण बनाने के लिए धर्म को महत्वपूर्ण और प्रथम स्थान दिया गया है ।

धर्म वह धारणा है कि जो मानव को अपने जीने के साथ दूसरों को भी जीने देने की दिशा दिखाता है । धर्म का वास्तविक अर्थ यह है कि जिससे व्यक्ति समाज में रहने की पद्धति को समझ कर उसका अनुपालन करता हुआ अपनी उन्नति करे और दूसरों को भी अपने ही समान समझ कर अभ्युदय की ओर जाने दे । जगत के नियमों के पालन और सुख को पाने के पश्चात् भी परलोक का मार्ग प्रदर्शित कराने वाले को ही धर्म कहते हैं । राजा और प्रजा व्यक्ति एवं समाज धर्म के नियमों को यदि धारण न करें तो संसार में अराजकता छा जाये । वस्तुतः धर्म व्यक्ति में नियम पालन के गुण, सहिष्णुता के विचार, समता के भाव, परोपकारिता के लक्षण, समदृष्टि और बुराइयों से दूर रहने की दिशा दिखाता है । अधार्मिक विचारों के विकसित होने पर ही उच्छृङ्खल भावों का उदय होता है और अच्छे व्यक्तियों को जीवन यापन करना अत्यन्त कठिन हो जाता है । ऐसी विषम परिस्थिति में व्यक्ति और समाज की रक्षा धर्म ही करता है ।

प्राचीन भारतीय मनीषियों ने धर्म की परिभाषाएँ इस प्रकार की हैं :—

जिससे निःश्रेयस (परलोक) की प्राप्ति हो और अभ्युदय (सांसारिक या भौतिक) सुख देने वाले को धर्म कहते हैं ।[1]

प्राणियों के अभ्युदय और कल्याण के लिए ही धर्म का प्रवचन किया गया है । अतः जो अभ्युदय और कल्याण को देने वाला है वही धर्म है ऐसा निश्चय है ।[2]

धर्म वह धारणा है जो अपने जीने के साथ दूसरों को भी जीने देने की दिशा दिखाता है । धर्म बालू की भित्ति नहीं, धर्म द्वेष प्रचारक नहीं, धर्म

---

१. यतोऽभ्युदनिः श्रेयससिद्धि स धर्मः ॥ वैशेषिक सूत्र १।१

२. प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः प धर्म इति निश्चयः ॥ महाभारत शान्तिपर्व १०८ अध्याय १० श्लोक ।

घृणा का द्योतक नहीं, धर्म भेदाभेद नहीं सिखाता। धर्म नाम इसे पवित्रता, श्रेष्ठता एवं एक शाश्वत नियम मानकर दिया गया है। भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय चाहे अपनी स्वार्थ की दृष्टि से उस धर्म का अर्थ और ही क्यों न लगायें किन्तु प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण समन्वयवादी होकर बहुजन हिताय बहुजन सुखाय वाला रहा है। जैसा कि ईशावासोपनिषद् में इस उदार नीति का अच्छा परिचय मिलता है।—

यह जो सम्पूर्ण जड़ और चेतन जगत है, वह सब उस ईश्वर से परिपूर्ण है। उसके दिये हुए अंश का उपभोग करो। किसी के धन को ग्रहण मत करो।[1]

इसी प्रकार की विचारधारा से अनुप्राणित होकर ही प्राचीन भारतीय अधिक संग्रह न करने, दूसरों का शोषण कर अपना पोषण करने के पक्षपाती न थे। धर्म को इन्हीं लोक कल्याण की भावनाओं से पवित्र और प्रथम स्थान दिया गया है।

प्राचीन भारतीय विचारकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से धर्म का लक्षण इस प्रकार माना है :—

वेद, स्मृति, आचार और अपने हृदय की सन्तुष्टि ये सब धर्म के मूल हैं।

१—अहिंसा २—सत्य ३—अस्तेय ४—पवित्रता ५—इन्द्रिय निग्रह ६—दान देना ७—दम ८—दया ९—शान्ति ये सभी धर्म के साधन हैं।[3]

इस प्रकार प्राचीन भारतीय वाङ्मय के उद्धरणों को देखने से अवगत होता है कि धर्म के प्रति भारतीयों की कितनी उदार और पवित्र धारणा बनी हुई है। मानव मात्र के प्रति धर्म के द्वारा कितनी उदार नीति अपनाने की व्यवस्था दी गई है। इस प्रकार भारतीयों ने पुरुषार्थ चतुष्टय में धर्म को मुख्य और प्रथम स्थान मानकर मानव के मनोविकारों को शुद्ध करने का पूर्ण प्रयास किया है। स्वार्थ और कपटपूर्ण व्यवहारों को दूर कर मनुष्य में अच्छे विचारों का उन्नयन करना ही धर्म का उद्देश्य रहा है।

---

१. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचित् जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विधनम्॥ ईशावासोपनिषद् १ अध्याय १ मंत्र

२. वेदः स्मति सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहु साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ मनु २ अध्याय १२ श्लोक

३. अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
दानं दमो दयः क्षान्ति सर्वेषां धर्मसाधनम्॥ याज्ञवल्क्य १ अ० ११२ श्लोक

मानवता की रक्षा के लिये भारतीय चार पुरुषार्थों में आर्थिक दृष्टिकोण से अर्थ को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है जिससे धर्म को समस्त सामाजिक व्यवस्था को सुस्थिर रख ने के लिये सबसे प्राथमिकता दी गई हैं। महाभारत के शान्ति पर्व में आचार्य भीष्म पितामह ने राजा युधिष्ठिर का धर्म का लक्षण इस प्रकार बताया हैं।

प्राणियों के अभ्युदय और कल्याण के लिए ही धर्म का प्रवचन किया है। अतः जो अभ्युदय और कल्याण को देनेवाला है वही धर्म है ऐसा निश्चय है।

धर्म की वृद्धि होने पर सदा समस्त प्राणियों का अभ्युदय होता है और उसका ह्रास होने पर सबका ह्रास हो जाता है। अतः धर्म का कभी लोप नहीं होने देना चाहिये।

हमारे प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक आचार्य कौटिल्य ने तो 'सुख का मूल मंत्र धर्म को ही माना है'।[१] 'धर्म ने ही लोक को धारण किया हुआ है'।[२] धर्म के द्वारा ही मनुष्य लोकों को जीत लेता है।[3] अहिंसा ही मुख्य धर्म है।[४] व्यवहार के अनुसार ही धर्म होता है।[५]

२. **अर्थ** :—अर्थ को प्राचीन भारतीय, आधुनिक और पाश्चात्य सभी अर्थशास्त्रियों ने जगत के व्यवहार चलाने के लिए आवश्यक माना है। अर्थ-प्रयोजन के लिए भी कहते है और अर्थशास्त्र में अर्थ राज्य की व्यवस्था को चलाने का एकमात्र साधन माना है। आचार्य कौटिल्य ने 'अर्थ को धर्म का मूल माना है'[६] और 'अर्थ का मूल साधन राज्य को ही माना है।'[७]

अर्थ के द्वारा ही व्यक्ति संसार में सभी प्रकार की शक्ति का संचय करता हुआ अपनी प्रभुता की स्थापना कर सकता है। कौटिल्य अर्थशास्त्र के निर्माता और प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक आचार्य कौटिल्य ने 'अर्थरूपी सम्पत्ति

---

१. सुखस्य मूलं धर्मः चाणक्य सूत्र १
२. धर्मेण धार्यते लोकः। चाणक्य सूत्र २३४।
३. धर्मेण जयति लोकान्। चाणक्य सूत्र २३८
४. अहिंसा लक्षणो धर्मः। चाणक्य सूत्र ५६१
५. व्यवहारानुलोमो धर्मः। चा. सू. ५४१
६. धर्मस्य मूलमर्थः। चा. सू. २
७. अर्थस्य मूलं राज्यं। चा. सू. ३

को राज्य की प्रकृतिरूपी (मंत्रि मण्डल, सेना एवं मित्र आदि) को उत्पन्न करने वाली माना है।[1]

आचार्य कौटिल्य ने अर्थ प्राप्ति करने वाले व्यक्ति को संयमशील, जितात्मा रहने की सलाह दी है क्योंकि जितात्मा व्यक्ति ही अपने संयमित जीवन के कारण अर्थ का संचय करता हुआ संसार की समस्त सम्पदा को पा जाता है। विद्या सम्पन्न व्यक्ति ही अपने वास्तविक विद्यारूपी ज्ञान से अपनी समस्त बुराइयों को दूर कर अच्छाइयों को ग्रहण कर लेता है।

'अपने को संयमित रखने वाला जितात्मा मनुष्य समस्त अर्थों को प्राप्त करने वाला होता है।'[2]

अर्थ को प्राप्त करना कितना कठित कार्य है। अर्थ प्राप्ति करने वाले व्यक्ति को अपने शत्रुओं से सावधान रहना चाहिये। 'अर्थ संग्रह करने में शत्रुओं का साथ नहीं करना चाहिये।'[3] 'अर्थ की सिद्धि होने पर भी बैरी का विश्वास नहीं करना चाहिये।'[4] 'नियत सम्बन्ध भी अर्थ के अधीन होता है।'[5]

जगत में जीवन के लिए अथवा जगत के व्यवहार को चलाने के लिए अर्थ परमावश्यक है। भारतीय विचारकों ने अर्थ को आवश्यक मानते हुए भी चार पदार्थों में दूसरा स्थान दिया है। अर्थ जहाँ जीवन यापन और भौतिक सुखों के लिए आवश्यक है वहाँ दूसरी ओर अर्थ अनर्थ का कारण भी माना गया है। अधिक अर्थ आने पर व्यक्ति विना सद्विद्या के उस अर्थ का दुरुपयोग कर जाता है। अर्थवान् अपनी अर्थ की शक्ति के समक्ष दूसरों को कुछ नहीं समझता। भारतीय प्राचीन आचार्यों ने अर्थ का संग्रह धार्मिक कार्यों को पूर्ण करने के लिए, जीवन निर्वाह करने के लिए, परोपकार के लिए और दूसरों के कल्याण के लिये माना है।

अपने को अमर समझकर अर्थों का सग्रह करे।[6] अर्थवान् व्यक्ति का जगत में सभी सम्मान करते हैं।[7] अर्थहीन इन्द्र को भी संसार बड़ा नहीं मानता।[8]

---

१. अर्थसंपत्प्रकृति सम्पदं करोति ।। चाणक्य सूत्र ११।
२. जितात्मा सर्वार्थैस्संयुज्येत। चाणक्य सूत्र १०
३. अर्थसमादाने वैरिणां संग एव न कर्तव्य। चा. सू. १८९
४. अर्थसिद्धौ वैरिणं न विश्वसेत्। चा. सू. १९०
५ अर्थाधीन एवं नियत सम्बन्धः। चा. सू. १९१
६. अमरवदर्थ जातमार्जयेत् ।। ७. अर्थवान् सर्व लोकस्य बहुमतः।
८. महेन्द्रमप्यर्थहीनं न बहुमन्यते लोकः। चाणक्य सूत्र २५४, ५५, ५६

कुरूप अर्थवान् रूपवान् समझा जाता है।[1] नीच कुल में उत्पन्न हुआ व्यक्ति अर्थ के बल पर कुलीन गिना जाता है।[2]

वस्तुतः जगत में अर्थ और अर्थवान् का सबसे उच्च स्थान है। अर्थ के विना संसार में कोई भी कुछ कार्य नहीं कर सकता है। अतः समस्त संसार अर्थ प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है। बिना अर्थ के कोई भी किसी कार्य को करने को तैय्यार नहीं है।

आचार्य कौटिल्य ने ठीक ही विवेचन किया है :—

सम्पूर्ण संसार अर्थ के लिए ही प्रवृत्त होता है।[3]

हिरण्य, भूमि आदि को अर्थ कहते हैं। अर्थ की हानि और शरीर के क्षय को 'अनर्थ' कहते हैं।

३. काम—काम का चार पुरुषार्थों में तृतीय स्थान है 'काम' मनुष्य की समस्त प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति का द्योतक है। सांसारिक सुख इच्छाओं की पूर्ति और संग्रहित धन का सदुपयोग करना सह सब 'कामों में आता है। अर्थ का संचय और संचित अर्थ का उपभोग काम के माध्यम से ही गृहस्थाश्रम में व्यक्ति प्राप्त कर सकता है। वस्तुतः मनुष्य जब तक गृहस्थ में रह कर अपने मन की समस्त इच्छायें पूर्ण नहीं कर लेता है तब तक वह मन को निवृत्ति की ओर नहीं लगा सकता। मनुष्य अत्यन्त कष्ट सहन कर अर्थ को क्यों प्राप्त करता है ? यदि उस अर्थ का उपयोग और उपभोग न हो तो वह अर्थ किस काम का ? उपभोग और उपयोग न होने पर अर्थ की चोरी हो जाती है।

गृहस्थ-आश्रम और विवाह संस्कार ही एक मात्र ऐसा संस्कार है जिसमें मनुष्य संसार के सभी प्रकार के अनुभवों को सीखता है। पारिवारिक सुख में भी प्राचीन भारतीय शास्त्रकारों ने केवल यौन सुख-इन्द्रिय तृप्ति वाले क्षणिक सुखों को ही सब कुछ नहीं माना अपितु मानव को विवाह जैसे पवित्र सम्बन्ध के द्वारा नियमों में परिवद्ध कर सांसारिक सौन्दर्य के प्रति लगाया है। इस सुख को लौकिक सुख और लौकिक आनन्द माना है। इसमें केवल अस्थायी सौन्दर्य के ही दर्शन होते हैं। सामाजिक नियमों का परिपालन और काम की तृप्ति 'पितृऋण' से मुक्त होने के लिए विवाह सम्बन्ध माना है। इस सम्बन्ध से व्यक्ति पुत्र

---

१. विरूपोऽर्थवान् सुरूपः। चाणक्य सूत्र ५८,

२. अकुलीनोपि कुलीनाद्विशिष्टः। चाणक्य सूत्र ६०।

३. अर्थार्थं प्रवर्तते लोकः। चाणक्य सूत्र ५०२

की प्राप्ति, काम-इच्छाओं की परितृप्ति, जगत का सौन्दर्य और अपने कर्त्तव्य का परिपालन करता है। ऐसा करने से व्यक्ति अपने अर्थ का सदुपयोग और काम का वास्तविक सुख भोगता हुआ सत्य पथ पर लगता है।

इस प्रकार सांसारिक सौन्दर्य को निकट आकर देखने का व्यक्ति को अवसर मिलता है और उसने अपने अनुभवों एवं सांसारिक सौन्दर्य द्वारा ही चौसठ प्रकार की कलाओं को जन्म दिया, जिनमें ललित कलाओं द्वारा समाज को जगत के प्रति आकर्षण उत्पन्न हुआ है। यदि यह काम (इच्छा) न होता तो संसार की उत्पत्ति, सभ्यताओं का जन्म और कलाओं का इतिहास हमारे समक्ष कभी न आ पाता। काव्यकला की कल्पना ने सौन्दर्य को मूर्तरूप देकर मानव के हृदय के गुप्त रहस्य को जागृत किया है।

आचार्य कौटिल्य ने मानव के जीवन में एक पदार्थ को ही सब कुछ नहीं माना। प्रत्येक पदार्थ का मानवीय जीवन में महत्त्व है। एक का ही उपयोग और उपभोग करने मात्र से जीवन सफल नहीं हो सकता है। अतः 'धर्म और अर्थ के अनुरूप ही काम का सेवन करे।'[1] अथवा परस्पर अनुबद्ध धर्म, अर्थ और काम का समभाव से सेवन करे।[2] धर्म और काम अर्थमूलक होते हैं।[3]

आचार्य कौटिल्य ने काम का लक्षण इस प्रकार बताया है: —'काम वही होता है जो धर्म और अर्थ को कम नहीं करता है।'[4] धर्म और अर्थ के विरुद्ध काम सेवन करना तो अनर्थ का सेवन करना है।[5]

अर्थ संसार के सुखों की प्राप्ति के लिए ही प्राप्त किया जाता है किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि संसार के सुख के लिए अर्थ का अनर्थ किया जाये। इस प्रकार कामजन्य सुखों को मनुष्य अर्थ के द्वारा ही एक नैतिक मार्ग गृहस्थाश्रम का आश्रय लेकर पूर्ति करता है। इस प्रकार समाज द्वारा मान्य मार्गों से काम तृप्ति मानव को वास्तविक आनन्द की उपलब्धि कराती है और वह परितृप्ति परिपूर्ण होकर संसार में निष्पाप जीवन व्यतीत करता है। वैवाहिक जीवन का समाज द्वारा प्रदत्त मान्यताओं से जो व्यक्ति परिपालन नहीं करता,

---

१. धर्मार्थी विरोधेन कामं सेवेत ।। कौ० १।७।६
२. समं वा त्रिवर्गमन्योन्यनुबन्धम् । कौ० १।७।८
३. अर्थमूलौ धर्मकामौ ।। चाणक्य सूत्र ९१
४. यो धर्मार्थौ न विवर्धयति स कामः । चा० सू० १५७
५. तद्विपरीतोऽनर्थसेवी । चा० सू० ५८

उसके जीवन में अतृप्ति, अपूर्णता, अस्थिरता, अनैतिकता, असाधारणता, अशांति, असन्तोष, प्रतिशोधता और विक्षिप्तता (खोया, खोयापन) आ जाती है। अतः मानवीय स्वभावजन्य कामसुख की परितृप्ति के लिए प्राचीन भारतीय विचारकों ने आश्रम व्यवस्था को सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है और एक क्रमबद्ध योजना द्वारा सही मार्ग दिखाया है।

वस्तुतः अतृप्त कामनाओं के कारण ही मानव अनैतिक कार्यों की ओर प्रवृत्त होता है और इसकी परितृप्ति के लिए ही मानव समस्त प्रकार की बुराइयां कर देता है। इसलिए प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण में एक सुव्यस्थित योजना बनाई गई हैं। चार पदार्थ एवं चार आश्रम। इन तीन पदार्थों की प्राप्ति के पश्चात् और पूर्ण सुख भोगने के बाद ही मनुष्य चौथे पदार्थ मोक्ष पाने का अधिकारी माना जाता है। परितृप्ति में सन्तोष, सहिष्णुता, स्थिरता, गम्भीरता, नैतिकता और परम-आनन्द की प्राप्ति मानी गई है।

४. मोक्ष—भारतीय परम्पराओं में पूर्व वर्णित तीन और मोक्ष चौथे पदार्थ का जीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है। भारतीयों का ऐसा विश्वास है कि जीवन का मुख्य उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति है। मानव संसार के समस्त प्रकार के सुख दुखों का जब अनुभव कर लेता है। उसके पश्चात् ही उसे संसार की अनित्यता और जीवन की वास्तविकता का ज्ञान होता है। प्राचीन भारतीय मनीषियों ने मोक्ष को जीवन का अन्तिम उद्देश्य माना है। मनुष्य संसार में रहता हुआ यहाँ के सुख-दुखों को स्थायी न मानकर इनसे छुटकारा पाने के लिए कोई उपाय सोचता है। संसार का समस्त सुख भोगना और अर्थ के माध्यम से धर्म और काम को भोगने के पश्चात् ही मोक्ष प्राप्ति की ओर रुचि जायेगी। अतृप्त कामनाओं वाला व्यक्ति कामनाओं की परितृप्ति के लिए जगत में परिभ्रमण करना चाहता है और तब तक वह घूमता हुआ मोह में पड़ा रहेगा, जब तक उसे वास्तविक ज्ञान एवं संसार का सही अनुभव नहीं हो जायेगा। मनुष्य भारतीय दृष्टिकोण से आश्रम प्रणाली के अनुरूप सभी सुखों से घृणा और सच्चे सुख की प्राप्ति की इच्छा करने लगता है। सच्चा सुख कैसे प्राप्त होगा ? यह विचारणीय विषय है। झूठे मोह से छुटकारा पाना, जन्म और कर्म के बन्धन को तोड़कर मुक्त होना ही सच्चा सुख एवं मुक्ति-मोक्ष कहलाता है। वैसे तो मोक्ष प्राप्ति भी एक प्रकार की कामना ही है किन्तु कामना दो प्रकार की होती है। एक सांसारिक जिसको क्षणिक आनन्दानूभूति कहते हैं दूसरा अलौकिक आनन्दानुभूति-परमानन्द की प्राप्ति है। जिन मनीषियों ने

जगत के सभी प्रकार के दुख-सुखों का क्रमशः उपभोग कर देख लिया है और देखकर यह अनुभव कर लिया है कि ये सांसारिक सुख अस्थायी और अपरिपूर्ण हैं। इनको भोगने के पश्चात् पुनः एक आवागमन (जन्म-मरण) के चक्र में आना पड़ेगा। वे इस प्रकार के दुख के बन्धनों से मुक्त होने का उपाय सोचते हैं और उस जन्म कर्म के बन्धनों से मुक्त होने को 'मोक्ष' नाम दिया गया है।

परम सत् ब्रह्म को जीव जब अच्छी प्रकार पहचान लेता है और भोग जगत के पश्चात् अपने वास्तविक रूप को जान जाता है एवं उसमें समा जाता है, ऐसी ही स्थिति को मोक्ष नाम से पुकारा जाता है।

मनुष्य जब अपने सांसारिक समस्त कर्तव्यों का पालन कर चुकता है एवं संसार के समस्त सुख दुःखों की अनुभूति उसे हो जाती है और उसकी कोई किसी प्रकार की कामना ही नहीं रह जाती है, जब उसकी बाह्य, आभ्यन्तर शक्तियाँ एक होकर मोक्ष प्राप्त की ओर अग्रसरित हो जाती हैं, तभी ऐसा व्यक्ति मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी होता है।

अर्थ के प्रति भारतीय दृष्टिकोण इस प्रकार संसार के अर्थशास्त्रियों की अपेक्षा अपना एक विशिष्ठ और सच्चा स्वरूप रखता है। जीवन में मनुष्य को समय के अनुसार सभी चीजों की आवश्यकता है। उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए 'अर्थ' को प्रधान माना गया है और सभी ने अनुभव किया कि बिना अर्थ के जगत् का कोई भी कार्य सम्पादित नहीं हो सकता है। भारतीय प्राचीन आर्थिक विचारकों ने 'अर्थ' को जगत् के व्यवहार के लिए आवश्यक मानते हुए भी अर्थ को सर्वस्व नहीं माना है। अर्थ के साथ ही साथ अन्य तीन पदार्थों-धर्म, काम और मोक्ष को भी समान स्थान देकर जीवन का वास्तविक उद्देश्य 'मोक्ष' माना है। यदि अर्थ मात्र को ही सर्वस्व मान लें तो अन्य किसी चीज की अर्थ के बाद कामना ही नहीं रहनी चाहिये। भारतीयों का अपना एक भिन्न दृष्टिकोण है। अर्थ प्राप्ति के भी उनके अपने कुछ विचार हैं। सही मार्गों से अर्थ उपार्जन करना और अपने सुखों के साथ ही साथ दूसरों के सुखों का ध्यान रखना भी उनका उद्देश्य रहा है।

भारतीय दृष्टिकोण में प्राचीन आर्थिक विचारकों ने इन चारों पदार्थों को इस प्रकार माना है कि धर्म और मोक्ष के मध्य में अर्थ और काम का क्रम निर्धारित किया है। अर्थ का संग्रह व्यक्ति धार्मिक सिद्धान्तों का ध्यान रखते हुए करेगा। किसी प्रकार अमान्य मार्गों को अपनाकर धन उपार्जन नहीं करेगा

और उपार्जित अर्थ का दुरुपयोग न करे अतः धर्म को अर्थ प्राप्ति के साधनों में साथ माना गया है ।

शोषण, प्रपीड़न, अपहरण की भावनाएँ सामाजिकों के मन में न आयें। इसीलिये अर्थ के साथ धर्म का सम्बन्ध प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने युक्ति-संगत माना है। कई बार प्रायः देखा जाता है कि अर्थ के प्रमाद से अर्थवान् अपनी इच्छाओं के वशीभूत होकर अपने विवेक को कहीं खो न बैठे। अतः अर्थ के साथ धर्म का सम्बन्ध रखा है।

काम और मोक्ष को एक साथ रखा है। मानव अपनी समस्त प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति के पश्चात् परितृप्त होकर क्या चाहता है ? छुटकारा किससे ? इच्छाओं और दुखों से। काम—इच्छा जैसी कामनाओं के बन्धन से मानव मुक्ति चाहता है। संसार के सभी सुखों का वह उपयोग और उपभोग कर चुका है और उसमें भी उसे वास्तविक सुख दृष्टिगत नहीं हुआ। इसीलिये वह भौतिक क्षणिक सुख से दुखी होकर आध्यात्मिक सुख की ओर अग्रसरित होता है।

२—**अर्थ** और ३—**काम** चारों पदार्थों में गिनती के क्रम से मध्य में रखे गये हैं और उसी क्रम से १ धर्म और ४ मोक्ष को प्रथम और चतुर्थ स्थान दिया गया है। जिससे मानव भारतीय विचारधारा के दृष्टिकोण से सन्तुलित जीवन व्यतीत करता हुआ जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष की ओर प्रवृत्त हो। एक प्रकार से अर्थवान् के अर्थ को उचित रूप से उपयोग करने हेतु धर्म का नियन्त्रण रख कर कामनाओं की पूर्ति की जाये। मनुष्य जीवन के उद्देश्य को न भूल जायें अतः काम पदार्थ के पश्चात् जगत् की वस्तुओं से भी अन्य अमूल्य मोक्ष जैसी वस्तु है, उसकी प्राप्ति ही भारतीय दृष्टिकोण से परम मुख्य उद्देश्य है। परिस्थिति के अनुरूप प्राचीन भारतीयों ने चारों पदार्थों को मानवीय जीवन के लिए आवश्यक मानते हुए वास्तविकता को समक्ष रखा है।

अर्थ के प्रति इस भारतीय दृष्टिकोण में आचार्य कौटिल्य ने प्राचीन तथ्यपूर्ण परम्पराओं का पूर्ण निर्वाह किया है। कौटिल्य का भी अर्थ के प्रति यही वास्तविक दृष्टिकोण-स्वरूप निदर्शन करना रहा है।

आचार्य कौटिल्य की पूर्वाचार्यों के प्रति कृतज्ञता

आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अध्ययन करने से अवगत होता है कि प्राचीन भारत में भारतीयों को अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र, राजशास्त्र और व्यवहारशास्त्र, (नीतिशास्त्र) आदि अनेक शास्त्रों का ज्ञान था। शताब्दियों तक दासता में रहने के कारण हम पर शासन करने वाले कूटनीतिज्ञों ने हमारी

प्राचीन ज्ञानराशि को प्रकाश में नहीं आने दिया और यदि किसी पाश्चात्य पारखी विद्वान् ने उसे पहचान लिया तो उस पर अपनी भाषा और अपने शासक होने का पुट लगाकर उनकी रचना तिथियों, लेखों और उनके कार्यों में भ्रमात्मक धारणाएँ फैला कर उनका वास्तविक मूल्यांकन नहीं होने दिया। यह उनका ही दोष नहीं अपितु प्रकृति का नियम है कि विजेता विजितों की संस्कृति को छिन्न-भिन्न करता हुआ उसका मनमाना अर्थ लगाकर उसके भूतकाल को भूला देता है क्योंकि अन्यथा उसे गौरव कैसे मिलेगा और परतन्त्र जाति में अपनी वास्तविकता को समझ कर अपनी धमनियों में अपने वीर, बुद्धि सम्पन्न और संसार को पथ दिखाने वाली बात को जानकर ही जागृति का रक्त संचरित होने लगेगा। अतः इन उद्देश्यों से पाश्चात्य लेखकों ने हमारी ही प्राचीन पुस्तकों का रचनाकाल, रचयिता का नाम और परिचय मनमानें रूप में माना है।

पाश्चात्य विद्वानों की प्राचीन भारतीयों के प्रति ऐसी धारण बनी हुई थी कि भारतीय धर्म और दर्शन के क्षेत्र में अत्यधिक सफलता प्राप्त कर चुके हैं किन्तु आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं है। यदि यह ज्ञान न होता तो ईसा से ३२१ वर्ष पूर्व मौर्य साम्राज्य की स्थापना और कौटिल्य अर्थशास्त्र की रचना कैसे हुई होती ?

आचार्य कौटिल्य में अपने अर्थशास्त्र के प्रारम्भ में ही पूर्वाचार्यों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की है एवं अपने से पूर्व के आचार्यों के विस्तृत ज्ञान राशि को संग्रहित कर अपने इस 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' में उस अमूल्य सामग्री को एकत्रित किया और भारतीयों के उस परम्परागत अति प्राचीन ज्ञान को संसार के समक्ष रख भारतीयों के अर्थशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान का अच्छा परिचय दिया है। कौटिल्य के समय तक 'अर्थशास्त्र' का नाम अत्यधिक प्रचलित था और भारतीय इन सभी शास्त्रों को अर्थशास्त्र के अन्तर्गत समझा जाता था। राजशास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, तन्त्र शास्त्र और इतिहास आदि इसी में सन्निहित थे। उसी परम्परा के अनुरूप प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक आचार्य कौटिल्य के ग्रन्थ का नाम भी 'अर्थ-शास्त्र' प्रसिद्ध हो गया।

आचार्य कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ में यह प्रदर्शित करने की चेष्टा की है कि उससे पूर्व भी भारत में अर्थशास्त्र के अध्ययन, अध्यापन की परिपाटी थी और अनेक ग्रन्थ इस पर लिखे जा चुके थे। जैसे :—

"पृथ्वी को प्राप्त करने और पुनः उसका पालन करने के लिए पूर्व आचार्यों ने जितने 'अर्थशास्त्र' लिखे हैं, मैंने प्रायः उन सभी को एकत्रित कर एक 'अर्थशास्त्र' बनाया है।"[1]

इस प्रकार के उद्धरण से अवगत होता है कि आचार्य कौटिल्य से पूर्व प्राचीन भारतीयों को अर्थशास्त्र का विशद ज्ञान था और अर्थ के प्रति उनकी अपनी एक स्वतन्त्र चिन्तन पद्धति थी। अर्थ, अर्थ का महत्व, अर्थ के प्रति दृष्टिकोण, अर्थ प्राप्ति के साधन, उत्पादन, उत्पादित वस्तुओं का मूल्य निर्धारण, समान वितरण के सिद्धान्त और आर्थिक विकास के उपायों पर गम्भीरता पूर्वक विचार होता रहा है। आधुनिक युग से प्राचीन भारतीयों की आर्थिक स्थिति अच्छी और उन्नत थी। जैसा कि आगे आचार्य कौटिल्य के विचारों के विस्तृत विवेचन में किया जायेगा।

विद्यायें कितनी होती हैं और प्राचीन अर्थशास्त्र में उनका क्या महत्व था?

प्राचीन भारतीय आचार्य कौटिल्य ने जगत में जीवित रहने और जगत का आचार-व्यवहार जानने के लिये 'विद्या' को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है। विद्या के बिना मनुष्य जगत का वास्तविक व्यवहार कैसे जान सकता है? वस्तुतः मनुष्य के जीवन से 'विद्या' ही अज्ञानता को दूर करती हुई सत्य ज्ञान रूपी प्रकाश को देती है। विद्या को प्राप्त कर ही व्यक्ति अपने भले-बुरे को अच्छी प्रकार समझता हुआ जगत में सुखमय जीवन व्यतीत कर सकता है। अतः चार विद्याओं का इस प्रकार विवेचन किया गया है।

वे चार विद्यायें कौन सी हैं? १—आन्वीक्षकी २—त्रयी ३—वार्ता और ४—दण्डनीति।[2]

मनु के अनुयायी केवल तीन ही विद्यायें मानते हैं। १—त्रयी २—वार्ता ३—दण्डनीति।[3]

बृहस्पति के अनुयायी वार्ता और दण्डनीति दो ही विद्यायें मानते हैं।[4]

---

१. पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः
प्रस्तावितानि प्रायशस्तानि संहृत्यैकमिदं अर्थशास्त्रं कृतम्।
कौटिल्य अर्थशास्त्र, प्रथम अधिकरण, १ अध्याय १ श्लोक।

२. आन्वीक्षकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः। कौ. १।२।१

३. त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति मानवाः। कौ. १।२।२

४. वार्तादण्डनीतिश्चेति बार्हस्पत्याः। कौ. १।२।४

शुक्र के अनुयायी केवल दण्डनीति को ही एकमात्र विद्या मानते हैं।[1]

कौटिल्य चारों को ही विद्या मानते हैं।[2]

विद्याओं का जीवन में यही महत्व है कि वे मनुष्य को धर्म, (सत्य) अधर्म असत्य का वास्तविक स्वरूप बताती हैं।

१—**आन्वीक्षकी** :—सांख्य दर्शन, योग दर्शन और चार्वाक् दर्शन का ज्ञान कराने वाली विद्या को 'आन्वीक्षकी' विद्या कहते हैं।

आन्वीक्षकी विद्या को सब विद्याओं का प्रकाशस्तम्भ (दीपक) माना गया है, सब कामों का उपाय, सदा सब धर्मों का आश्रय माना गया है।[3]

२—**त्रयी** :—धर्म, अधर्म (सत्य, असत्य) को बताने वाली विद्या को त्रयी विद्या कहते हैं :—

सामवेद, ऋग्वेद और यजुर्वेद ये तीनों त्रयी कहलाते हैं।[4]

त्रयी में बताया हुआ धर्म चारों वर्णों और चारों आश्रमों को मानने के कारण समाज के उपकार है।

आचार्य कौटिल्य ने वर्ण व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था को समाज को सुरक्षित और सुव्यवस्थित चलाने के लिए अत्यन्त आवश्यक माना है। समाज की आर्थिक व्यवस्था को स्थिर रखने और विकसित करने के लिए कार्य विभाजन किया हुआ था। सभी के कर्तव्यों का विशद और स्पष्ट वर्णन अपने अर्थशास्त्र में अन्य प्राचीन अर्थशास्त्रियों की भाँति किया है।

अपने कार्य में लगे हुए व्यक्ति ही समाज की आर्थिक स्थिति को उन्नत कर सकते हैं और अपने कर्तव्य का पालन करना भारतीय दृष्टिकोण से स्वर्ग (सुख) और मोक्ष का दाता है।[5]

अर्थ के विषय में भारतीयों का अपना एक विशेष दृष्टिकोण रहा है और अर्थ प्राप्ति ही मुख्य नहीं था अपितु स्वर्ग का सुख प्राप्त करते हुए मोक्ष प्राप्त करना मुख्य उद्देश्य रहा है। अतः आचार्य कौटिल्य ने व्यक्ति को कर्तव्यों का पालन करने के उपरान्त ही सुख एवं मोक्ष का अधिकारी माना है।

१. दण्डनीतिरेका विद्येत्यौशनसाः कौ. १।२।६
२. चतस्र एव विद्या इति कौटिल्यः। कौ. १।२।८
३. प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षकी मता॥ कौ. १।२।१२
४. सामर्ग्यजुर्वेदास्त्रयस्त्रयी। कौ. १।३।१
५. स्वधर्मः स्वर्गायानन्त्याय च। कौ. १।३।१४

३—वार्ता:—अर्थ और अनर्थ का ज्ञान कराने वाली विद्या को और कृषि सम्बन्धित उपायों को बताने वाली विद्या को 'वार्ता' कहते हैं।

४—दण्डनीति :—न्याय और अन्याय को एवं सन्धि, विग्रह आदि राजनीति के छः गुणों को बताने वाली विद्या को 'दण्डनीति' कहते हैं।

समाज में कल्याणकारी योजनाओं को क्रियात्मक रूप दिलाने एवं आर्थिक व्यवस्था को उन्नत करने में 'दण्ड' नीति का सब से बड़ा हाथ है। इस दण्डनीति के भय से बुरे लोग आर्थिक व्यवस्था में बाधा नहीं डाल सकते हैं और उद्योगी व्यक्ति अपने उद्योग से अपने आर्थिक विकास में निश्चिन्त होकर निरन्तर कार्यरत रहते हैं। उद्योगी जन ही समाज की आर्थिक स्थिति को सुधारने एवं उन्नत करने में सहायक सिद्ध हुए हैं न कि अनुद्योगी जन। अतः आर्थिक विकास में 'दण्ड' को ही सच्चा शान्ति व्यवस्थापक माना गया है।

प्राचीन भारतीय पूर्वाचार्यों ने समाज की रक्षा और आर्थिक विकास में 'दण्ड' को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उन्होंने यहाँ तक माना है कि—"संसार की व्यवस्था को चलाने का समस्त भार दण्ड पर ही निर्भर है।"[1]

दण्ड के भय से और अच्छे शासक के कारण ही जनता अपने-अपने कार्यों में रत होकर राष्ट्र का आर्थिक विकास करती है। कृषक अपनी कृषि से अधिक उत्पादन बढ़ाता हुआ अपने पशु, अपनी कृषि से उत्पादित वस्तुओं की वृद्धि कर व्यापार को उन्नत करता है।

उद्योगी व्यक्ति अपने उद्योग कार्यों या साधनों द्वारा उद्योग को बढ़ाता हुआ देश को आत्मनिर्भर बनाता है। ये किससे निश्चित होकर अपनी समृद्धि और राष्ट्र की उन्नति के कार्य करते हैं ?

सैनिक अपनी जीविका एवं अपने कर्तव्यों का पालन करता हुआ देश और अपने परिश्रम से आर्थिक साधनों द्वारा देश को विकसित करने वाली जनता की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व बलिदान क्यों और किसके भय से करता है ? यदि इस प्रकार दण्ड का भय ही सबके मन से उठ जायेगा तो राष्ट्र का आर्थिक जीवन ही छिन्न-भिन्न हो जायेगा। अतः नियम और नियन्ता को आर्थिक विकास की सुरक्षा में साधक माना है।

पूर्व वर्णित चारों विद्याओं का जीवन में अत्यधिक लाभ है। इन चारों विद्याओं के अभाव के कारण ही मनुष्य में व्यसन उत्पन्न होते हैं। मनुष्य में

---

१. तस्यामायत्ता लोकयात्रा ॥ कौ. १।४।७

व्यसनों की उत्पत्ति का प्रमुख कारण अविद्या ही मानी गयी है। आचार्य कौटिल्य ने विद्या का महत्व और अविद्या का कारण इस प्रकार माना है :—

"अविद्या के ही कारण मनुष्य में व्यसन और अविनय आता है।"[1]

"मूर्ख और उद्दण्ड व्यक्ति व्यसनों की बुराइयों को कभी नहीं देखता है।"[2]

विद्या एक प्रकाश और सत्य पथ की ओर ले जाने वाली सच्ची पथ-प्रदर्शिका है। जिस प्रकार अन्धकार में प्रकाश वाला व्यक्ति सुख पूर्वक विचरण कर सकता है। उसी प्रकार इस जगत के अज्ञान अन्धकार में विद्या वाला व्यक्ति ही पार हो सकता है। विद्या से विवेक की उत्पत्ति और सत्य मार्ग की ओर प्रवृत्ति होती है। जिस प्रकार नेत्रहीन को जगत का स्वरूप नहीं दिखता ठीक उसी प्रकार विद्याहीन व्यक्ति भी जगत में किंकर्तव्यविमूढ़ घूमता रहता है। अविद्या के कारण ही दुख और असन्तोष की उत्पत्ति होती है। अविद्या ही संसार के समस्त व्यसनों की जड़ है।

आचार्य कौटिल्य ने शासक के लिए विद्या को इतना आवश्यक माना है कि "वह विद्या से विनम्र होकर प्रजा को भी विनीत बनाने में रत रहता हुआ प्रजा के सभी लोगों का हित करता हुआ निश्चिन्त होकर चिरकाल तक पृथ्वी का उपभोग करता है।"[3]

वार्ता का अर्थ और आर्थिक विकास में योगदान :—

आधुनिक युग में अर्थशास्त्र को अर्थ सम्बन्धी उपायों को बताने वाला या आर्थिक समस्याओं का समाधान करने वाला माना जाता है। प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने कृषि को, पशु को और वाणिज्य को धन नाम से सम्बोधित किया है। यहाँ तक कि मनुष्य का शरीर अन्नमय प्राण से जीवित माना गया है। अन्न को जीवन के लिए आवश्यक और कृषि के द्वारा ही उत्पादित किया गया है। अतः कृषि को मानवीय जीवन के लिए प्रधानता दी गई है। कृषि का महत्व इस प्रकार गाया गया है :—उत्तम खेती मध्यम वान अधम चाकरी भीख निदान। कृषि से मनुष्य जीवन की रक्षा, अपनी आजीविका और पशु की प्राप्ति एवं दोनों के बल से उपार्जित सामग्री को व्यापार के माध्यम से अर्थ के

---

१. अविद्याविनयः पुरुषव्यसन हेतुः। कौ. ८।३।१

२. अविनीतो हि व्यसनदोषान्न पश्यति। कौ. ८।३।२

३. विद्याविनीतो राजा हि प्रजानां विनये रतः।
अनन्यांपृथिवीं भुङ्क्ते सर्वभूतहिते रतः ॥ कौ. १।५।१८

रूप में परिणित कर लेता है। इसलिये भारतीयों का अपना यह विश्वास है कि 'व्यापार में ही अर्थ निवास करता है।'[१] अतः आचार्य कौटिल्य ने 'वार्ता' की परिभाषा इस प्रकार की और अर्थशास्त्र के लिये पारिभाषिक शब्द के अर्थ में 'वार्ता' शब्द को प्रयुक्त किया है। वार्ता किसे कहते हैं ?

'कृषि, पशु पालन और वाणिज्य को वार्ता कहते हैं'[२] अर्थ व्यवस्थापक मनु और आचार्य शुक्र ने 'वार्ता' का वर्णन करते हुए 'कुसीद'[३] शब्द का भी प्रयोग किया है। आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इन तीनों का ही वर्णन किया है। वार्ता में वर्णित साधनों का आर्थिक विकास में बहुत बड़ा योगदान है। यदि कृषि ही न होती तो क्या मानव अपने जीवन को यापन कर सकता ? अतः आचार्य कौटिल्य ने ठीक ही कहा कि 'मनुष्यों वाली भूमि को 'अर्थ' कहते हैं।' इस प्रकार के उद्धरण से कृषि का महत्त्व एवं वार्ता में बतायी हुई वस्तुओं का मानव के जीवन में 'अर्थ' और 'अर्थशास्त्र' से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया गया है। प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों की अपनी अर्थ के विषय में सोचने की एक विशिष्ट प्रक्रिया है। जिसे आज का युग भीस्वीकार करता है। 'वार्ता' में कृषि, पशु पालन और वाणिज्य,इन तीन विषयों को आचार्य कौटिल्य ने प्रतिपादित कर अर्थशास्त्रियों के समक्ष प्रस्तुत किया है।

अर्थशास्त्र में 'वार्ता' की उपयोगिता :—

वार्ता शब्द का प्रयोग होते ही प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन करने वाले अध्येता के मस्तिष्क में कृषि, पशुपालन और वाणिज्य आदि विषयों का स्वरूप आ जाता है। वस्तुतः मनुष्य का विकास और मानवीय समाज का विकास इन तीनों विषयों की उन्नति के पश्चात् ही हुआ है। इन पूर्व वर्णित वस्तुओं को मानवीय जीवन की रक्षा के लिए आधारभूत माना गया है। आचार्य कौटिल्य ने तो यहाँ तक माना है कि इस 'वार्ता' के बिना जगत का कोई भी कार्य नहीं हो सकता है लौर शासक इसके बिना न अपनी न अपने निकटस्थ जनों की और न अपनी सेना की हीं रक्षा कर सकता है। शासक 'वार्ता' के द्वारा ही अर्थ प्राप्त कर अपने कोष और बल अर्थात् सेना की वृद्धि कर सकता है। अतः कौटिल्य ने इस प्रकार कहा है :—

---

१. व्यापारे वसते लक्ष्मी।

२. कृषिपशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता ॥ कौ. १।४।१

३. व्याज पर अर्थ देना और लेना

"यह पूर्व वर्णित चार प्रकार की विद्याओं में 'वार्ता' नाम की विद्या धान्य, पशु, हिरण्य (सोना) कुप्य (वन) आदि अनेक प्रकार की वस्तुओं और सेवकों को देने के कारण परमोपकारक है। यह वार्ता कोष और सेना द्वारा अपने और अन्य पक्ष के लोगों को और शत्रुपक्ष के लोगों को वश में करने वाली है।[1]

वार्ता में वर्णित वस्तुओं को भी 'अर्थ' मान कर उसके बल के सहयोग से एकत्रित कर ही व्यक्ति संसार के कठिन से कठिन कार्य कर सकता है। 'कांचन में ही संसार के सभी गुण सन्निहित हैं।'[2] काञ्चन (स्वर्ण) को देने वाली एक मात्र भूमि ही है। चाहे वह 'खानों' द्वारा दे चाहे कृषि द्वारा दे किन्तु कृषि ही इन धन, धान्यों को देने वाली है। इस प्रकार प्राचीन और आधुनिक सभी अर्थशास्त्रियों ने 'वार्ता' में बतायी हुई वस्तुओं को व्यक्ति और समाज के लिए परमोपयोगी माना है। वार्ता के बिना अर्थशास्त्र, अर्थशास्त्र नहीं अपितु कल्पना शास्त्र मात्र रह जायेगा। अतः अर्थशास्त्र में वार्ता की क्या उपयोगिता है इसका महत्त्व अध्येता वर्णित प्रसंग से अच्छी प्रकार समझ सकते हैं।

आचार्य कौटिल्य ने 'वार्ता' में बतायी गई कृषि को सबसे उत्तम और मानव के जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक माना है भारत अति प्राचीन काल से कृषि प्रधान देश रहा है। जैसा कि वेदों में अनेक स्थानों पर वर्णन किया गया है।

ऋग्वेद में सामूहिक कृषि का वर्णन :—

अति प्राचीन काल से कृषि का महत्त्व, उसका लाभ और परिश्रम करने वाले को उसका फल कैसे मिलता है यह नीचे की पंक्तियों में स्पष्ट किया गया है :—

"हे मित्र ऋत्विजों ! तुम एक मन वाले होकर सावधान हो जाओ। तुम एक स्थान पर बैठकर अग्निको प्रज्ज्वलित करो।"[3]

इस प्रकार के उद्धरणों से विदित होता है कि ऋग्वैदिक काल में यज्ञों का अत्यधिक प्रचलन था एवं यज्ञों के द्वारा वृष्टि आदि की प्राप्ति होती थी और

---

१. धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्टिप्रदानादौपकारिकी। तया स्वपक्षं परपक्षं च वशी करोति कोषदण्डाभ्याम् ॥ कौ. १।४।२—३

२. सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति।

३. उदबुध्यध्वं समनसः सखाय समाग्निमिन्ध्वं बहवः सनीलाः ॥
ऋग्वेद १० मंडल १०१ सूत्र १ मन्त्र

लोग इन्हें करते थे। कृषि किस प्रकार होती थी इसका भी निम्नलिखित उद्धरण में स्पष्ट वर्णन किया गया है। जैसे :—

"हे ऋत्विजों! हल को जोतो। बैलों को उठाओ। इस खेत में बीज बोओं। हमारी प्रार्थनाओं के द्वारा अत्यधिक मात्रा में अन्न उत्पन्न हो। उसके पश्चात् पके हुए धान्य के खेतों से हंसुओं से अन्न काटा जायेगा।"[1]

सिंचाई का प्रबन्ध:—सिंचाई के लिए और पशुओं के लिए पानी की नितान्त आवश्यकता होती है। अतः ऋग्वेद में इसके भी कई उदाहरण मिलते हैं।

"पशुओं के जल पीने का स्थान बन गया। गहरे पानी वाले गढ़ों में रस्सी डालकर जल खींचा जाता है और इससे पानी लेकर अपनी कृषि को सींचो।"[2]

कृषि उसका लाभ और उसकी उन्नति के साधन :—

आचार्य कौटिल्य ने कृषि को 'सीता' भी कहा है। कृषि का निरीक्षण करने वाले अधिकारी को 'सीताध्यक्ष' नाम से पुकारा जाता था। कृषि मानव जीवन के लिये लाभप्रद मानी गयी है। अतः उस कृषि-भूमि की देखभाल के लिए 'सीताध्यक्ष' के द्वारा उन्नति का प्रयास किया गया है। ऐसे व्यक्ति को 'सीताध्यक्ष' नियुक्त किया जाता था जिसे कृषि सम्बन्धित समस्त बातों का ज्ञान होता था, क्योंकि जब उसे कृषि का ज्ञान होगा तभी वह कृषि उत्पादन वृद्धि, कृषि संरक्षण विधि एवं किस भूमि में क्या बीज बोना चाहिये आदि चीजों का उसे आवश्यक ज्ञान होना चाहिये। कृषि ही एकमात्र ऐसा साधन है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी जीविका चलाता हुआ दूसरों के भी जीवन की रक्षा कर सकता है। 'सीताध्यक्ष' कृषि के अधिकारी को कृषि सम्बन्धी कार्यों की पूर्ण जानकारी होती थी वहाँ दूसरी ओर उसे अच्छे बीजों का भविष्य की उन्नति के लिये संग्रह भी करना चाहिये। सदा से ही मनुष्य ने कृषि से लाभ उठाकर अपने जीवन की रक्षा की है।

---

१. युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात॥
ऋग्वेद १० मंडल १०१ सूक्त ३ मंत्र

२. इष्कृताहावमवतं सुवरत्रं सुषेचनम्।
उद्रिणं सिंचे अक्षितम्॥ ऋग्वेद १० मंडल १०१ सूक्त ६ मंत्र

कृषि की उन्नति और कृषि को अच्छे साधनों के द्वारा अधिक उत्पादन के योग्य बनाने के लिए आचार्य कौटिल्य ने इस प्रकार कहा है :—

"सीताध्यक्ष को चाहिये कि वह कृषि शास्त्र, शुल्बशास्त्र[१] वृक्षायुर्वेद[२], का ज्ञाता हो या इन सब विद्याओं को जानने वाले व्यक्ति को अपना सहायक नियुक्त करे और उसके पश्चात् सब प्रकार के धान्य, पुष्प, फल, सब्जियां, कन्द, मूल, वालिक्य-बेलवाली सब्जियाँ, क्षोभसन आदि कपास के बीजों का समय के अनुसार संग्रह करे।[३]

एकत्रित किये हुए बीजों का किस प्रकार उपयोग किया जाये ?

आधुनिक युग को भाँति आचार्य कौटिल्य के युग में एकत्रित बीजों का अधिक उत्पादन वृद्धि के लिए इस प्रक्रिया से सदुपयोग किया किया था। खेती की जितनी अच्छी प्रकार हल चलाकर सेवा की जाये उतनी उससे अच्छी फसल होने की आशा की जा सकती है और जो अच्छे-अच्छे बीज एकत्र किये गये हैं उनसे अच्छा उत्पादन हो सकता है। बीज बोने का भी एक निश्चित समय, अच्छी भूमि का होना, अच्छे बीज का होना एवं कुशल कृषक का होना भी परमावश्यक माना जाता है। सम्पूर्ण देश के भोजनाच्छादन का भार कृषि पर ही निर्भर है और उसका समस्त दायित्व कृषक के ऊपर है। किसान को राष्ट्र में आदर की दृष्टि से देखा जाता था। कृषि की उन्नति और कृषि के उद्योग से ही कृषि धन, धान्य को देती है। कौटिल्य ने बाताया है कि कृषि में किस प्रकार के बीजों को बुवावें :—

"कई बार हल से जोतकर (परिकृष्ट) अपनी भूमि को दास लोगों से मजदूरी पर काम करने वालों और अपराधी पुरुषों के द्वारा बुवावें।"[४]

इस प्रकार के उद्धरणों से अवगत होता है कि कृषि को जीवन के लिए कितना महत्त्वपूर्ण समझा जाता था और हल, बैल और बीज को अच्छे उत्पादन के लिए उत्तम माना गया था। खेती को अच्छी प्रकार से करने का एवं अच्छे बीजों का भविष्य में अधिक उत्पादन हेतु संग्रह करने का भी प्राचीन भारतीयों का अच्छा ज्ञान था। कृषि ही एकमात्र जीविका को समस्या का समाधान और जीवन को सम्पन्न करने का साधन थी।

---

१. भूमि के गुणों को जानने की विद्या और उसके नाप जोख का ज्ञान।

२. जिस शास्त्र से वृक्ष आदि का पूर्ण ज्ञान हो सके।

३. सीताध्यक्षः कृषितन्त्रशुल्बवृक्षायुर्वेदस्तज्ज्ञसखो वा सर्वधान्यपुष्पफलशाककन्द मूल वाल्लिक्यक्षौभकार्पासबीजानि यथाकालं गृह्णीयात्। कौ० २।२४।१

४. बहुहलपरिकृष्टायां स्वभूमौ दासकर्मकरदण्डप्रतिकर्तृभिर्वापयेत्। कौ० २।२४।२

संग्रहित बीजों को कब बोया जाना चाहिये ? इस पर आचार्य कौटिल्य ने परामर्श दिया है कि ऋतुओं के अनुसार ही बीजों को बोना चाहिये ।[1] ऋतुओं के अनुकूल बीज वपन करने से अच्छी फसल होने की आशा और परिश्रम व्यर्थ न जाने का पूर्ण विश्वास रहता है ।

उत्तम, मध्यम और अधम फसलें :—

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में बीजों का वर्णन करते हुए तीन प्रकार की फसलों का भी इस प्रकार वर्णन किया है :—

'जिन फसलों को बोने में कम परिश्रम लगे और अधिक अन्न की प्राप्ति हो उस फसल को उत्तम फसल कहते हैं। जैसे :—धान, गेहूँ आदि सब में ज्येष्ठ माने गये हैं ।"[2]

"केले जैसे फलों की फसल मध्यम मानी गई है क्योंकि वह अपने परिश्रम के ही अनुसार फल देती है। अतः केले (षण्ड) जैसी फसल मध्यम मानी गई है ।"[3]

"गन्ने की खेती को सबसे अधम माना गया है क्योंकि इसको बोने में सबसे अधिक बाधायें आती हैं और यह अधिक व्यय कारक है ।"[4]

इस प्रकार तीन प्रकार की फसलों का वर्णन करते हुए सर्वत्र उपलब्ध होने वाली ही फसल उत्तम मान कर मनुष्य के उपभोग के लिए आवश्यक एवं अधिक उत्पादन के लिए धान ओर गेंहू को अच्छा माना गया है। फल और गन्ना एक तो कम और उसके पश्चात् भी साल में एक बार ही कठिन परिश्रम ये प्राप्त होता है। इतने कठिन परिश्रम के बाद भी अपने कम उत्पादन से अधिक लोगों की जीवन रक्षा नहीं कर सकता है। धान और गेहूँ जीवन रक्षा के लिए सर्वोत्तम अन्न माना गया है। अन्न मानव जीवन के लिए प्राण माना गया है। अन्न को प्राण मान कर अन्नमय प्राण कहा गया है। गीता में तो यहाँ तक कहा गया है कि "सम्पूर्ण प्राणि अन्न से ही उत्पन्न होते है ।"[5]

ऊपर वर्णित उद्धरणों से अवगत होता है कि अन्न मानव जीवन की रक्षा

१. यथर्तुवशेन वा बाजीवापाः । कौ. २।२४।१९

२. शाल्यादि ज्येष्ठम् । कौ २।२४।२७। ३. षण्डो मध्यमः । को. २।२४।२८

४. इक्षुः प्रत्यवरः । इक्षवो हि बह्वाबाधा व्ययग्राहिणश्च । कौ. २।२४।२९,३०

५. अन्नाद्भवन्ति भूतानि । गीता ३ अध्याय १४ श्लोक

के लिए आवश्यक वस्तु माना गया है। अन्न की उत्पत्ति के उपायों को 'वार्ता' में प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों की दृष्टि से विस्तृत रूप से बताया गया है और कृषि को महत्त्वपूर्ण स्थान देते हुए अन्न को जीवन की रक्षा के लिए आवश्यक और समस्त उपायों में उत्तम माना गया है। अन्न की प्राप्ति का एक मात्र उपाय कृषि ही है। अतः उस कृषि की अभिवृद्धि के लिए अच्छे साधनों द्वारा ध्यान देकर विवेचन किया गया है। इस प्रकार के उद्धरणों से यह भी ज्ञात होता है कि कौटिल्य के युग में पूर्व वर्णित अनाजों को लोग अधिक प्रयोग में लाते थे और इन्हीं का अत्यधिक उत्पादन होता था।

उत्पादित खाद्य वस्तुओं की सुरक्षा के उपाय

कृषि का मानव जीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है। कृषि से उत्पादित खाद्य वस्तुओं को सुरक्षित रखना भी उतना ही आवश्यक है जितना खाद्य वस्तुओं का उत्पादन करना। किन वस्तुओं को किस रूप में और कहाँ रखना चाहिए, जिससे वे शीघ्र खराब न हों और अधिक समय तक जनता के उपभोग के लिए सुरक्षित रह सकें। इनकी सुरक्षा के लिए आचार्य कौटिल्य ने इस प्रकार उपाय बताये हैं :—

"धान्यों को किसी ऊँचे स्थान पर रखना चाहिये, क्षार (गुड़) आदि पिघलने वाली वस्तुओं को फूस आदि अच्छी प्रकार लगा कर रखना चाहिये, स्नेह (घृत-तेल) आदि के रखने के लिए मिट्टी और लकड़ी के बर्तनों का प्रयोग करना चाहिये और लवण (नमक) आदि को पृथ्वी में ही रख देना चाहिये।"[1]

इनके अतिरिक्त भी अनेक ऐसी वस्तुएँ हैं जिनका वर्णन इस उद्धरण में नहीं हुआ है। अतः उसका तात्पर्य यह नहीं कि वे सामग्रियाँ उस युग में नहीं होती थीं या उनका उपाय ही नहीं होता था; अपितु उन शेष सभी वस्तुओं का उपाय 'कोष्ठागाराध्यक्ष' को समय और आवश्यकता के अनुसार करना पड़ता था। ये आपत्ति के समय ही काम में आते थे।

कृषकों को किसी बुरे समय पर बीजों की कठिनाई न हो और प्रजावर्ग को खाद्य सामग्री की कठिनाई न हो, अतः राज्य की ओर से अनेक सुरक्षित भण्डार गृह निर्मित किये हुये थे। इस सब का प्रबन्ध 'कोष्ठागाराध्यक्ष' ही करता था।

---

१ उच्चैर्धान्यस्य निक्षेपो मूलाः क्षारस्य संहताः।
मृतकाष्ठकोष्ठाः स्नेहस्य पृथिवी लवणस्य च। कौ. २।१५।८४

कृषि की उत्पादन वृद्धि हेतु सिंचाई का प्रबन्ध :—कृषि को जहाँ जीवन के लिए आवश्यक माना गया है, वहाँ अधिक उत्पादन अभिवृद्धि हेतु सिंचाई का भी राज्य और प्रजा की ओर से ध्यान दिया जाता था। जैसा कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में आया है :—

"कम अथवा अधिक जल वाली नदियों पर बांध एवं जलाशय बनावे। यदि प्रजाजन इन बांधों को बनावें तो शासन को उन्हें भूमि, मार्ग, वृक्ष (लकड़ी) आदि आवश्यक सामग्री देकर उन पर अनुग्रह करना चाहिये।"[२]

इस उद्धरण में 'सेतुंबन्धयेत्' शब्द का प्रयोग हुआ है सेतु का अर्थ पुल भी होता है और उस प्रकरण में 'सेतु' शब्द का प्रयोग कृषि की सिंचाई के लिए बांध बनाने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। बांधों के द्वारा जल एकत्रित करते हुए नहरों द्वारा खेतों में सिंचाई हेतु पानी पहुंचाने के लिए भूमि की, मार्ग की, सामग्री की और आदमियों की आवश्यकता होती है। अतः राजा को कृषि की उन्नति हेतु सिंचाई के कार्यों के लिए पूर्ण सहायता देनी चाहिये। कृषि की उन्नति के लिए व्यक्तिगत रूप से ही नहीं अपितु राज्यस्तर पर विकास का कार्य किया जाता था। क्योंकि यह कार्य श्रमसाध्य और व्यय साध्य है।

सामुहिक रूप से भी जनता सिंचाई के कार्यों को करती थी :—

कृषि ही एकमात्र जीवन का साधन थी। अतः सुखमय जीवन व्यतीत करने के लिए कृषि की उन्नति पर व्यक्ति, राज्य और प्रजा सामुहिक रूप से शीघ्रता से कार्य सम्पादन करने हेतु एकत्र होते थे, और जो लोग कृषि के इन सामूहिक कार्यों मे शारीरिक श्रम द्वारा कार्य नहीं कर सकते थे वे अपने स्थान पर अपने सेवक या अपने बलीवर्दों (बैलों) को देते थे इस प्रकार श्रम का और सामुहिक संगठित रूप से कार्य करने का कितना अधिक महत्त्व था, यह सब इस उद्धरण से ज्ञात हो रहा है। जैसे :—

'एकत्र होकर सेतुबन्ध (बांध) बांधने वाले लोगों में से कोई कार्य न करना चाहे तो ऐसे व्यक्ति को अपने स्थान पर अपने भृत्य या अपने बैलों को इस कार्य के लिए दे देना चाहिये। यदि ऐसा नहीं कर सकता है तो उसे उस अपने कार्य के

---

२. सहोदकमाहार्योदकं वा सेतुं बन्धयेत्। अन्येषां वा बध्नतां भूमिमार्गवृक्षोपकरणानुग्रहं कुर्यात्। कौ. २।१।२२।२३

भाग का सम्पूर्ण व्यय देना चाहिये, अन्यथा उसे कार्य का अंश लाभ न दिया जाये।"[1]

प्राचीन भारत में ग्रामों का महत्व :—

अति प्राचीन काल से भारत ग्राम प्रधान और कृषिप्रधान देश रहा है। आज भी गांव वाले अधिक परिश्रम कर कृषि द्वारा अधिक अन्न आदि उत्पादन कर बड़े-बड़े नगरों और अपने राष्ट्र की सेवा कर रहे हैं। कृषि ही एकमात्र जीवन के भरण-पोषण का साधन है। अतः कृषि को मुख्य मानते हुये प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक आचार्य कौटिल्य ने अपने से पूर्व के आचार्यों के अनुभवों से लाभ उठाते हुए देश की आर्थिक स्थितिको सुधारने और प्रत्येक व्यक्तिको कार्य देकर राष्ट्र का सर्वतोमुखी आर्थिक विकास करने पर अधिक बल दिया है और कृषि की उन्नति के लिए ग्रामीण संगठन की ओर भी दृष्टिपात किया है। कुशल व्यक्ति ही कृषि के कार्य को अच्छी प्रकार करते हुए देश को भूखमरी से बचा सकते हैं। इस उन्नति के लिए कौटिल्य ने 'जनपद-निवेश' प्रकरण में इस प्रकार ग्रामीण संगठन की उपादेयता पर ध्यान दिया है :—

"राजा पुराने या नये जनपदों की स्थापना के लिए अन्य देशों अथवा अपने ही देश से आदमियों को बुलाकर ग्रामों की संख्या को बढ़ावे। उन ग्रामों में प्रायः शूद्र (कार्य करने वाले) और कृषक हों, इस प्रकार सौ परिवार वाले और अधिक से अधिक पाँच सौ परिवार वाले ग्रामों की स्थापना करे। उन ग्रामों का परस्पर सीमा का अन्तर एक कोश अथवा दो कोश का होना चाहिये, जिससे समय पड़ने पर वे एक दूसरे की भी सहायता कर सकें।"[2]

बंजर भूमि का सदुपयोग करने के लिये एवं मनुष्यों की जीवन रक्षा के लिए अन्न अत्यावश्यक सामग्री होने से उसकी प्राप्ति के लिये ग्रामीण संगठन को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। नगरों के लोग इस क्षेत्र में पर्याप्त और उचित भूमि से अधिक उत्पादन जैसी समस्या को हल नहीं कर सकते। हैं अतः

---

१. संभूय सेतुबन्धादपक्रामतः कर्मकरबलीबर्दाः कर्म कुर्युः।
व्ययकर्मणि च भागी स्यात्। न चांशं लभेत। कौ. २।१।२५, २६, २७

२. भूतपूर्वमभूतपूर्वं वा जनपदं परदेशापवाहनेन स्वदेशाभिष्यन्दवमनेन वा निवेसयेत्। शूद्रकर्षकप्रायं कुलशतावरं पञ्चशतकुलपरं ग्रामं कोशद्विकोश-सीमानमन्योन्यारक्षं निवेशयेत्॥ कौ० २।१।१-२

आचार्य कौटिल्य ने ग्राम निर्माण और निर्मित ग्रामों की अधिक से अधिक भूमि और उस भूमि में निर्धारित परिवारों का निवास एवं समय पड़ने पर एक ग्राम दूसरे ग्राम की सभी प्रकार की सहायता भी कर सकें। इसलिये दो–दो कोश के पश्चात् ग्रामों का निर्माण माना है। इस प्रकार के उद्धरणों से प्राचीन युग की ग्राम्य व्यवस्था एवं ग्रामीण सहयोग और समृद्धि का परिचय मिलता है। ग्राम ही समस्त देश की खाद्य सामग्री की पूर्ति करता था।

जो कृषि को करता है कृषि उसी की होती है :—

आचार्य कौटिल्य ने मानव के जीवन के लिए कृषि को आवश्यक मानते हुए यह भी माना है कि जिस भूमि को परिश्रमी कृषक अपने श्रम से ठीक कर लेता है, उस भूमि पर उसका ही अधिकार होना चाहिये। उस कृषक से वह भूमि नहीं लेनी चाहिये।[1] आधुनिक युग में भी हमारी सरकार 'भूमि सुधार' में यही चाहती है कि जो जिस भूमि का उपभोग कर उत्पादन बढ़ा रहा है वह भूमि उसकी ही होनी चाहिये।

"यदि कोई कषक भूमि को लेकर कृषि को नहीं करता ऐसी स्थिति में उससे वह भूमि लेकर दूसरों को दे देनी चाहिये।"[2]

इस प्रकार पूर्व वर्णित उद्धरणों से अवगत होता है कि उस युगमें जनता और शासक भूमि का राष्ट्र की जीवन रक्षा के लिए अधिक महत्त्व समझते थे। कोई व्यक्ति भूमिपति होकर भूमि का दुरुपयोग न करें। यदि वह प्राप्त भूमि का सदुपयोग नहीं करता था तो उससे वह छीन कर किसी कुशल कृषक को दे दी जाती थी। जिससे वह अधिक उत्पादन बढ़ाकर राष्ट्र को अन्न से आत्म-निर्भर कर सकेगा।

यदि कोई कृषक अधिक उत्पादन बढ़ाने के उद्देश्य से भूमि तो ले लेता था किन्तु उसमें कृषि नहीं करता है तो ऐसी दशा में उसे उस भूमि में कार्य न करने का दण्ड देना चाहिये।[3]

कृषिकी उन्नति के लिये राज्य की ओर से सहायता— :

आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अध्ययन करने पर यह अच्छी प्रकार से विदित होता है कि उस युगमें राष्ट्रीय स्तर पर कृषि होती थी। कृषि की उन्नति और

---

१. अकृतानि कर्तृभ्यो नादेयात्। कौ. २।१।११
२. अकृषतामाच्छिद्यान्येभ्यः प्रयच्छेत्॥ कौ. २।१।१२
३. अकृषन्तोऽपहीन दद्युः। कौ. २।१।१४

उत्पादन की वृद्धि हेतु राज्य की ओर से अच्छे बीज, अच्छी जाति के पशु और धन दिया जाता था। ऐसा करने से कृषक उचित साधनों को पाकर कृषि की उन्नति में अपना सर्वस्व लगा देते थे।

'शासक को चाहिए कि वह कृषि की उन्नति के लिए धान्य, पशु, धन, एवं कृषि के उपयोगी साधनों के द्वारा कृषकों की सहायता करे।'[1]

जिस राष्ट्र के शासक इस प्रकार अपने राष्ट्र की कृषि की उन्नति के लिए किसानों को अच्छे बीज, अच्छी नस्ल के पशु और आर्थिक सहायता देंगे, वह राष्ट्र कैसे धन धान्य सम्पन्न नहीं होगा। किसान इस प्रकार की सहायता पाकर उत्साह, धैर्य और तीव्रगति से कार्य करेंगे। इस प्रकार की कृषि सहायता पाकर किसान अर्थसम्पन्नर.हेंगे और राज्य को 'कर' देने एवं प्राप्त ऋण रूप में लीं हुई धनराशि को वापस करने में तनिक दुख भी अनुभव नहीं करेंगे।

राज्यकी ओर से प्राप्त सहायता से कृषक जब सम्पन्न हो जाते हैं ऐसी स्थिति में वे उस सहायता को पुनः राज्य की आर्थिक स्थिति दृढ़ बनाने के लिये अपनी सुख सुविधा के अनुसार वापस कर देते हैं। अर्थात् उन प्राप्त सुविधाओं को सुख से वापस कर देते हैं।[2]

कोष्ठागाराध्यक्ष और उसके कार्य :—

कोष्ठागाराध्यक्ष को चाहिये कि वह राष्ट्र में उत्पन्न होने वाली सभी वस्तुओं के गुणों का पूर्ण ज्ञाता हो और उन सभी १० रूपों से प्राप्त होने वाले धन धान्य को कोष्ठागार, में जमा करे। जैसे :—

"कोष्ठागाराध्यक्ष को चाहिये कि वह **'सीता'**[1] **'राष्ट्र'**[2]

---

१. धान्यपशुहिरण्यैश्चैनाननुगृह्णीयात्। कौ० २।१।१५

२. तान्यनुसुखेन दद्युः। कौ० उत्तरार्ध २।१।१५

३. अनेक प्रकार के धान्य को **'सीता'** कहते हैं। ४—राष्ट्र से अनेक प्रकार के लिये जाने वाले करों को राष्ट्र कहते हैं। यह राष्ट्र दस प्रकार का होता है। १—गांवों द्वारा दिया धाने वाला निश्चित राज्य कर **'पिंडकर'** होता है।

२. राज्यकर का अन्न के रूप में दिया जाने वाला छठा भाग **'षड्भाग'** होता है।

३. सेना के आक्रमण के समय दिया जाने वाला राज्य कर **'सेनाभक्त'** नाम से जाना जाता है।

४. षड्भाग (छठे भाग) के अतिरिक्त राज्य कर को **'बलि'** कहते हैं।

क्रयिम[3] **परिवर्तक**[4] **प्रामित्यक**[5] **आप मत्यक**[6] **सिंहनिका**[7] **अन्यजात**[8] **व्यय-प्रत्याय**[9] **और उपस्थान**[10] इन दस बातों को अच्छी प्रकार जाने।[11]

---

५. जल एवं वृक्षका दिया जानेवाला राज्य कर **'कर'** नामसे पुकारा जाता है।

६. राजपुत्रों के जन्म एवं विशेष उत्सव पर दिया जाने वाला कर **'उत्सङ्ग'** नाम से सम्बोधित होता है।

७. निर्धारित कर से भी अधिक लिया जाने वाला कर **'पार्श्व नाम'** से पुकारा जाता है।

८. पशुओं द्वारा नष्ट किए हुए अन्न का दण्ड के रूप में प्राप्त धन **'पारिहीणिक'** नाम से पुकारा जाता है।

९. उपहार के रूप में प्राप्त होने वाला धन **'औपायनिक'** कहा जाता है।

१०. राज्य निर्मित तालाब और उद्यानों से प्राप्त होने वाला धन कौष्ठयक नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार 'राष्ट्र' नाम के 'राज्य' करके १० भेद हुए।

३. **क्रयिम** के भी इन भेद किए गये हैं :—१—**धान्यमूल्य**—अन्न आदि को बेचने से प्राप्त धन। २—**कोषनिर्हार**—धन द्वारा क्रय किया हुआ अन्न। ३—**प्रयोग प्रत्यादान**—व्याज के रूप में प्राप्त होने वाला अधिक अन्न।

४. **'परिवर्तक'** धान्य से अन्य प्रकार के अन्नों को विनिमय के रूप में बदलने को **'परिवर्तक'** कहते हैं।

५. **'प्रामित्यक'** इस अन्न को कहते हैं जो किसी मित्र से लिया गया हो और जो पुनः वापस न किया जाये।

६. **'आपमित्यक'** उस अन्न को कहते हैं जो लेकर वृद्धि (व्याज) सहित प्रत्यावर्तित किया जाता है।

७. **'सिंहनिका'** उस राज्य कर को कहते हैं जो, अन्न को कूटने वालों, दालों को दलने वालों, अन्न पीसने वालों, रस को निकालने वालों, तेल को पिरोते वालों से लिया जाता है।

८. **'अन्य-जात'** नष्ट और विस्मृत हुए धन या अन्न या अन्न को अन्यजात कहते हैं।

९. **'व्यय-प्रत्याय'** उस धन और अन्न को कहते हैं जो व्यय करने के पश्चात् शेष वापस आया हो।

१०. **'उपस्थान'** तुला (तराजू) और बाटों के अन्तर द्वारा प्राप्त किया अन्न या धन, अथवा हाथ की चतुरता से एकत्रित किया हुआ अन्न या धन उपस्थान कहा जाता है।

११. कोष्ठागाराध्यक्षः सीतां-राष्ट्र-क्रयिम-परिवर्तक-आपमित्यकापमित्यका-सिंहनिकाअन्य जात-व्यय प्रत्ययोपस्थानान्युपलभेत् ॥ कौ. २।१५।१

राष्ट्र पर अन्न के विषय में आने वाली आपत्ति के समय के लिए अन्न का संग्रह करना चाहिये। ईश्वरीय और प्राकृतिक प्रकोपों को कोई नहीं रोक सकता है किन्तु आध्यात्मिक, धार्मिक, विचारधारा के विचारकों का यह विश्वास है राजा-शासक के पाप के कारण ही जनता कष्ट भोगती है और समस्त दुर्भिक्ष अकाल, बीमारियाँ, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, बाढ़, सूखेकी स्थिति, भूमि स्खन आदि भयंकर घटनायें शासक के दुराचारी, अन्यायी, स्वार्थी, विलासी और कर्तव्य भ्रष्ट होने के कारण घटती हैं। शासक के भ्रष्ट होने पर जनता भी पथ भ्रष्ट हो जाती है और राष्ट्र पर सभी प्रकार की आपत्ति के काले बादल घिर जाते हैं।

इन आपत्तियों का सामना करने के लिए एवं अपनी जनता की जीवन रक्षा करने के लिए अच्छे शासक राष्ट्र में अन्न और धन अपने भण्डारों में सुरक्षित रखते हैं आज इस प्रकार के खाद्यान्नों के संकट का सामना करने के लिए हमारी भारत सरकार भी खाद्यान्न सुरक्षित भण्डारों की स्थापना की ओर ध्यान दे रही हैं। अच्छा होता यदि प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों की त्यागमय वृत्तिको अपना कर इस जनतान्त्रिक युग में देश के शासक अपने को जनता का सेवक समझकर कार्य कर दे तो देश का समस्त संकट दूर हो जाता।

जैसे—आचार्य कौटिल्य का मत है :—

"उत्पादक का अर्ध भाग जनपदों पर आपत्ति के उपभोग के लिये एकत्रित कर लेना चाहिये। अर्ध भाग का वर्तमान समय में उपभोग कर लेना चाहिये। नवीन उत्पन्न फसल के आने पर पुराने अन्न का उपयोग और नई फसल शुद्ध कर पुराने के स्थान पर जमा कर दे।"

इस प्रकार के उद्धरणों से यह विदित होता है कि राष्ट्र की सुरक्षा और आपत्ति के समय के लिए अच्छे शासक बहुत विशाल-विशाल कोष्ठागार बनाते थे। जिनसे वे जनता पर खाद्यान्न संकट नहीं आने देते थे। अच्छी फसलके होने पर ही पुरानी फसल का समस्त अनाज प्रजा के उपयोग के दे दिया जाता था और नई फसल का अनाज कोष्ठागारों में आपत्ति के समय के लिए सुरक्षित रखा जाता था।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों की दृष्टि शुद्ध और हृदय पवित्र एवं उदार था। व्यक्तिगत स्वार्थ और अवसरवादिता उनमें न थी। जनता के शोषण की अपेक्षा पोषण पर उनका अधिक ध्यान था। शासन सत्ता को रक्षक बनकर अपनाता था न कि भक्षक बनकर। इसलिये उनके हृदय में प्रजावर्ग का हित अधिक था।

राजा प्रजा के कल्याण हेतु यदि इस प्रकार सहायता करेगा और सुख सुविधा का ध्यान रखेगा तो अधिक उत्पादन होने पर प्रजावर्ग भी प्रसन्नता से कर, के रूप में प्राप्त सहायता को वापस कर देनी है। सुखेन दद्यु, सुख से दे। इस वाक्य से यह भी अवगत होता है की कृषकों को अधिक अन्न उपजाने के लिये धन, बीज और पशु ऋण के रूप में दिये जाते थे। जो अच्छे उत्पादन होने पर सुख पूर्वक राज्य को वापस करने पड़ते होंगे। आर्थिक व्यवस्था को उन्नत करने के लिए ये सभी उपाय काम में लाये जाते थे।

पूर्व वर्णित उद्धरणों से विदित होता है कि कृषकों को उत्साहित करने के लिये एवं अधिक अन्न उपजाने के लिये शासक की ओर से समस्त प्रकारकी कृषि सुविधाये दी जाती थीं। अन्न के मामले में पूर्ण सम्पन्न रहने पर ही देश सुरक्षित रह सकता है। प्रायः खाद्य सामग्री में विषैले पदार्थों का मिश्रण कर शत्रु राज्य हानि भी पहुँचा सकता है। अतः प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक कौटिल्य ने अपने राष्ट्र की कृषि की उन्नति पर अत्यधिक ध्यान दिया है। आज हमारी भारत सरकार भी कृषि की उन्नति के लिए आचार्य कौटिल्य की भाँति सुबिधायें देना चाहती है। मनुष्य की जीवन रक्षा के लिए सदा से अन्न आवश्यक वस्तु रहा है। किसान सचमुच ही देश का अन्नदाता माना गया है। उसके ही निरन्तर कठोर परिश्रम से देश जी रहा है। कोई भी देश तभी आत्म निर्भर बन सकता है यदि उसके पास पर्याप्त भोजन सामग्री संग्रहित है और कृषि के सभी साधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं।

जहां राज्य का खेती के लिए सहायता देना परम धर्म है वहां कठोर परिश्रम करने वाले किसानों को स्वस्थ और निरोग रखने एवं रोग ग्रस्त शरीर के सुधार के लिए भी राज्य की ओर से अधिक ध्यान दिया जाता था।

पशु धन और उसका महत्व एवं उसकी सुरक्षाके उपाय :—

कृषि प्राणियों की रक्षा के लिए परमावश्यक मानी गई है और कृषि को जोतने, बोने में सहायक पशु ही होता है। प्राचीन भारतीय आर्थिक बिचारकों ने पशु को भी धन माना है और 'वार्ता' विद्या में पशु को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। कृषि पशु के बिना उस युग में असम्भव थी। पशु की उपयोगिता कृषि, खाद और जीवन के पौष्टिक आहार--दूध, घी, दही, मक्खन आदि के लिए परमावश्यक थी। मरने के पश्चात् भी उसके चमड़े से हम लोग लाभ उठाते हैं। अब विचारणीय विषय है कि जिन पशुओं के कारण हमें जीवन के लिए आवश्यक

वस्तुयें प्राप्त होती हैं, क्या उस महत्त्व पूर्ण धन की रक्षा के लिए हमें भी कुछ करना चाहिए की नहीं ? अतः प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने अपनी अर्थ वृद्धि के साधनों की सुरक्षा के लिए भी पूर्ण प्रयत्न किये हैं। भूमि कृषि के लिए आवश्यक है किन्तु कुछ भूमि इस प्रकार की भी है जिसमें कुछ नहीं होता अपितु उसमें परिश्रम करना व्यर्थ ही जाता है। इस बात को दृष्टिमें रखते हुए आचार्य कौटिल्य ने पशुओं को चरने के लिए उस भूमि को उपयुक्त समझा जिसमें केवल घास के और कुछ भी नहीं हो सकता।

'जिस भूमि में बोने पर भी कुछ न हो सके ऐसी भूमिकों पशुओं के लिए चरागाह के लिए दे देना चाहिए।'[1]

जिस प्रकार घूमने फिरने से मनुष्य का स्वास्थ्य अच्छा रहता है उसी प्रकार पशुओं को भी घूमने फिरने स्वच्छन्द होकर घास चरने के लिए राज्य की ओर से (विवीतानि) चरागाह छोड़े गये थे। पशु अपनी इच्छा से सभी प्रकार का घास चरागाह में प्राप्त करलेता है। कभी-कभी पशुओं के लिए भी चारे (घास) की कठिनाई हो जाती हैं। अतः ऐसे समय पर राज्य की ओर से सुरक्षित किए हुए चरागाह काम में आते हैं। पशुओं की सुरक्षा के लिए राज्य की ओर से एक विवीताध्यक्ष की नियुक्ति की हुई थी जो विवीत = चरागाह का प्रबन्ध करता था।

'पशुओं के विचरण के लिए, चरने के लिए और बैठने के लिए जंगलों में चरागाह बनावे।'[2]

इस प्रकार के वर्णनों से ऐसा प्रतीत होता है कि पशुधन की अभिवृद्धि, सुरक्षा पर प्राचीन काल में अत्यधिक ध्यान दिया जाता था। पशु को पशु नहीं अपितु मानवीय जीवन की रक्षा के लिए एक उपयोगी धन गिना गया था। अतः पशुओं की रक्षा का इतना ध्यान रखा जाता था। जैसे :—

"चोर, हिंसक जानवरों, विप ग्रहण और अन्य दूसरी प्रकार की बीमारियों से पशुओं की रक्षा करे।"[3]

कृषि को मानवीय जीवन रक्षा के लिए आवश्यक और उपयोगी प्राचीन काल में भी माना गया था और आज भी माना जा रहा है। अपनी खाद्य स्थिति

---

१. अकृष्यायां भूमौ पशुभ्यो विवीतानि प्रयच्छेत्। कौ० २।२।१

२. पशुप्रचारार्थं विवीतमालवनेनोपजीवेयुः कौ० ३।१०।३१

३. स्तेनव्यालविषग्राहैः व्याधिभिश्च पशुव्रजान्॥ कौ० २।१।४५

को सुधारने के लिए प्रत्येक राष्ट्र वैज्ञानिक उपायों को काम में ला रहा है। खाद्यान्न में आत्मनिर्भर होने के लिए संसार के सभी राष्ट्रों में एक प्रकार की होड़ सी लगी हुई है। हमारे देश ने भी इस दिशा में खाद्यान्न में आत्मनिर्भर होने का पग उठाया है। स्वतन्त्रता के पश्चात् भी हमारा सबसे अधिक व्यय विदेशों से अन्न मंगाने पर ही व्यय होता रहा है।

आज अधिक अन्न उपजाओ और देश को अन्न के विषय में आत्म-निर्भर बनाओ का नारा हमारी भारत सरकार भी बड़े उत्साह से लगा रही है। कृषकों को अच्छा बीज, अधिक उपजाऊ कृत्रिम रसायनिक खाद, नलकूप की समस्त प्रकार की सुविधा प्रदान कर, अनुदान और ऋण देकर भी कृषि को अधिक उत्पादन के योग्य बनाने के लिए नहरों द्वारा सिंचाई का प्रबन्ध करा रही है। इतना कठिन प्रयास करने पर भी प्रकृति साथ नहीं दे रही है। आचार्य कौटिल्य की योजनाओं के अनुरूप यदि कृषि के क्षेत्र में कार्य किया जाये तो क्रान्तिकारी परिवर्तन हो सकता है। यद्यपि साधनों में युग के अनुरूप कुछ परिवर्तन हो गये हैं। प्राचीन युग में कृषि और पशु का महत्त्वपूर्ण स्थान था किन्तु अब पशु का कृषि के लिये इस वैज्ञानिक युग में वह स्थान नहीं रह गया है। अब 'ट्रैक्टर' ने वह स्थान ले लिया है। इतना विकास होने पर भी दूध, दही, मक्खन, घी और मिष्टान्न जैसी चीजों की पूर्ति पशु ही कर सकता है। इन कार्यों के लिए सभी युगों में पशु सदैव लाभप्रद रहेगा।

प्राचीन भारतीय विचारकों ने गाय को माता के नाम से सम्मानित किया है। गाय को पृथ्वी का प्रतीक और बैल को धर्म का प्रतीक माना है। हमारे प्रतीकों का भी अपना एक महत्व था। आधुनिक वैज्ञानिक युग चाहे उसे माने या न माने। सचमुच यह मानवीय स्वभाव ही है कि वह नवीनता और सुगमता से ही अधिक आकर्षित होता है और सदा परिवर्तन को चाहता है।

देश, काल और परिस्थिति के अनुसार प्रत्येक का अपना-अपना आर्थिक स्तर होता है। हमारा देश गरीब और साधन रहित भी है। साधारणतया किसान परिवार ट्रैक्टर और कृत्रिम रसायनिक खाद का प्रयोग नहीं कर सकता। उसके अतिरिक्त प्राचीन कृषि पद्धति और आधुनिक कृषि पद्धति में अन्तर भी है। प्राचीन कृषि पद्धति के उत्पादन में सुस्वादुपन था। कृषक अपने पशुधन की सुरक्षा और सम्वर्धन के लिए उन्हें अच्छा खाना देता था। पशुओं की खाद में उत्पादन वृद्धि, स्वाद और भारतीय वातावरण के अनुकूल अधिक अन्न उत्पादन की शक्ति थी। हम भोजन आदि जो भी करते हैं वह क्यों करते हैं? शरीर की

सुरक्षा और उसकी पुष्टता के लिए करते हैं। जैसी चीजों का उपयोग और उपभोग करेंगे उससे वैसी ही जीवनदायिनी शक्ति प्राप्त होगी।

आधुनिक अधिक अन्न उत्पादन की कृषि पद्धति में बाह्य आडम्बरों पर एवं स्वादरहित अधिक उत्पादन में वृद्धि तो हुई है किन्तु खेतों की उर्वरा शक्ति आधुनिक कृत्रिम रसायनिक खाद से शनैः-शनैः क्षीण होना प्रारम्भ हो गया है। इसका वास्तविक प्रभाव १०-१५ वर्ष में कृषकों एवं प्रयोग कर्ताओं को विदित होगा। आज यह देखने में आ रहा है कि जिन खेतों में यह रसायन खाद सेवन की जाती है शनैः-शनैः प्रत्येक वर्ष उनकी उत्पादन शक्ति कम ही होती जा रही है और उस खाद की गर्मी को समाप्त करने के लिए अधिक और कई बार पानी की आवश्यकता होती है। आज कृषि के लिए पानी की समस्या बढ़ती जा रही है। इस प्रकार की उत्पादन वृद्धि से सारहीन अन्न खाकर मनुष्य की आयु पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? व्यक्ति शक्तिहीन और पराश्रित होता चलेगा और एक दिन ऐसा आयेगा कि पौष्टिक तत्व 'विटामिन' की गोलियों में ही डाक्टरों के पास मिलेगा। आधुनिक खाद्य मिश्रण के कारण ही हमारे देश में अधिकाधिक लोग बीमारी के शिकार हैं। पशु धन का महत्त्व नवीन आविष्कार के समक्ष एवं अकर्मण्यता के कारण हम भूलते जा रहे हैं। पहले व्यक्ति पशुओं को पालने से पर्याप्त दूध, घी, दही एवं मट्ठा प्राप्त कर लेता था और अन्न की मात्रा का उपयोग भी कुछ कम होता था। आज तो साधारण जन केवल अन्न पर ही निर्भर हैं। आज का अन्न व्यक्ति के शरीर में आयुक्षीणता, पौरुषहीनता और उष्णता ला रहा है। आज से पूर्व गाय, भैंस, बकरी आदिके दूधमें अच्छी मलाई, सुगन्धयुक्त घी था किन्तु आज से पाँच वर्ष पूर्व के समान नहीं रह गया है। शहर के जानवर सारहीन पदार्थों को पाकर कैसे सारयुक्त पौष्टिक सामग्री दे सकेंगे ? प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने 'वार्ता' में वर्णित कृषि, वाणिज्य और गोरक्षा पर अधिक बल दिया है। कृषि का पशु से घनिष्ठ सम्बन्ध बताया गया है।

अनुग्रह और परिहार सहायता द्वारा किसानों का कल्याण कार्य :—

वस्तुतः किसान राष्ट्र का अन्नदाता है। उसके परिश्रम से राष्ट्र की खाद्य स्थिति अच्छी रह सकती है और आर्थिक व्यवस्था सुदृढ़ बन जाती है। आचार्य कौटिल्य ने जिन कृषकों को राष्ट्र के निर्माण में महत्वपूर्ण स्थान दिया है, उनके स्वास्थ की रक्षा के लिए भी अत्यधिक ध्यान रखा है। यदि किसानों का स्वास्थ्य अच्छा निरोग रहेगा तो वे अपने कृषि के कार्य को अच्छी प्रकार कर सकेंगे। सचमुच स्वस्थ शरीर ही अपना कल्याण और दूसरों को लाभ पहुँचा

सकता है। अतः कौटिल्य ने किसानों की स्वास्थ सुरक्षा के लिये अनुग्रह, परिहार धन देकर भविष्य में अधिक धन प्राप्ति के लिए शासक को आदेश दिया है। जैसे :—

"अनुग्रह और परिहार द्वारा शासक कृषकों के लाभ के लिए धन दे, जिससे कृषक अधिक परिश्रम करते हुए कोष की वृद्धि कर सकें। अतः कोषवृद्धि के लिए कृषकों को अनुग्रह और परिहार द्वारा धन दे।"[1]

कृषि ही जीविका का एकमात्र साधन है और कृषक देश के अन्नदाता हैं। यदि वे अस्वस्थ हो जायेंगे तो सम्पूर्ण राष्ट्र की खाद्य समस्या संकट में पड़ जायेगी। अतः उसके स्वास्थ्य की रक्षा के लिए उपाय और बिगड़े हुए स्वास्थ की सुरक्षा के लिए निदाम सोचना चाहिये। ताकि वे स्वस्थ रहें और कृषि की समुन्नति होती रहे।

१. अनुग्रह धन किसे कहते हैं ?

अनुग्रह उस धन को कहते हैं जो कृषकों के स्वास्थ्य की वृद्धि एवं संरक्षण के लिए राजा की ओर से दिया जाता है। इस अनुग्रह धन देने का यही तात्पर्य होता है कि कृषि से अधिक उत्पादन कराने में कृषक निरोग शरीर से अधिक अच्छा कार्य कर सकता है। अतः नियमित, संयमित और स्वस्थ जीवन व्यतीत करने के लिये शारीरिक व्यायाम आदि की सामग्री को क्रय करने के लिए जो धन दिया जाता है उसे आचार्य कौटिल्य ने अनुग्रह नाम से पुकारा है।

२. परिहार धन किसे कहते हैं ? किन्हीं त्रुटियों के या अवहेलना के कारण किसान बीमार पड़ जाते हैं और कृषि के उत्पादन के कार्य में इससे अत्यधिक बाधा उपस्थित हो जाती है। अतः बीमार कृषकों के बिगड़े हुए स्वास्थ के लिए अच्छी-अच्छी औषधियों द्वारा औषधालय खोलने के लिए धन देना 'परिहार' धन कहलाता है।

इस प्रकार कृषकों का स्वास्थ्य अच्छा रहेगा तो वे राष्ट्र की आर्थिक स्थिति को सुधारने में सक्रिय योगदान देकर राज्य के कोष की वृद्धि करेंगे। जैसा कि आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में कहा है :—

"शासक कृषकों को अनुग्रह और परिहार धन देकर कोष की वृद्धि करे।"

---

१. अनुग्रह परिहारौ चेभ्यः कोशवृद्धिकरौ दद्यात् ॥ कौ० २।१।१६

ऊपर वर्णित उद्धरणों से विदित होता है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क रहता है और दोनों के अच्छा रहने पर ही मनुष्य अपने अभ्युदय के विषय में कुछ कर सकता है। इसी प्रकार रोग रहित लोग ही राज्य की कोष वृद्धि में अत्यधिक सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

यदि किन्हीं कारणों से 'अनुग्रह' और 'परिहार' जैसी सहायता करने पर राज्य के कोष पर आघात पहुँच रहा हो, पुनः ऐसी स्थिति में सहायता कार्य को छोड़ देना चाहिए। जैसा कि आचार्य कौटिल्य ने स्वयं ही कहा है :—

"यदि राजा के कोष पर प्रजा को अनुग्रह, परिहार आर्थिक सहायता देने पर बाधा आ रही हो तो उस कार्य को छोड़ देना चाहिए।"[1]

प्रायः यह भी देखा जाता है कि यदि शासक अपने धन का दुरुपयोग करता हुआ 'कोष' को 'हानि' पहुँचाता है तो ऐसी स्थिति में अधिक से अधिक कोष भी समाप्त हो सकता है और पुनः अर्थशक्ति से हीन एवं कोषविहीन राजा अपनी प्रजा को सभी प्रकार के आर्थिक कष्ट देता है। जिन कष्टों से जनता दुखी हो जाती है। जैसे :—

"अल्पकोष (अर्थहीन) राजा ही अपनी नगर और जनपद की जनता को ही अधिक 'कर' लगाकर (ग्रसित) पीड़ा पहुँचाता है।"[2] अतः कुशल शासक को अपनी आय को देखते हुए एवं कोष को देखते हुए ही अपनी प्रजा की सहायता करनी चाहिये। अपनी स्थिति को सोचे समझे बिना सहायता देने से अत्यधिक कष्ट उत्पन्न हो सकता है।

वस्तुतः कोष को राजा का मेरुदण्ड माना गया है। अतः अच्छे राजा को राज्य का कोष प्रजावर्ग के लाभ के लिए ही पूर्णरूप से समाप्त नहीं कर देना चाहिये। उन कार्यों एवं योजनाओं को अपने कोष को आर्थिक स्थिति को देखकर गौणरूप दे देना चाहिये या कुछ समय के लिए स्थगित ही कर लेना चाहिए। जिन पर अधिक व्यय हो रहा हो और कोष के सुरक्षित अंश पर बुरा प्रभाव पड़ रहा हो, ऐसी स्थिति में शासक राष्ट्र की सुरक्षा कैसे कर सकता है? प्रायः ऐसा देखा गया है कि राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था बिगड़ जाने पर अथवा अर्थ का अपव्यय होने पर राजा प्रजा पर ही अधिक 'कर' लगाकर शोषण और उत्पीड़न करता है। इस प्रकार के उत्पीड़न से प्रजा सहसा आतंकित हो जाती

२. कोशोपघातिकौ वर्जयेत् ॥ कौ० २।१।१७

१. अल्पकोषो हि राजा पौरजानपदानेव ग्रसते ॥ कौ० २।१।१८

है और राज्य की आर्थिक स्थिति पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है एवं वस्तुओं की अत्यधिक मूल्यवृद्धि हो जाती है। जिससे प्रजावर्ग की आर्थिक व्यवस्था बिगड़ने लगती है और न राज्यकर्मचारी, न राज्य अधिकारी एवं न जनता ही इस प्रकार के शासन करने वाले शासक का साथ ही देती है अपितु उसकी इस आर्थिक अव्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह कर बैठती है। अतः प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक आचार्य कौटिल्य ने राजकोष को बाधा पहुँचाने वाले अनुग्रह परिहार जैसे अनुदानों को देने के लिए बुरी स्थिति में निषेध किया है।

राज्य की ओर से आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए जनता को अनुदान और ऋण भी दिया जाता था

आचार्य कौटिल्य ने प्रजावर्ग के आर्थिक स्तर को उन्नत करने के लिए एवं राज्य की आयवृद्धि करने के लिए प्रजा को ऋण और अनुदान देने की व्यवस्था इस प्रकार बनाई है। कई ऐसे कार्य होते हैं जिन्हें व्यक्ति साधनों की कमी के कारण नहीं कर सकता है। प्रायः प्रत्येक कार्य को प्रारम्भ करने में अर्थ की परमावश्यकता होती है। इश प्रकार व्यक्तियों की कार्य क्षमता' बुद्धिमत्ता और अर्थ प्राप्त करने की योग्यता को देखकर शासन की ओर से प्राचीन काल में ऋण देने की व्यवस्था का भी वर्णन हुआ है। जैसे :—

"पौर (नगरनिवासी) और जनपद के लोग 'परिहार'[१] रूप में प्राप्त अर्थ को वापस कर निवृत्त होने पर ही पुनः राजा पिता के समान उन पर अनुग्रह करे।"[२]

आचार्य कौटिल्य के इस प्रकार के आर्थिक उन्नति कराने वाले उद्धरणों का अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि व्यक्ति के व्यक्तिगत आर्थिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए राज्य की ओर से 'ऋण देने की योजनायें' भी बनी हुई थीं। व्यक्ति इस प्रकार की आर्थिक योजनाओं को क्रियान्वित करता हुआ स्वयं का आर्थिक विकास तो करता ही था किन्तु इसके साथ ही साथ प्रजा के अन्य लोगों को भी कार्य देता था और राज्य को अपनी उत्पादित वस्तुओं

---

१. 'परिहार' उस आर्थिक सहायता वाले धन को भी कहते हैं जो राज्य से अपनी आर्थिक स्थिति को उन्नत करने की दृष्टि से लिया जाता है और पुनः उसे गृहीत अर्थ को वापस करने के पश्चात् ही अन्य दूसरी सहायता मिलती थी।

२. निवृत्तपरिहारान्पितेवानुगृह्णीयात् ॥ कौ० २।१।२०

द्वारा अधिक 'कर' भी दे सकता था। इन्ही उद्देश्यों की पूर्ति हेतु आचार्य कौटिल्य ने 'ऋण देने की योजनाओं' को प्रजा और राज्य के हित के लिए अच्छा माना है। इस प्रकार की योजनाओं द्वारा औद्योगिक कार्यों को प्रोत्साहन भी मिलता रहा होगा और प्रजाजन में रोजी रोटी देने की समस्यायें भी विषम रूप न लेती रही होंगी। प्रत्येक जन अपने-अपने कर्तव्यों के प्रति जागरुक था।

अर्थहीन और शक्तिहीन व्यक्तियों की रक्षा का भार राज्य पर था :—

समाज में आर्थिक स्थिति के खराब होने के कारण कोई भी व्यक्ति हीनता एवं कष्ट अनुभव न करे। अतः उन सभी लोगों की रक्षा के लिए राज्य की ओर से रक्षा का प्रबन्ध था। इस प्रकार की व्यवस्था से यह विदित होता है कि प्राचीन भारत में लोगों की आर्थिक स्थिति अच्छी थी और प्रजा के सम्पन्न रहने पर राज्य की भी आर्थिक दशा इतनी अच्छी थी कि राज्य अपनी प्रजा के अर्थहीन और शक्तिहीन व्यक्तियों की समस्त प्रकार की सुरक्षा का दायित्व अपने ऊपर लेता था। वस्तुतः यदि किसी राज्य में प्रजा अर्थ के अभाव में दुख अनुभव करती है तो उसका दोष भी शासक पर ही है क्योंकि उसकी अव्यवस्था के कारण ही लोगों की आर्थिक स्थिति दयनीय हुई है। अतः राजा को प्रजा के असमर्थ लोगों के भरण-पोषण का ध्यान रखना चाहिए। जैसा कौटिल्य ने कहा है :—

"बालक, वृद्ध, रोगी, कष्ट में पड़े हुए एवं अनाथ लोगों का राजा सदा पालन करे।"[1]

आश्रयहीन लोगों की रक्षा करने से वे सुखी रहकर राज्य में शान्त रहेंगे और अपने कामों में व्यस्त लोगों के ऊपर भार न बनेंगे एवं इन लोगों के कारण राज्य की गुप्त बातें दूसरे राज्यों में न फैले। इसके साथ ही साथ प्रजा में आश्रयहीन भिक्षावृत्ति, वेश्यावृत्ति और अपराधी मनोवृत्ति को न अपना सकें। अतः राज्य की ओर से इन सभी के सुधार और सुख की भावनाओं का ध्यान रखा जाता था। अर्थ सम्पन्न या सभ्य राष्ट्र ही इस प्रकार की उदारता पूर्ण भावनाओं को रख कर अपने राष्ट्र के बालक, वृद्ध, रोगी, दुख में पड़े हुए और अनाथों की सुरक्षा एवं जीवनयापन करने की समस्या हल कर सकता है। इस प्रकार के उद्धरणों से विदित होता है कि प्राचीन भारत में समाज की आर्थिक स्थिति इतनी अच्छी थी कि कोई भी व्यक्ति दुखी नहीं था। यहाँ तक कि आश्रयरहितों का पालन पोषण राज्य की ओर से होता था।

---

१. बालवृद्धव्याधितव्यसन्यनाथांश्च राजा बिभृयात् ॥ कौ० २।१।३०

आयवृद्धि हेतु अनेक प्रकार के कार्यों का निर्माण किया हुआ था :—

आय वृद्धि हेतु एवं प्रजा के कल्याणार्थ अनेक कार्यों का निर्माण भी दृष्टिगत होता है। जैसे :—

"आकर (खानों से निकलने वाले) खनिज वस्तुओं के विक्रय करने के स्थान, द्रव्यवन[1] हस्तिवन[2] व्रज[3] व्यापार मार्गों का जलमार्ग, स्थलमार्ग, दुकानों और बड़ी-बड़ी व्यापारी मण्डियों का निर्माण करावे।"[4]

ऊपर के उद्धरण से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रजावर्ग के आर्थिक जीवन को विकसित करने के लिये राज्य की ओर से अनेक उपयोगी योजनायें रचनात्मक रूप से चलाई जाती थीं। अर्थ को व्यवहारिक जगत् के लिए अत्यावश्यक माना गया है। अर्थ का ही समस्त जगत् में चमत्कार देखकर अर्थ प्राप्ति के साधनों को खोजा गया है और उनके विकास के लिए आचार्य कौटिल्य जैसे प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक ने एक अपनी सुव्यवस्थित योजना दी। व्यक्ति को उपार्जन और उत्पादन वृद्धि के लिए मार्ग बताये हैं। अर्थशास्त्र में वर्णित मार्गों पर चल कर भूमि में छिपी सम्पदा से भी लाभ उठाया गया है। राज्य को इन कार्यों के करने से बहुत अधिक आर्थिक लाभ एवं प्रजावर्ग के लोगों को आजीविका भी मिल जाती थी।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विकास में नगरों का महत्त्व :—

जिस प्रकार कृषि आदि की उन्नति में गांवों का महत्त्व पीछे बताया गया है। ठीक उसी प्रकार उद्योग धंधों के विकास के लिए, कर प्राप्ति के लिए एवं आर्थिक विकास के लिए बड़े-बड़े नगरों का भी अत्यधिक महत्त्व माना गया है। नगरों में उच्चस्तर पर उद्योग धंधों को चलाने के लिये हर प्रकार के व्यक्ति उपलब्ध हो जाते हैं और यातायात की सुविधायें भी प्राप्त हो जाती हैं। दूर-दूर देशों से उद्योगी कार्यों के लिए सामग्री सुगमता से आ सकती है। कार्य के अधिक विकसित होने पर अधिक लोगों को जीविका देने की भी

---

१. बहुमूल्य चन्दन आदि लकड़ियों के उत्पत्ति स्थान।

२. जिन वनों में हाथी रहते हों।

३. गाय आदि पशुओं की रक्षा एवं वृद्धि के स्थान।

४. आकरकर्मान्त द्रव्यहस्तिवन व्रज वणिक्पथ प्रचारान्वारिस्थलपथ-पण्यपत्तनानि च निवेशयेत्। कौ. २।१।२१

व्यवस्था हो सकती है। इसीलिए आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में नगरों के निर्माण पर भी बल दिया है और उत्पादित सामग्री को दूर-दूर देशों में पहुँचाने के लिए नगरों का निर्माण नदियों के तटों पर माना है। जल की समस्या, यातायात की समस्या उत्पादित वस्तुओं की विक्री की समस्या नगर निर्माण के द्वारा ही हल हो सकती है। जैसा कि कौटिल्य अर्थशास्त्र में बताया गया है :—

"जनपद के मध्य में अर्थ आदि उत्पत्ति के स्थान (स्थानीय) विशाल-विशाल नगरों का राजा निर्माण करें।"[1]

कैसे स्थानों में नगरों का निर्माण होना चाहिये :—इस पर आचार्य कौटिल्य ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है :—

"वास्तु कला के जानकार जिन स्थानों को अच्छा बतायें और नदी के संगम पर, बड़े-बड़े जलाशयों के किनारे, वे नगर स्थान के अनुकूल गोल, आकार में लम्बे, चौकोर ढंग पर बसाना चाहिये। उन नगरों के चारों ओर पानी की व्यवस्था होनी चाहिये, वस्तुओं के क्रय विक्रय का प्रबन्ध एवं जल, स्थल मार्गों की व्यवस्था भी होनी चाहिये।"[2]

आधुनिक नगर निर्माण शैली पर प्राचीन काल में आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करने के लिये नगरों का निर्माण होता था।

नगर की सुरक्षा एवं उन्नति के लिए समाहर्ता के समान **'नागरिक'** नाम के अधिकारी को नगर का प्रबन्ध करना चाहिये। **'समाहर्ता'** जिस प्रकार समस्त जनपद की चिन्ता करता है ठीक उसी प्रकार नागरिक को भी नगर की उन्नन्ति के विषय में चिन्ता करनी होती थी :—

"समाहर्ता के समान नागरिक नगर की उन्नति की चिन्ता करें।"[3]

समाहर्ता जनपद के चार विभाग करके गोप और स्थानिक की सहायता लेकर नगर का प्रबन्ध नागरिक भी करे।

---

१. जनपदमध्ये समुदयस्थानं स्थानीयं निवेशयेत्। कौ. २।३।४

२. वास्तुकप्रशस्ते देशे नदीसंगमे ह्रदस्य वाविशोषस्याङ्के सरसस्तटाकस्य वा वृत्तं दीर्घं चतुरश्रं वा वास्तुकवशेन प्रदक्षिणोदकं पण्यपुटभेदनमंस-वारिपथाभ्यांमुपेतम्॥ कौ. २।३।५

३. समाहर्तृवन्नागरिको नगरं चिन्तयेत्। कौ. २।३६।१

सन्निधाता (कोषाध्यक्ष) और उनके कार्य :—

शासन के संचालन के लिए धन की नितान्त आवश्यकता होती है। अतः धन का संचय कैसे हो और कौन उस धन का संचय करेगा ? राज्य की सुरक्षा के लिए निम्नलिखित वस्तुओं का प्रबन्ध करना सन्निधाता का कार्य है।

सन्निधाता (कोषाध्यक्ष) कोषगृह, पण्यगृह[1] कोष्ठागार,[2] कुप्यगृह,[3] आयुधागार,[4] और बन्धनागार[5] का निर्माण करावें।[6]

शासन को चलाने के लिए सर्वप्रथम अर्थ की आवश्यकता है। शासन को अर्थ को एकत्र कर अपने 'कोष' की व्यवस्था करनी चाहिये। कोष राष्ट्र के लिए मुख्य है। कोष के बिना राष्ट्र का कोई भी कार्य नहीं हो सकता। जिस शासक के पास कोष नहीं वह अपनी जनता, सेवक और राज्य को कभी भी स्थिर नहीं रख सकता। कोष पर ही राष्ट्र का समस्त कार्यभार है। कोष के बिना शासन का कोई भी कार्य नहीं चल सकता है। जैसा कि आचार्य कौटिल्य ने कहा है :—

"सब कार्यों का प्रारम्भ कोष पर ही आश्रित है।"[7] कोष की सुरक्षा और वृद्धि के लिए योग्य प्रशासक को सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये। कोष के सुरक्षित और समृद्ध रहने पर राष्ट्र की स्थिति सभी दृष्टि से अच्छी रहती है।

"अतः सर्व प्रथम कोष की वृद्धि और सुरक्षा पर ध्यान दें।"[8]

कोष का महत्त्व :—

कोष को शासन के संचालन के लिए मुख्य और परमावश्यक माना गया है। यदि शासक के पास कोष है तो सैनिक शक्ति आदि प्राप्त की जा सकती है। जैसा कि आचार्य कौटिल्य ने भी माना है :—

"कोष की वृद्धि खानों पर आश्रित है। कोष के कारण ही शासन को

---

१. राजकीय वस्तुओं का विक्रय केन्द्र। २. खाद्य वस्तुओं का भण्डार।
३. खानों से निकलने वाली वस्तुओं का घर। ४. अस्त्र-शस्त्रों का भण्डार
५. कारागार-जेल।
६. सन्निधाता कोषगृहं पण्यगृहं कोष्ठागारं कुप्यगृहमायुधागारं बन्धनागारं च कारयेत् ॥ कौ० २।५।१
७. कोषपूर्वाः सर्वारम्भाः ॥ कौ० २।८।१
८. तस्मात्पूर्वं कोषमवेक्षेत। कौ० २।८।२

चलाने के लिए सेना एकत्रित की जा सकती है। अर्थ से भरी हुई पृथ्वी कोष और सेना के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है।"[१]

कोष का महत्त्व बताते हुए राज्य की सुरक्षा और उन्नति के लिए कोष को मुख्य माना है। कोष के बिना प्रशासक कोई भी कार्य नहीं कर सकता है। राजा के पास पर्याप्त कोष रहने से किसी प्रकार की भी चिन्ता नहीं रहती है। कोष के साथ ही साथ यदि कोष का उचित संग्रह और उचित प्रयोग करने वाले व्यक्ति मिल जायें तो फिर कहना ही क्या है एवं शासन अति सुचारू रूप से चल सकता है। इस प्रकार कोषवान् व्यक्ति से सभी भयभीत रहते हैं। कोष की शक्ति सबसे बड़ी शक्ति होती है। कोष की शक्ति के पश्चात् ही संसार की समस्त शक्तियां स्वतः प्राप्त हो जाती हैं और कोष वाला अपने को सभी दृष्टियों से सम्पन्न, प्रसन्न और निश्चिन्त पाता है। कोष के पर्याप्त संग्रह से कठिन से कठिन कार्य को भी मनुष्य कर सकता है। अतः कोष को राज्य का मेरुदण्ड माना गया है।

"कोषाध्यक्ष को कोष में प्रवेश करने योग्य रत्नों को, सार को, फल्गु को, कुप्य को तथा उनके जानकार विशेषज्ञ पुरुषों के द्वारा परीक्षित करके ही ग्रहण करें।"[२]

यदि राजा के पास कोष है तो वह अपने राष्ट्र की सुरक्षा के लिये बहुत बड़ी सेना तैय्यार कर सकता है। अतः "कोष को ही दण्ड (सेना) का मूल माना गया है।"[3]

"कोष के अभाव के कारण (दण्ड) सेना शत्रु पक्ष से मिल जाती है।"[४]

"कोष के अभाव में सेना अपने स्वामी को ही मार देती है।"[५] अर्थ के बल पर सभी वश में हो जाते हैं।

"कोष को ही धर्म और काम का कारण माना गया है।"[६]

---

१. आकर प्रभवः कोषः कोषाद्दण्डः प्रजायते।
पृथिवी कोषदण्डाभ्यां प्राप्यते कोषभूषणा॥ कौ० २।१२।४९

२. कोषाध्यक्षः कोषप्रवेश्यं रत्नं सारं फल्गु कुप्यं वा तज्जातकरणाधिष्ठितः प्रतिगृह्णीयात्। कौ० २।११।१

३. कोषमूलो हि दण्डः। ४. कोषाभावे दण्डः परं गच्छति। कौ० ८।१।४७-४८

५. स्वामिनं वा हन्ति। सर्वाभियोगकरश्च॥ कौ० ८।१।४९-५०

६. कोषो धर्मकाम हेतुः। कौ० ८।१।५१

कोष के क्षय के कारण :—कोष को राज्य का आधार माना गया है किन्तु उसका अनुचित प्रयोग करने पर क्षय भी हो सकता है। उस कोष क्षय को आठ प्रकार का माना गया है :—

१ प्रतिबन्ध २—प्रयोग ३—व्यवहार ४—अवस्तार ५—परिहायण ६—उपभोग ७—परिवर्तन ८—अपहार।[1]

१—प्रतिबन्ध :—कोष की वृद्धि उद्योग या कर द्वारा ही हो सकती है किन्तु कर संग्रह करने वाला अधिकारी यदि एकत्रित धन को कोष में न जमा करे तब उसे प्रतिबन्ध कहते हैं। इस प्रकार के व्यवहार को क्षयकारक मान-कर प्रतिबन्ध नाम दिया गया है।

२—प्रयोग :—कोष के द्रव्य को अपनी वृद्धि के लिए प्रयोग करना 'प्रयोग' कहलाता है।

३—व्यवहार :—कोष के द्रव्य को व्यापार के कार्य में अपने लाभ के लिए लगाना 'व्यवहार' कहलाता है।

४—अवस्तार :–राज्यकर ग्रहण करने वाला अध्यक्ष समय पर कर ग्रहण न करे अपने स्वार्थ के लाभ से कर का समय टालता रहे या धन प्राप्ति के उद्देश्य से प्रजाजन से ऐसा चाहे। अतः इसे 'अवस्तार' कहते हैं।

५—परिहापण :—आय को कम करके और व्यय को अधिक करके दिखाने को 'परिहापण' कहते हैं। यह कोष को क्षय करने के कारण हैं। ये सब कारण कुप्रबन्ध और व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण उपस्थित होते हैं।

६ - उपभोग :—स्वयं और अपने अन्य मित्रों द्वारा राज के द्रव्य को उपभोग करना 'उपभोग' कहलाता है।

७—परिवर्तन :—राज्य के कर अधिकारी जब राज्य के द्रव्यों को अपने लाभ के कारण मूल्यवान् को कम मूल्य में बदल देते हैं तब उसे 'परिवर्तन' कहते हैं।

८—अपहार :—राज्य से प्राप्त आय को कोष में जमा नहीं करता और नियत व्यय करने की धनराशि को व्यय नहीं करता एवं प्राप्त की हुई आय को स्वीकार नहीं करता उसे 'अपहार' कहते हैं।

राज्य कोष को हानि पहुँचाने वाले कारणों को आचार्य कौटिल्य ने चालीस प्रकार का माना है। राज्य के कर अधिकारी किस प्रकार राज्य करों से चोरी

---

१. प्रतिवन्धः प्रयोगो व्यवहारोऽवस्तारः परिहापणमुपभोगः परिवर्तमपहारश्चेति कोषक्षयः कौ० २।८।४

करते हैं, धन कमाते हैं और लाभ उठाते हैं। उनका कौटिल्य ने विवेचन करते हुए अधिकारियों द्वारा कोष से अर्थ का अपहरण करने से सावधान रहने को दिखाया। यहाँ तक कि कौटिल्य ने प्रजाजन के हितों का ध्यान रखते हुए कोष के धन का दुरुपयोग करने वाले या प्रजाजन को कष्ट देने वाले अधिकारियों को दण्ड देने की व्यवस्था भी दी है।

जैसे:—राजा सम्पूर्ण जनपद में यह घोषणा कर दे कि अमुक अधिकारी यदि किसी को दुख देकर धन ले तो उसकी सूचना यहाँ आकर देवें।[1]

इस प्रकार के उद्धरणों से प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक आचार्य कौटिल्य की अर्थ संग्रह करने की नीति एवं अर्थ विभाग में कार्य करने वाले अधिकारियों की लोभी प्रवृत्तियों पर नियंत्रण पाने के लिये अनेक प्रकार के उपाय बताये हैं। उनके द्वारा प्रजा वर्ग का शोषण न हो अतः प्रजाजन को अपने कष्टों को सुनवाने एवं अधिकारियों के अत्याचारों को निष्पक्ष भाव से जाँच कराने का राज्य की ओर से अधिकार दिया हुआ था।

संकटों से पार पाने के लिए राजाओं को अधिक कोष संग्रह करना चाहिये :—

कोष वस्तुतः प्रजा की रक्षा का मूल कारण है। कोष के बल पर ही राजा किसी योजना को चलाता हुआ अपने देश के अधिक से अधिक लोगों को जीविका-रोजगार दे सकता है। अधिक कोष कैसे संग्रह किया जायेगा?

"जब राजा का कोष कम होने लगे अथवा अकस्मात् अर्थ कष्ट के उपस्थित होने पर कोष को एकत्रित करे। बड़े जनपदों एवं छोटे जनपदों से, जहाँ अत्यधिक धान होता है उनसे तीसरे चौथे भाग अन्न की याचना करें।'[2]

राज्य के व्यवहार को चलाने के लिए मुद्रा का महत्व:—

वस्तु विनिमय का स्थान तभी सिक्कों के रूप में परिणित हो पाता है जब समाज की आर्थिक स्थिति अत्यन्त उन्नति पर पहुंच जाती है। आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अध्ययन करने एवं मौर्य साम्राज्य की विकसित आर्थिक स्थिति को देखने से विदित होता है कि प्रजाजन अत्यन्त सम्पन्न और सुखी थे। राज्य में व्यावहारिक कार्यों में अर्थ का स्थान 'मुद्रा' ले चुकी थी।

---

१. प्रचारे चावघोषयेत् अमुना प्रकृतेनोपहताः प्रजापयन्त्विति कौ० २।८।६५

२. कोषमकोषः प्रत्युत्पन्नार्थ कृच्छ्रः संगृह्णीयात्। जनपदं महान्तमल्पप्रमाणं वा देवमातृकं प्रभूतधान्यं धान्यस्यांशं तृतीयं चतुर्थं वा याचेत ॥ कौ० ५।२।१-२

लोगों में अपने उपार्जित अर्थ के प्रति अविश्वास, भय और धोखे की भावनायें न आयें। अतः उनके अर्थ का सही मूल्यांकन हो इसलिये मूल्यवान् धातुओं को सिक्कों के रूप में परिवर्तित किया गया था। सभी धातुओं में अति प्राचीन काल से 'स्वर्ण' को मूल्यवान् माना गया है। आचार्य कौटिल्य ने सिक्कों के निर्माण के विषय में इस प्रकार वर्णन किया है :—

"मुद्रा"-सिक्कों के जानकार पारखियों द्वारा सिक्कों की शुद्धता को जानकर हिरण्य (सुवर्ण) को ग्रहण करे।"[1]

मुद्राओं के विशेषज्ञ एवं स्वर्ण के जानकार व्यक्तियों के द्वारा ही सिक्कों के निर्माण पर विशेष ध्यान रखा जाता था। उन्हें विशुद्ध स्वर्ण को ग्रहण कर राज्य के व्यवहार चलाने के लिए सिक्कों का निर्माण करना चाहिये। अर्थ ने स्वर्ण या चांदी के रूप में अपना आकार ग्रहण किया है। अतः उसे रूप कहा गया है। इस प्रकार अर्थ के रुप, स्वर्ण के दर्शक-देखने वाले पारखी सिक्कों क निर्माण के लिये स्वर्ण को प्रतिग्रहण करें। 'रूप दर्शक' शब्द का यहां प्रयोग हुआ है, यहां रूप दर्शक उस व्यक्ति को माना गया है जो राजा की ओर से राजकीय मुद्रा एवं बहुमूल्य मणियों के शुद्ध (खरे) अशुद्ध (खोटे) की पहचान करने वाला होता है।

राज्य में मुद्राओं के प्रचलन हो जाने के पश्चात् कुछ लोगों के मन में राज्य के सिक्कों के समान ही स्वार्थ की भावनाओं से कृत्रिम (नकली) सिक्कों को प्रचलित करने की भावनायें आ जाती हैं। अतः "अशुद्ध स्वर्ण वाले सिक्कों को काट देना चाहिये।"[2] इसके साथ ही साथ कई बार सिक्कों के निर्माण करती बार कुछ सिक्के मिश्रित स्वर्ण के या कृत्रिम भी बन सकते हैं क्योंकि स्वर्ण गलाती बार शुद्ध स्वर्ण और अशुद्ध स्वर्ण का ज्ञान हो ही जाता है ऐसी परिस्थिति में अशुद्ध स्वर्ण के सिक्कों का निर्माण करने वाले अधिकारी को कटवा देना चाहिये। जिससे जनता में ऐसे सिक्कों का प्रचलन न हो और कृत्रिम सिक्के एवं टकसाल कोई न बना सके।

"यदि कोई व्यक्ति किसी प्रकार कृत्रिम स्वर्ण के सिक्के लेकर आ ही जाये तो उसे उसके इस दुस्साहस का दण्ड मिलना चाहिये।[3] जिससे जनता ऐसे

१. रूपदर्शक विशुद्धं हिरण्यं प्रति गृह्णीयात्। कौ २।५।१२

२. अशुद्धं छेदयेत्। कौ० २।५।१३

२. आहर्तुः पूर्वः साहसदण्डः। कौ० २।५।१४

कार्यों के प्रति रुचि ही न ले। अतः राज्य में ऐसे कार्यों को करने का भविष्य में किसी को साहस ही नहीं होगा।

अर्थ रूपी माया को देखकर बड़े-बड़े लोगों का मन भी विचलित हो जाता है। फिर कोष में काम करने वाले अधिकारियों का मन क्यों नहीं विचलित होगा। अतः यदि "कोषाधिकारी कोष का अपहरण करता है तो उसे प्राण दण्ड देना चाहिये।"[1]

एक उच्च पद अथवा राष्ट्र के उत्तरदायित्व पूर्ण स्थान पर कार्य करता हुआ व्यक्ति यदि व्यक्तिगत स्वार्थ हेतु ऐसा अपने पद का दुरुपयोग करता है तो उसको आचार्य कौटिल्य ने प्राण दण्ड देना इसलिए आवश्यक माना है कि जिससे इस कठोर दण्ड से उत्तरदायित्वपूर्ण स्थानों पर कार्य करने वाले अन्य व्यक्ति भविष्य में ऐसा राष्ट्र विरोधी कार्य करने की भावनाएँ ही कभी मन में न ला सकें। मनुष्य दो कारणों से ही अपना कार्य निष्ठावान् होकर करता है।

१—या तो उसके हृदय में राज्य या राष्ट्र के प्रति प्रेम हो।

२—या वह शासन के कठोर और निष्पक्ष नियमों से डरता हो।

जिस राष्ट्र में इस प्रकार नियमों में कठोरता और चरित्र में पवित्रता होगी वह राष्ट्र क्यों नहीं अपनी आर्थिक उन्नति करेगा। इस प्रकार के उद्धरणों से यह भी प्रतीत होता है कि उस युग में देश में बहुमुखी आर्थिक विकास रहा होगा। जनता में भी लोगों का आर्थिक स्तर इतना उन्नत था कि उन्हें नौकरी करते हुए इस प्रकार राष्ट्र की सम्पत्ति को अपहरण करने की आवश्यकता ही नहीं होती थी, किन्तु यदि किसी अर्थलोलुप अधिकारी के मन में ऐसा विचार आ जाये तो अच्छे शासक को उसे सही दण्ड देकर राज्य की शासन व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिए ऐसा करना ही पड़ता था।

मुद्रा एवं मुद्रास्फीति—प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों के आर्थिक सिद्धान्तों का अध्ययन करने पर एवं व्यवहार को चलाने वाली वस्तु 'मुद्रा' पर ध्यान देने से पता चलता है कि उस युग में बहुमूल्य धातुएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो जाती थीं और सिक्कों का निर्माण सुरक्षा, स्थिरता एवं जनता को उसके अवमूल्यन होने का भय नहीं रहता था। क्योंकि बहुमूल्य धातु सुवर्ण से इन सिक्कों का निर्माण होता था। प्रत्येक व्यक्ति को अपने उपार्जित धन का वास्तविक मूल्य मालूम था। सिक्के स्वर्ण के थे अतः उनके 'अवमूल्यन'

१. कोषाधिष्ठितस्य कोशाच्छेदे घातः। कौ० २।५।१९

एवं 'स्फीति' का प्रश्न ही नहीं उठता था। यदि स्वर्ण के सिक्कों का प्रचुर मात्रा में भी प्रसार हो जाता था तो कोई हानि नहीं होतीं थी अपितु इससे तो राष्ट्र की समृद्धि का ज्ञान होता था कि राष्ट्र के पास अथाह अर्थ सम्पदा है।

कागजी नोटों के आधुनिक युग में शासक अपनी योजनाओं को क्रियान्वित कराने और नौकरशाही को भ्रष्टाचार करने एवं व्यापारी वर्ग के मनमाना भाव बढ़ाने पर नियन्त्रण तो नहीं पा सकता किन्तु अपनी अर्थ सम्पन्नता दिखाने के लिए कागज के नोटों को छापकर वेतनवृद्धि करके कर्मचारीतन्त्र एवं व्यापारी वर्ग को कुछ दिन तक खुश कर ही सकता है। इस प्रकार मुद्रास्फीति होने से प्रचलित मुद्रा का अवमूल्यन, वस्तुओं के मूल्यों में मंहगाई, वितरण व्यवस्था में असमानता शासन में अस्थिरता, उत्पादन में कमी और प्रजा में अशान्ति एवं शासक वर्ग में किंकर्तव्यमूढ़ता आ जाती है। मुद्रास्फीति से राष्ट्र के अनुमानित बजट पर सबसे बुरा प्रभाव पड़ता है। क्योंकि वस्तुओं की मूल्यवृद्धि से अनुमानित व्यय अत्यधिक बढ़ जाता है और ऐसी मुद्रास्फीति की दशा में राष्ट्र की उन्नति की बड़ी-बड़ी योजनाओं में कटौती करनी पड़ती है। इस कटौती से बेरोजगारी एवं करवृद्धि में बढ़ोत्तरी आती है और प्रजा दुखी हो जाती है।

प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों ने इस 'मुद्रास्फीति' का विशेष ध्यान रखा था जिसके कारण राष्ट्र को कभी भी आज के संसार की भाँति 'मुद्रास्फीति' की समस्या न देखनी पड़ती थी। अर्थ राष्ट्र की सुरक्षा, व्यवस्था और संगठन के लिए अत्यावश्यक है। आर्थिक व्यवस्था न गड़बड़ाये अतः मूल्यनियन्त्रण, वस्तु वितरण और मुद्रा के निर्माण कार्य में बड़ी सतर्कता और दूरदर्शिता से काम लिया गया है। व्यक्ति के स्वार्थ को नहीं अपितु राष्ट्र के हित को वे प्रधानता देते थे।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक विकास की दृष्टि से कागज की मुद्रा के प्रचलन को अच्छा माना है। विकास के साथ-साथ साधनों का विकसित होना भी आवश्यक माना जाता है। विज्ञान की उन्नति ने मानव को नवीन प्रयोगों द्वारा विकासशील बनाया है।

कागज की मुद्राओं का लाभः—आर्थिक विकास के लिए अर्थशास्त्रियों ने कार्य की सुगमता, व्यर्थ का भार वहन करने के लिए, मार्ग की सुरक्षा दूर-दूर देशों में व्यापार करने के ध्येय से लेन-देन में सुगमता के उद्देश्य से एवं बैंकिंग व्यवस्था के विकसित होने पर कागज की मुद्रा को अत्यन्त लाभप्रद माना है। चाँदी और सुवर्ण की मुद्रा आधुनिक वैज्ञानिक युग में भार उठाने, चोरी के

भय से एवं आर्थिक विकास में बाधक माने गये हैं। इसलिए कागज के रूप में उन्हें संसार के समस्त आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने अपनाया है।

कागज के रूप में मुद्रा का प्रचलन होने से जहाँ अधिक लाभ है वहाँ 'मुद्रा स्फीति' में शत्रु देश नकली मुद्रा का प्रचलन कर देश की आर्थिक स्थिति में बहुत बड़ी बाधा भी उपस्थित कर देते हैं। वास्तव में यदि नकली सिक्के का भी प्रचार शत्रु देश करता है तो उसमें कुछ न कुछ अंश में सोना चाँदी तो रहता ही है किन्तु कागजी नोटों के छापने में शत्रु देश को केवल कागज में ही पैसा लगता है। शत्रु के देश में करेन्सी नोटों का अधिक प्रचलन तो किया ही जाता है और शत्रु के देश में मुद्रास्फीति जैसी अशान्ति तो बनाई ही जा सकती हैं। मुद्रास्फीति की स्थिति में या तो सरकार अपनी योजनाओं में कटौती करती है या अपने देश में उन प्रचलित करेंसी नोटों को बंद करती है जिनको लोग प्रचुर मात्रा में लेकर धनवान् बने बैठे हैं। मुद्रा स्फीति की स्थिति में खाद्य वस्तुओं की मूल्य वृद्धि पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। जिससे राष्ट्र की विकास की योजनायें मन्द पड़ जाती हैं और खाद्य समस्या जटिल हो जाती है।

राष्ट्र के हित में मुद्रास्फीति कष्टप्रद है और व्यक्ति के हित में घातक है। जिसका दुष्प्रभाव दोनों को तत्काल नहीं दिखता। मुद्रास्फीति से शासक की, व्यवसायी और साधारण जनता की स्थिति अत्यन्त भयावह हो जाती है। सरकार मुद्रास्फीति से परेशान और अपने बढ़े हुए खर्चों में कटौती की चिन्ता में, व्यवसायी नोटों के परिवर्तन होने की चिन्ता एवं अवमूल्यन से भयभीत और साधारण जनता महंगाई से दुखी हो उठती है। मुद्रास्फीति का सभी पर बुरा प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता है।

प्राचीन भारत में भारतीय अर्थशास्त्रियों की दूरदर्शिता, बुद्धिमत्ता एवं सच्चे आर्थिक विचारक होने के कारण ऐसी स्थितियां नहीं देखी गई हैं।

सन्निधाता (कोषाध्यक्ष) कैसा व्यक्ति होना चाहिए ?

सन्निधाता पद पर कार्य करनेवाले व्यक्ति को हिसाब किताब रखने के कार्य में कुशल और धन का महत्व समझने वाला होना चाहिए। सन्निधाता अर्थ को एकत्रित कर उसका सही भुगतान सही व्यक्तियों को करे। किसी प्रकार भी धन का दुरुपयोग न होने दे। आचार्य कौटिल्य ने भी इस प्रकार लिखा है:—

सन्निधाता ऐसा व्यक्ति होना चाहिये जो अपने देश की आर्थिक स्थिति को दृष्टि में रखता हुआ" बाह्य (बाहर-जनपद) से होने वाली और आभ्यन्तर (नगर)

से होने वाली आय को अच्छी प्रकार समझे। उसकी स्मरण शक्ति इतनी तीव्र होनी चाहिए कि यदि उसे सौ वर्ष की आय के विषय में पूछा जाये तो वह तत्काल उसका हिसाब बता दे। बही खाते में आय व्यय का लेखा जोखा स्पष्ट रूप से रखे"।[१]

राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ करने में समाहर्ता का स्थान:

राज्य के अर्थ का उचित और सही प्रयोग करनेवाला जैसे सन्निधाता—कोषाध्यक्ष होता है। ठीक उसी प्रकार उचित रीति से अर्थ को एकत्रित करने वाला अधिकारी **'समाहर्ता'** होता था। राज्य की आय के स्रोतों से आय संग्रह कर कोष में जमा करने वाले व्यक्ति को समाहर्ता कहते हैं। कुछ लोग अर्थ एकत्रित करने के कारण समाहर्ता को कलेक्टर भी कहते हैं। अर्थ प्राप्ति के साधनों को अच्छी प्रकार निरीक्षण कर प्रजाजन से कर संग्रह करता है। आय के साधनों से अर्थ एकत्रित कर कोष में जमा करना समाहर्ता का कार्य है।

अर्थ प्राप्ति के साधन एवं कर व्यवस्था :—

"समाहर्ता दुर्ग, राष्ट्र, खनि, सेतु, वन, व्रज एवं वणिक् पथ को अच्छी प्रकार से देखे"।[२]

शासक अपनी प्रजा की सुख सुविधा के लिए पूर्ण प्रयास करता है और प्रजाजन भी राज्य की सुरक्षा के लिए 'कर' देकर राष्ट्र को समुन्नत करने में योगदान देते हैं। 'कर व्यवस्था' राज्य की आय का मुख्य साधन होती है। थोड़ी-थोड़ी नियमित कर की आय के अर्थ से राज्य का कोष भर जाता है और राज्य एवं प्रजा की आर्थिक स्थिति अत्यन्त अच्छी हो जाती है।

ऊपर वर्णित दुर्ग, राष्ट्र आदि सात स्थान कर व्यवस्था द्वारा आय प्राप्ति के साधन हैं। यद्यपि इन सातों का शाब्दिक अर्थ कुछ और है किन्तु पारिभाषिक रूप से अर्थ कुछ और ही अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। प्रजा जनको कार्य देने एवं शासन का कार्य शीघ्रता से सम्पादित करने के लिये अनेक विभागों का संचालन किया गया था।

ऊपर वर्णित सात दुर्ग, राष्ट्र, आदि का अर्थ और उनके द्वारा अनेक

---

१. बाह्यमाभ्यन्तरं चार्थं विद्याद्वर्षदपि।
यथा पृष्टो न सज्येत व्ययशेषं च दर्शयेत्॥ कौ० २।५।२४

२. समाहर्ता दुर्गं राष्ट्रं खनिं सेतुं वनं व्रजं वाणिक्पथं चावेक्षेत। कौ० २।६।१

विभागों द्वारा होने वाले आर्थिक लाभ का पृथक् रूप से इस प्रकार विस्तृत विवेचन किया जा रहा है।

१—अर्थ संग्रह में 'दुर्ग' शब्द का तात्पर्य : राज्य से अनेक प्रकार से कर प्राप्त कर राज्य की आर्थिक व्यवस्था उन्नत की जाती है—बाईस प्रकार के उपायों द्वारा राज्य से लिया जाने वाला कर के रूप में प्राप्त होने वाले धन को 'दुर्ग' कहते हैं। वैसे दुर्ग साधारणतया किले के अर्थ में राष्ट्र की रक्षा के निमित्त हुआ है। यहाँ पर भी आर्थिक दृष्टिकोण से राष्ट्र के आर्थिक विकास के हेतु अनेक रूपों में अर्थ आता है और उस अर्थ से ही दुर्ग की भाँति राष्ट्र की सुरक्षा और उन्नति की जाती है।

शुल्क[1], दण्ड[2], पौतव[3], नगराध्यक्ष, लक्षणाध्यक्ष[4], मुद्राध्यक्ष[5], सुरा, सूना[6], सूत्र, तेल, क्षार,[7], सौवर्णिक[8], पण्यसंस्था[9], वेश्या, द्यूत, वास्तुक[10], कारु[11], शिल्पिगण, देवताध्यक्ष[12], द्वारपाल, नट आदि से राजकर के रूप में प्राप्त होने वाले धन को 'दुर्ग' नाम दिया गया है।[13]

२—राष्ट्र—राज्य से 'कर' प्राप्ति के इस द्वितीय उपाय को 'राष्ट्र' नाम से सम्बोधित किया गया है। राष्ट्र वैसे देश के लिए प्रयुक्त होता है किन्तु यहाँ पर राष्ट्र के मुख्य जीविका के साधन रूपी चीजों और उनसे प्राप्त होने वाले राज्य से 'कर' के रूप में उपलब्ध होने वाले धन को 'राष्ट्र' नाम दिया गया है। जैसे :—

सीता[14], भाग[15], बलि[16], कर[17], वणिक्, नदीपाल, तर[18], नाव[19], पट्टन[20],

---

१. कर २. आर्थिक दण्ड से प्राप्त धन ३. बाट-तराजू द्वारा प्राप्त धन ४ खेत, उद्यान आदि से प्राप्त धन, ५. राजकीय मुहर ६. प्राणियों के वध ७. गुड़ आदि, ८. स्वर्णकार, ९. व्यापार प्रतिष्ठान (दुकाने), १०. भवन निर्माण करने वाले मिस्त्री, ११. बढ़ई, १२. देवतालयों के अध्यक्ष।

१३. शुल्कं दण्ड पौतवं नागरिको लक्षणाध्यक्षो मुद्राध्यक्षः सुरा सूना सूत्रं तैलं घृतं क्षारं सौवर्णिकः पण्यसंस्था वेश्या द्यूतं वास्तुकं कारुशिल्पिगणो देवताध्यक्षो द्वारबाहिरिकादेयं च दुर्गम् ॥ कौ० २।६।२

१४. कृषि १५. अन्न का भाग १६. उपहार से प्राप्त धन १७. वृक्ष तथा फल से प्राप्त धन १८. नदी का पार करने का कर, १९. नौकाध्यक्ष द्वारा प्राप्त होने वाला धन, २०. गाँवों से प्राप्त धन,

विवीत[1], वर्तनी[2], रज्जू[3], चोररज्जू, आदि राज्य की आय के साधनों को राष्ट्र कहते हैं।[5]

३—खनि (खानों) से प्राप्त होने वाला आर्थिक लाभः—खनि शब्द का प्रयोग खानों के लिए हुआ है। राज्य को खानों से अत्यधिक लाभ होता है। खानों से अनेक वस्तुओं की प्राप्ति होती है। जिस राष्ट्र में जितनी अधिक वस्तुओं की खाने होंगी वह राष्ट्र उतना ही अधिक सम्पन्न और समृद्ध होगा। आधुनिक युग में भी खानों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। तेल, लोहा, कोयला और नमक आदि औद्योगिक युग के लिए परमावश्यक हैं जो खानों से ही उपलब्ध होते हैं। प्राचीन काल में भी आचार्य कौटिल्य ने राज्य की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए 'खनि' को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना है। आय प्राप्ति के साधनों में 'खनि' को आवश्यक माना गाया है। जैसे :—

'सुवर्ण, चांदी, वज्र, मणि, मोती, मूंगा, शंख, लोह, लवण, भूमि, पत्थर रस (तेल आदि) धातु आदि खानों से निकलने वाली सामग्री को 'खनि' नाम से सम्बोधित किया गया है।'[6]

४—'सेतु' शब्द का क्या तात्पर्य हैः—फूल, फलों के उद्यान, केला, सुपारी, हल्दी, अदरख आदि सामग्री के उत्पत्ति के स्थान को, सेतु, कहते हैं।[7]

५—वन किसे कहते हैंः—पशु, मृग, दव्य[8] हस्तिवन आदि आय के साधनों को वन शब्द से सम्बोधित किया जाता है।[9]

६—व्रज शब्द के क्या प्रयोजन हैंः—गाय, भैंस, बकरी, भेड़, गधा, ऊँट, अश्व, खच्चर आदि पशुओं को 'व्रज' नाम दिया गया है।[10]

---

१. चरागाह से प्राप्त होने वाला धन २. यातायात के मार्गों द्वारा प्राप्त धन,
३. भूमि को नापने वालों से प्राप्त धन।
४. ग्रामवासियों द्वारा चोरों को पकड़ने के ध्येय से दिया हुआ धन।
५. सीता भागो बलिः करो वणिक् नदीपालस्तरो नावः पट्टनं विवीतं वर्तनी रज्जूश्चोररज्जूश्च राष्ट्रम्॥ कौ. २।६।३
६. सुवर्णरजतवज्रमणिमुक्ताप्रवालशंख लोह लवण भूमि प्रस्तर रसधातवः खनिः। कौ. २।६।४
७. पुष्पफलवाटषण्डकेदारमूलवापाः सेतुः। कौ. २।६।५
८. मूल्यवान् अनेक प्रकार की लकड़ी।
९. पशुमृगद्रव्यहस्तिवन परिग्रहो वनम्। कौ. २।६।६
१०. गोमहिषमजाविकं खरोष्ट्र मश्वाश्वतराश्च व्रजः। कौ. २।६।७

७—वणिक्पथ किसे कहते हैं ?—स्थलमार्ग और जल मार्ग को वणिक्पथ कहते हैं।[1]

इन सभी को आय का शरीर भी कहते हैं।[2]

जिस प्रकार मनुष्य अपने शरीर के स्वस्थ अथवा ठीक न रहने पर कोई भी कार्य नहीं कर सकता, ठीक उसी प्रकार पूर्व वर्णित सात वस्तुओं १—दुर्ग २—राष्ट्र ३—खनि ४—सेतु ५—वन ६—व्रज ७—वणिक्पथ को अर्थ प्राप्ति के लिए आय का शरीर माना गया है। अर्थ इन्हीं उपायों से एकत्रित होगा और राष्ट्र रूपी शरीर परिपुष्ट होकर विकास की ओर उन्मुख होगा। अतः इन्हें आय का शरीर माना गया है।

आप के शरीर का वर्णन करते हुए आचार्य कौटिल्य ने शरीर के विकास के लिए जिस प्रकार मुख के द्वारा ही पौष्टिक वस्तुओं का उपभोग करने पर ही परिपुष्टि मानी है, उसी प्रकार निम्नलिखित मार्गों से आने वाले 'अर्थ' को आय का 'मुख' माना है। मुख के विना शरीर कैसे पुष्टिकारक सामग्री को पा सकता है ?

मूल[3] भाग[4] व्याजी[5] परिघ[6] क्लृप्त[7] रूपिक[8] अत्यय[9] ये सात आय के मुख माने गये हैं।[10]

---

१. स्थलपथो वारिपथश्च वणिक्पथः। कौ. २।६।८

२. इत्यायशरीरम्। कौ. २।६।९

३. कृषि से उत्पन्न वस्तुओं का विक्रय करने पर जो धन प्राप्त होता है, उसे 'मूल' कहा गया है।

४. शासक को कृषि से उत्पन्न सामग्री का जो छठा भाग दिया जाता है उसे 'भाग' कहा गया है।

५. व्यापारीवर्ग से बाट, तराजू का उचित प्रयोग न होने एवं तौल में कम तौले जाने पर दण्ड के रूप में प्राप्त बीसवें भाग को 'व्याजी' कहते हैं।

६. राज्यमें जिस वस्तुका कोई उत्तराधिकारी न हो उसे 'परिघ' कहा जाता है।

७. शासक की ओर से जो कर पूर्व से ही निर्धारित किये हुए हैं उन्हें 'क्लृप्त' कहते हैं।

८. नमक के व्यापारियों से लिए जाने वाले आठवें भाग को रूपिक कहते हैं।

९. न्यायालयों द्वारा अपराधियों से अपराध के रूप में लिया जाने वाला धन अत्यय कहलाता है।

१०. मूलं भागो व्याजी परिघः क्लृप्तं रूपिकमत्ययश्चाय मुखं। कौ. २।६।१०

साधाणतया विना आय के संसार का कोई भी व्यक्ति अपना व्यय कैसे चला सकता है। पुनः एक विशाल साम्राज्य के व्यय को चलाना तो उससे भी क्लिष्टतर कार्य है। आय होने पर भी अपने आर्थिक विकास के हेतु व्यय किया जा सकता है। अतः आय प्राप्ति के साधनों पर भी आचार्य कौटिल्य ने पर्याप्त ध्यान रखकर राज्य की आर्थिक स्थिति को अत्यन्त कुशलता और सच्चे अर्थशस्त्री की भाँति संगठित किया है।

अर्थ का राज्य की उन्नति के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है। अन्ततोगत्वा वह अर्थ कैसे और किन साधनों के द्वारा प्राप्त होगा। इस पर आचार्य कौटिल्य ने अपने आर्थिक विचारों में पूर्व वर्णित सात मार्गों द्वारा 'कर' के माध्यम से शासक को अर्थ किस प्रकार एकत्रित करना चाहिये और समाहर्ता 'कर संग्रह' कैसे करे व्यक्त किया है।

"राजा को उद्यान से पके फल के समान, राज्य से कर के रूप में धन लेना चाहिये, कच्चे फल के ग्रहण करने के समान कोष को बढ़ाने वाले कार्यों को छोड़ देना चाहिये।"[1]

पक्के फल को पेड़ से लेने में कष्ट नहीं होता। तनिक परिश्रम करने के पश्चात् वह प्राप्त हो जाता है एवं खाने में सुखादु भी होता है किन्तु कच्चा फल खाने में बेस्वाद और परिणाम में हानिकारक हो सकता है। अतः अच्छे शासक को 'कर' ग्रहण करने में सुगम और जनहित का मार्ग अपनाना चाहिये न कि आतंक छाकर शोषण और प्रपीड़न की नीति से 'कर' ग्रहण करना चाहिये।

शासन को चलाने के लिए शासक को प्रजावर्ग से जहाँ अनेक प्रकार के 'कर' लेकर आयवृद्धि के साधनों का वर्णन किया गया है वहाँ दूसरी ओर राज्य के संगठन, कल्याण और रक्षा के लिए शासक को एकत्रित की हुई आय में से व्यय करना भी अनिवार्य है। वह व्यय किस प्रकार किया जाता है? जैसे :—

देवपूजा, पितृपूजा, दान के निमित्त, स्वस्तिवाचन[2] अन्तपुर, महानस[3] दूतों

---

१. पक्वं पक्वमिवारामात्फलं राज्यादवाप्नुयात्।
आमच्छेदभयादामं वर्जयेत्कोपकारकम्॥ कौ. ५।२।८२

२. शान्ति एवं कल्याण के निमित्त पुरोहितों को दिया जाने वाला धन स्वस्ति-वाचन कहलाता है।

३. भोजनालय पर होने वाला व्यय।

का इधर उधर कार्यों पर भेजा जाना, कोष्ठागार आयुधागार, पण्यगृह, कुप्यगृह, कर्मान्त[2] विष्टि[3] पदाति (पैदल) अश्व, रथ, गज, इस चार प्रकार की सेना पर व्यय, गोमण्डल[4] पशु, मृग, पक्षी और भेड़िया आदि हिंसक पशुओं को रक्षा के स्थान, लकड़ी, तृण, उद्यान आदि ये सभी व्यय के शरीर हैं।[5]

इस प्रकार ऊपर वर्णित चीजों पर शासक का जो व्यय होता है उसे आचार्य कौटिल्य ने व्यय का शरीर कहा है। आय-व्यय का जगत में महत्त्व तो है ही किन्तु अपव्यय को अच्छे अर्थशास्त्रियों ने अत्यन्त बुरा माना है।

आय-व्यय का सन्तुलन यदि व्यवहार कुशल व्यक्ति अच्छी प्रकार रखता है तो उसे कष्ट कम उठाना पड़ता है। यदि आय से अधिक व्यय किया जाता है तो शासक को एवं साधारण व्यवहार को चलाने वाले व्यक्ति को महान् कष्ट उठाने पड़ते हैं। अतः युक्तिपूर्वक आय को दृष्टि में रखते हुए व्यय करने पर ही परम सुख प्राप्त होता है। आय को दृष्टि में रखता हुआ शासक यदि अपने शासन पर व्यय करता है तो उसे कभी संकट का सामना नहीं करना पड़ता।

आय कितने प्रकार की होती है? आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में '**आय**' को तीन प्रकार की माना है। वर्तमान, पर्युषित, अन्य-जात।[6]

१—दैनिक होनेवाली आय को '**वर्तमान**' आय कहते हैं।[7]

२—विगत साम्वत्सर (वर्ष) का न प्राप्त किया हुआ धन, पूर्व आय अधिकारी के द्वारा बाधा में पड़ा हुआ धन, प्राप्त हो जाना और शत्रु के प्रदेश से प्राप्त होने वाला धन '**पर्युषित**' कहलाता है।[8]

---

१. खाद्य वस्तुओं का स्थान,
२. कृषि व्यापार आदि पर किया जाने वाला व्यय।
३. बलात् लिये गये कार्यों पर व्यय। ४ गाय, भैंस, बकरी आदि पर होनेवाले व्यय को 'गोमण्डल' कहते हैं।
५. देवपितृपूजादानार्थं स्वस्तिवाचनमन्तः पुरं महानसं दूतप्रवर्तनं कोष्ठागारमायुधागारं पण्यगृहं कुप्यगृहं कर्मान्तो विष्टिः पत्त्यश्वरथद्विपपरिग्रहो गोमण्डलं पशुमृगपक्षिव्यालवाटाः काष्ठतृणवाटाश्चेति व्यय शरीरम्। कौ० २।६।११
६. वर्तमानः पर्युषितोऽन्यजातश्चायः। ७. दिवसानुवृत वर्तमानः।
८. परमसांवत्सरिकः परप्रचारसंक्रान्तो वा पर्युषितः।
कौ० २।६।१७-१८-१९

३—'विस्मृत' धन का स्मृत हो जाना, अपराधी पुरुषों से दण्ड के रूप में प्राप्त होने वाला धन, कुटिल उपायों एवं अपने प्रभुत्व से प्राप्त धन, युद्ध में शत्रु सेना से प्राप्त धन, और जिस धन का कोई उत्तराधिकारी न हो ऐसा धन **'अन्यजात'** कहा जाता है।[1]

इनके अतिरिक्त आय के और भी पांच प्रकार हैं।

व्यय को कौटिल्य ने कितने प्रकार का माना है ? व्यय चार प्रकार का होता है।

१—नित्य २—नित्योत्पादिक ३—लाभ ४—लाभोत्पादिक

इस प्रकार अर्थ वृद्धि के लिए समाहर्ता को सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये। ऐसा करने से आय की वृद्धि होगी। जैसा कि कौटिल्य का मत है :—

"इस प्रकार बुद्धिमान् समाहर्ता को राज्य धन का संग्रह करना चाहिये और आय की वृद्धि एवं व्यय का ह्रास करके उन्नति करनी चाहिये।"[2]

अर्थ संग्रह करने वाले अधिकारी समाहर्ता को इनका परिपालन करना चाहिये।

समाहर्ता को इन सभी को उचित रूप से व्यवस्था करनी चाहिये। १—करणीय[3] २—सिद्ध[4] ३—शेष ४—आय ५—व्यय और ६—नीवी।[5]

आचार्य कौटिल्य ने समाहर्ता के ही अधीनस्थ एक अक्षपटल अध्यक्ष[6] का भी वर्णन किया है। उसी के निरीक्षण में राज्य का वित्तविभाग अथवा अक्ष-

---

१. नष्टप्रस्मृतमायुक्तदण्डः पार्श्वं पारिहीणिकमौपायनिकं डमरगतकस्वमपुत्रकं निधिश्चान्यजातः कौ० २।६।२०

२. एवं कुर्यात्समुदयं वृद्धिं चायस्य दर्शयेत्।
ह्रासं व्ययस्य च प्राज्ञः साधयेच्च विपर्ययम्॥ कौ० २।६।२८

३. जिन कार्यों को करना समाहर्त्ता के लिए नितान्त आवश्यक है, उन्हें करणीय कहते हैं।

४. जो धन कोष में जमा न हुआ हो, न शासक ने ही लिया हो न प्रजा के कार्य में ही आया हो ऐसे धन को सिद्ध कहते हैं।

५. सब प्रकार से व्यय से बचा हुआ एवं आय-व्यय की समुचित रूप से व्यवस्था किया हुआ धन 'नीवी' कहलाता है।

६. राजकीय आय-व्यय के लेखा-जोखा का निरीक्षण करने वाला अध्यक्ष।

पटल[1] कार्य करता था। राज्य की समस्त आय व्यय की गणना 'गाणनिक्य' करते थे। वित्त के कार्यालय को अक्षपटल कहा गया है। जहाँ अनेक लिपिक राज्य की समस्त प्रकार की आय व्यय का सही-सही लेखा रखते थे। इस कार्यालय में राज्य के सभी आय व्यय होने वाले स्थानों का विस्तृत विवरण पंजिकाओं (रजिस्टर) में अंकित होता था।

इस प्रकार के वित्त सम्बन्धी कार्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ अर्थ को राष्ट्र, व्यक्ति के विकास के लिए और सांसारिक व्यवहार को चलाने के लिए आवश्यक माना गया है वहाँ अर्थ को एकत्रित करने के लिए, जनता के कल्याण के हेतु अनेक प्रकार से प्रयत्न किये गये हैं। अर्थ व्यवस्था को निरीक्षित कर अर्थ को सुव्यवस्थित रूप से संग्रह कर आय वृद्धि करते हुए उचित ढंग पर आय का व्यय के रूप में सदुपयोग किया जाये ऐसा कौटिल्य का विचार है।

अर्थ की उत्पत्ति में आठ बाधक दोष :—अर्थ की प्राप्ति में उद्योग का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है किन्तु कई बार अर्थ की प्राप्ति में ये अवगुण बाधक बन जाते हैं। इनके कारण अर्थ उत्पत्ति में बाधा उपस्थित होती है। अतः इन्हें बाधक कहा गया है। ये आठ माने गये हैं :—१—अज्ञान २—आलस्य ३—प्रमाद ४—काम ५—क्रोध ६—दर्प ७—लोभ ८—परिश्रम से मन चुराना।

अर्थ प्राप्ति के कार्यों में बाधा पहुँचाने वाले व्यक्तियों को दण्ड दिया जाना आवश्यक माना गया है। यदि दण्ड न दिया जाये तो वे अधिक लाभ उठायेंगे और अर्थ प्राप्ति के कार्यों में वे बाधा डालेंगे। प्रायः लोभ की प्रवृत्ति के कारण ही कर्मचारीगण राज्य की आय में बाधा डालते हैं।

अर्थ विभाग के अध्यक्ष चालीस प्रकार से राज्य द्रव्य को हरण कर लेते हैं।[2] अतः शासक को उन चालीस प्रकार की बुराइयों का ज्ञान होना चाहिये। जिससे अर्थ संग्रह एवं कर व्यवस्था में बाधा उपस्थित न हो। इस प्रकार राज पुरुष कर लेकर राज्य के कोष को क्षति न पहुँचाये।

१—पहले प्राप्त हुए 'कर' के धन को दूसरी बार के 'कर' में जमा करना।

२—दूसरी बार प्राप्त होने वाले द्रव्य को पहली पारि के कर में जमा करना।

---

१. राज्य के आय-व्यय का जहां लेखा-जोखा होता हो उसे अक्षपटल कहते हैं।

२. तेषां हरणोपायाश्चत्वारिंशत् ॥ कौ० २।८।१९

३—राज्य कर को रिश्वत लेकर छोड़ देना, कम कर देना या क्षमा कर देना।

४—जो राज्य-कर से मुक्त हैं उन्हें तंगकर कर लेना।

५—कर लेकर भी कर दाता को ना कहना एवं कर प्राप्त करने की पंजिकाओं में न चढ़ाना।

६—कर न देने पर कर दाता से रिश्वत लेकर कर प्राप्ति की पंजिका में दिखा देना।

७—थोड़े से कर को भी रिश्वत लेने पर छोड़ देना।

८—अधिक कर के धन को कम दिखाकर पंजिका में लिखना।

९—जिस मद का कर प्राप्त हुआ है उसे दूसरे मद में पंजिका में दिखाना।[1]

१०—एक पुरुष से प्राप्त 'कर' को दूसरे पुरुष के नाम में अंकित करना।

११ देय वस्तु को न देना १२—अदेय वस्तु को देना।

१३—अपने स्वार्थ के कारण कम देय द्रव्य को अधिक देना।

१४—अधिक द्रव्य देकर कम द्रव्य लिखना।

१५—कम द्रव्य देकर अधिक द्रव्य लिखना।

१६—राज्य द्रव्य जिसको देना है उसे न देकर दूसरे को दे देना।

१७—राज्य कर को कर दाता से प्राप्त कर कोष में जमा न करना।

१८—कर न लेकर भी अपने हिसाब में उसे पूरा दिखाना।

१९—राज्य द्वारा दी गई अर्थ की सहायता में से धन प्राप्त करना और प्राप्तकर्ता (पात्र) को कम देना।

२० जिस वस्तु को देना चाहिये उसे न देकर अन्य वस्तु दे देना।

इस प्रकार राज्य के द्रव्य का अध्यक्ष और अधिकारी अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण अपहरण करते हैं। राज्य के धन का दुरुपयोग न हो सके और कर्मचारी एवं अधिकारीगण राज्य के धन को उचित रूप से संग्रह कर सही व्यक्तियों में राज्य द्वारा दी गई सहायता को बिना कुछ लिये विभाजित करना अपना कर्तव्य समझें। व्यक्ति अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के हेतु क्या-क्या कर लेता है। इन

---

१. पूर्वं सिद्धं पश्चादवतारितम्। पश्चात्सिद्धं पूर्वमवतारितम्। साध्यं न सिद्धं। असाध्यं सिद्धम्। सिद्धमसिद्ध कृतम्। असिद्धं सिद्धं कृतम्। अल्पसिद्धं बहुकृतम्। बहुसिद्धमल्पं कृतम्। अन्यत्सिद्धमन्यत्कृतम्। अन्यतः सिद्धमन्यतः देयं न दत्तम्। अदेयं दत्तं। काले न दत्तं। अकाले दत्तं। कौ० २।८।१९ से ३३

सभी मनोवृत्तियों का आचार्य कौटिल्य ने यहाँ विवेचन किया है। अच्छे शासक को इन सभी बातों का ज्ञान होना चाहिये और अधिकारियों की गतिविधियों पर पूर्ण रूप से ध्यान रखना चाहिये। ऐसा करने से वे राज्यकोष को हानि नहीं पहुंचा सकेंगे और कर के रूप में संग्रह होने वाले अर्थ का वे अपहरण न कर सकेंगे। राज्य द्वारा प्रदत्त अर्थ सही लोगों में उचित मार्ग द्वारा विभाजित हो सकेगा।

अर्थ का अपव्यय एवं अधिकार का दुरुपयोग अधिकारी न कर सके और समाज की आर्थिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त न हो सके, अतः अर्थ का संग्रह—'कर ग्रहण' अच्छे कुशल व्यक्तियों के द्वारा ही होना चाहिये। स्वार्थी—अर्थ लोलुप व्यक्तियों पर पूर्ण नियन्त्रण रहे, इसलिये इस अर्थ अपहरण करने की मनोवृत्ति का शासक को पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। तभी वह अपने शासन की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ कर सकता है।

कर्मचारियों की नियुक्ति और उनकी योग्यता की परीक्षा कैसे ली जाये ?

आचार्य कौटिल्य वस्तुतः अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण करने वाला व्यक्ति था। वह प्रशासन के मामले में कठोर और न्यायप्रिय था। प्रजा के दुखों को दूर करना, कर्मचारी तन्त्र को नियमों में नियन्त्रित रखना एवं अधिकारियों को अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूक रखकर राज्य की आर्थिक व्यवस्थाओं को सुचारु रूप से चलाना उसका उद्देश्य था। जो अधिकारी राज्य की सेवा के लिये नियुक्त किये जाते थे आचार्य कौटिल्य ने उन सबकी उनके कार्यों द्वारा ही परीक्षा लेना आवश्यक समझा था। इस विधि से अधिकारियों की परीक्षा लेने का प्राविधान दिया है :—

१—बुद्धि, स्मरण शक्ति और चतुरता की परीक्षा उनके कार्यों के द्वारा ले।[1]

२—वाक्पटुता, प्रगल्भता (साहस) तथा प्रतिभा की परीक्षा—सभाओं में व्याख्यानों द्वारा ले।[2]

३—उत्साह, प्रभाव (व्यक्तित्व) और सहन-शक्ति की परीक्षा आपत्ति के समय ले।[3]

---

१. कर्मारम्भेषु प्रज्ञां धारयिष्णुतां दाक्ष्यं च। कौ० १।९।५

२. कथायोगेषु वाग्मित्वं प्रागल्भ्यं प्रतिभा नवत्वं च॥ कौ० १।९।६

३. आपद्युत्साहप्रभावोक्लेशसहत्त्वं च। कौ० १।९।७

४—हृदय की स्पष्टता, सममैत्री और दृढ़भक्ति की परीक्षा व्यवहार के द्वारा ले।[1]

५—शील, बल, आरोग्य, धैर्य, अभिमानहीनता और शान्त स्वभाव की परीक्षा साथ में रहने वाले पुरुषों के द्वारा ले।[2]

६—अच्छी आकृति, एवं प्रीतिभाव की परीक्षा स्वयं अपने अनुभव से शासक करे।[3]

इस प्रकार सम्यक् रूप से परीक्षित लोगों का ही राज्य सेवा में चयन करने का आचार्य कौटिल्य ने अच्छे शासक को एक सच्चा आर्थिक विचारक बनकर अर्थव्यवस्थाओं के संचालन के लिए परामर्श दिया है।

जनता का अहित करनेवाले अध्यक्षकी शासकको सूचना दी जाय

आचार्य कौटिल्य ने प्रजा के लाभ के लिए, कर्मचारी तन्त्र के सुधार के लिए ऐसी व्यवस्था की हुई थी कि प्रजा का कोई सरकारी अधिकारी शोषण करे, पीड़ा दे अथवा धन अपहरण करे ऐसी स्थिति में "राजा समस्त जनपद में यह घोषणा कर दे कि अमुक अध्यक्ष यदि किसी को दुख देकर धन अपहरण करें तो उसकी सूचना राजा को दे।[4]

राज्य की ओर से प्रजा के कल्याण के लिए ऐसे प्रबन्ध किये हुए थे जिससे कोई अधिकारी मनमाना अत्याचार नहीं कर सकता था। नौकरशाही पर राज्य की ओर से कठोर नियन्त्रण की व्यवस्था की गई थी। इस प्रकार की राज्य घोषणा से कर्मचारी तन्त्र को अर्थ के अपहरण का साहस नहीं हो सकता था। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्य के पालन में सावधान रहता था। अच्छे शासक के रहने पर ही प्रजा के कष्ट सुने जाते हैं। यदि राजा बुरा होता है तो उसके अधिकारीगण उसकी इन दुर्बलताओं का लाभ उठाते हैं और प्रजा से मनमाना अर्थ ग्रहण करने की चेष्टा करते हैं।

सच्चा प्रशासक किसे कहते हैं और वह प्रजा के कल्याणार्थं क्या करता है ?

जिस प्रजा से 'कर' ग्रहण कर शासक शासन की आर्थिक व्यवस्था को अच्छा बना देता है, उस प्रजा के सुख दुख को ही वह अपना सुख दुख समझता है।

---

१. संव्यावहाराच्छौचं मैत्रतां दृढ़भक्तित्वं च। कौ० १।९।८

२. संवासिभ्यः शीलबलारोग्यसत्त्वयोगमस्तम्भमचापल्यं च। कौ० १।९।९

३. प्रत्यक्षतः संप्रियत्वमवैरित्वं च। कौ० १।९।१०

४. प्रचारे चापघोषयेत् अमुना प्रकृतेनोपहताः प्रज्ञापयन्त्विति ॥ कौ० २।८।६५

ऐसा शासक ही प्रजा का कल्याण करता हुआ प्रजा के मन को जीत सकता है। शासक अपनत्व खोकर इस प्रकार प्रजा के आर्थिक विकास में संलग्न हो जाता है। जैसे :—

"प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है और प्रजा के हित में ही राजा का हित है। अपने आपको प्रिय लगनेवाले कार्यों को करना राजा का हित नहीं अपितु प्रजा के प्रिय कार्यों को करना ही राजा का अपना प्रिय हित है।"[१]

अर्थ विभाग के अध्यक्षों का अर्थ अपहरण कैसे जाना जाये?—जनता से अशुद्ध मार्गों से अर्थ अपहरण करनेवाले अध्यक्षों का पता उनके जीवनस्तर को देखने से पता चलेगा। जो व्यक्ति अर्थ विभाग में कार्य करने से पूर्व बुरी स्थिति में था और नौकरी पाते ही अच्छी स्थिति में होकर अत्यधिक व्यय करने लग गया है, वह कहाँ से और कैसे करने लग गया है? प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने इस पर अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं :—

"जिस अध्यक्ष की आय कम हो और व्यय अधिक हो ऐसे व्यक्ति को राज्य धन का अपहरण करने वाला मानना चाहिये।[२] अन्यथा उसके पास किस व्यवसाय से यह अर्थ आया है। आचार्य कौटिल्य ने इस पर अपना विचार इस प्रकार व्यक्त किया है :—

कई बार ऐसा भी देखा जाता है कि कोई व्यक्ति राज्य का धन तो अपहरण करता है किन्तु अपनी कृपण प्रवृत्ति के कारण उसे खर्च ही नहीं करता पुनः उसे कैसे राज्य धन अपहर्ता माना जाये? अतः आचार्य कौटिल्य ने "गुप्तचरों द्वारा ही उनकी लोभ प्रवृत्ति का सही पता लगाने पर बल दिया है।"[३]

"अर्थ प्राप्ति के स्थानों पर आय दिखाने वाला अधिकारी स्वयं उस धन को खाता है और जो अधिकारी कम आय के स्थानों से अधिक आय दिखाता है। ऐसी स्थिति में वह जनपद के लोगों का शोषण करता है।"[४] ऐसा करना भी न्यायतः उचित नहीं है।

---

१. प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥ कौ० १।१९।३९

२. अल्पायतिश्चेन्महाव्ययो भक्षयति।
विपर्यये यथायतिव्ययश्च न भक्षयतीत्याचार्याः॥ कौ० २।९।१२–१३

३. अपसर्पेणैवोपलभ्यत इति कौटिल्यः। कौ० २।९।१४

४. यः समुदयं परिहापयति स राजार्थं भक्षयति।
यः समुदयं द्विगुणमुद्भावयति स जनपदं भक्षयति। कौ० २।९।१५–१७

इस प्रकार की लोभी मनोवृत्ति के कारण ही राष्ट्रीय सम्पत्ति का अहित होता है। राष्ट्र की सम्पत्ति को सुरक्षा की दृष्टि एवं अधिक लोगों के लाभ की दृष्टि से यदि देखा जायेगा तभी समस्त राष्ट्र का कल्याण होगा और राष्ट्रीय भावना की जनता में जागृति होगी। इस उदार भावना से अनुप्राणित होने पर ही अर्थ अपहरण की प्रवृत्ति लोगों में कम हो सकती है।

उपभोग और उसका स्वरूप एवं उसके प्रकार :—

आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में उपभोग का स्वरूप वर्णन करते हुए उपभोग के तीन भेद बताये हैं। १—मूलहर २—तादात्विक ३—कदर्य।

वस्तुतः जीवन में अर्थ का महत्त्व तो है ही और अर्थ उपभोग के ही निमित्त होता है। यदि अर्थ का उपयोग और उपभोग न किया जाये तो अर्थ, अर्थ नहीं रह जायेगा अपितु अर्थ केवल देखने के योग्य अथवा पृथ्वी में गड़ी हुई उपयोगहीन वस्तु हो जायेगी। अतः जीवन में अर्थ के उपभोग का भी ध्यान रखा गया है। अर्थ का दुरुपयोग करना भी उपभोग नहीं माना जायेगा क्योंकि बुरे उपभोग से अर्थ की उत्पत्ति एवं वृद्धि नहीं हो सकती। प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक कौटिल्य ने तो मूल पूंजी को व्यय करने वाले को भी 'मूलहर' नाम देकर अच्छा उपभोग नहीं माना है जैसा :—

१—मूलहर:—"जो पुरुष अपने पिता और पितामह की वंश परम्परागत सम्पत्ति को अन्याय से खाता है या उपभोग करता है उसे 'मूलहर' अर्थात् मूल-पूंजी का नाश करने वाला मानते है।"[1]

मूल पूंजी का उपभोग करनेवाले को बुरा माना गया है, क्योंकि ऐसा करने से मूल पूंजी शीघ्र समाप्त हो जायेगी एवं अगली पीढ़ी अर्थ के विना क्या उपभोग करेगी ? जीवन यापन कैसे करेगी ? मूल पूंजी का विस्तार ही अर्थ के विकास में लाभदायक एवं सुखकारक है। अच्छा अर्थशास्त्री अपने मूलधन का क्षय नहीं करता अपितु मूलधन से ही अपने व्यापार की वृद्धि करता हुआ मूलधन की रक्षा करता है वह सफल और कुशल व्यक्ति है। ऐसा ही व्यक्ति जगत के व्यवहार को चलाने में अर्थ का वास्तविक महत्व समझता है। अतः सही रीति से अर्थ का उपयोग ही उपभोग माना गया है। मूलहर को यहाँ तक बुरा माना जाता था कि उसे 'दायभाग' नहीं दिया जाता था, जिससे अनुचित रूप से उपभोग न करे।

---

१. यः पितृपैतामहमर्थ-अन्यायेन भक्षयति स मूलहरः। कौ० २।९।२४

२. तादात्विक—'जो पुरुष जितना उत्पन्न करता है उतना ही उपभोग कर लेता है वह तादात्विक कहलाता है।'[1] ऐसा उपभोग करने वाला व्यक्ति दुखी और रात दिन अर्थ की चिन्ता में ही व्यस्त रहता है। अपना आर्थिक विकास और उन्नति नहीं कर सकता है। अतः इस प्रकार के 'तादात्विक' उपभोग को भी उचित नहीं माना गया है। यह उपभोग का मार्ग भी तत्काल चाहे सुखकारक ही किन्तु भविष्य में दुखकारक प्रतीत होता है।

३. कदर्य—'जो अपने भृत्यों एवं अपने आपको पीड़ा-कष्ट देकर अर्थ एकत्र करता है वह ,कदर्य' कहा जाता है।'[2] इसे भी अर्थ का उपभोग नहीं माना जाता है। यह तो धनपशु बनना है। इस प्रकार के अर्थ से किसी को क्या लाभ होगा ?। इस प्रकार का कृपण व्यक्ति अत्यधिक अर्थ एकत्रित कर अपने घर की भूमि में गाड़ देता है, किसी के पास रख देता है या शत्रु के देश में भेज देता है। ऐसे व्यक्ति पर कठोर दृष्टि रखते हुए सत्री नाम के गुप्तचर से गुप्त रहस्य जानें।

अर्थ को व्यवहार को चलाने के लिए परमावश्यक माना गया है। अतः अर्थ प्राप्ति के स्थानों पर जैसे—'संख्यायक लेखक (३) रूपदर्शक (४) नीवी ग्राहक (५)आदि सच्चे और अच्छे निरीक्षण करने वाले प्रमुख अधिकारी के साथ मिल कर अर्थ विभाग के कार्यों को करे।"[6]

ऐसी व्यवस्था रखने से अर्थ विभाग के अध्यक्ष धन को स्वार्थ में पड़ कर अपहरण (चुरा) नहीं सकेंगे।

कौटिल्य अर्थशास्त्र के इस प्रकार के उद्धरणों से विदित होता है कि

---

१. यो यद्युत्पद्यते तत्तद्भक्षयति स तादत्विक : । कौ० २।९।२५
२. यो भृत्यात्मपीडाभ्यामुपचिनोत्यर्थं स कदर्य : ॥ कौ० २।९।२६
३. राजकीय आय-व्यय को लिखने और उसकी संख्या को गिनने वाले को 'संख्यायक लेखक' कहते हैं।
४. राज्य की प्रचलित मुद्रा-सिक्कों के शुद्ध (खरे) अशुद्ध (खोटे) रूपों को पहचान ने वाले पारखी पुरुष को 'रूप दर्शक' कहा जाता है।
५. आय-व्यय के पश्चात् शेष बची हुई धनराशि को रखने वाले व्यक्ति को 'नीवी ग्राहक' कहते हैं।
६. तस्मादस्याध्यक्षाः संख्यायकलेखक रूपदर्शक नीवीग्राहकोत्तराध्यक्षसखाः—कर्माणि कुर्युः ॥ कौ० २।९।३२

राज्य की आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए अर्थ विभाग के अधिकारियों की गतिविधियों पर सूक्ष्मदृष्टि से विशेष ध्यान रखा जाता था। राज्य का समस्त कार्य कर्मचारी तन्त्र पर ही सदा से निर्भर रहा है। अतः आचार्य कौटिल्य ने बड़ी सूक्ष्मता से कर्मचारी तन्त्र की मनोवृत्तियों का अध्ययन कर उन पर नियन्त्रण पाने के लिए स्वार्थहीन, कर्तव्यनिष्ठ और प्रजा हित चिन्तक 'गुप्तचरों की नियुक्ति की थी। इन गुप्तचरों के द्वारा कर्मचारी तन्त्र की गोपनीय से गोपनीय बातों का ज्ञान हो जाता था। उनकी आय के अनुरूप ही उन्हें व्यय करने की छूट थी। उसके अतिरिक्त अर्थ उनके पास कहा से आ रहा है ? इसकी सही सूचना गुप्त पुरुष ही देते थे। ऐसे अर्थ विभाग में या अर्थ प्राप्ति के स्थानों पर कार्य करने वाले व्यक्तियों पर राज्य की ओर से कठोर से कठोर दृष्टि रखी जाती थी।

अर्थ विभाग की अर्थ व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए उत्तराध्यक्षों की नियुक्ति की जाती थी। उन उत्तराध्यक्षों को हाथी, घोड़े और रथ को चलाना भी जानना चाहिये। उनके पास रहने वाले कुछ ऐसे अनुयायी-शिष्य होने चाहिये, जो आज्ञा पालन में कुशल, हृदय से पवित्र और 'संख्यायक लेखक', 'रूपदर्शक' एवं 'नीवी' ग्राहक' अर्थ विभाग में कार्य करने वाले अधिकारियों, कर्मचारियों की मनोवृत्ति को जानने में चतुर हों ऐसे ही व्यक्तियों से 'गुप्त पुरुप का कार्य लेना चाहिए।[1]

यहाँ तक कि अर्थ विभाग में अनेक मुख्य पुरुषों को रखा जाता था जिससे वे परस्पर भयभीत रहें एवं अपने कार्य को सतर्क और सुव्यवस्थित रूप से करें। ऐसे दायित्व पूर्ण स्थानों पर नियुक्तियाँ स्थायी नहीं होनी चाहिये।[2]

अर्थ विभाग में कार्य करने वाले व्यक्तियों पर कठोर दृष्टि रखी जाती थी क्योंकि जिस प्रकार पानी में निवास करती हुई मछलियाँ जल पीती हुई नहीं प्रतीत होतीं, उसी प्रकार अर्थ वाले कार्यों में नियुक्त राज्य कर्मचारी अर्थ को लेते हुए नहीं जाने जा सकते।[3]

---

१. उत्तराध्यक्षाः हस्त्यश्वरथारोहाः तेषामन्तेवासिनश्शिल्पशौचयुक्तास्संख्यायकादीनामपसर्पाः। कौ० २।९ ३३-३४

२. बहुमुख्यमनित्यं चाधिकरणं स्थापयेत् ॥ कौ० २।९।३५

३. मत्स्या यथान्तः सलिले चरन्तो, ज्ञातुं न शक्याः सलिलं पिबन्तः।
युक्तास्तथा कार्यविधौ नियुक्ताः, ज्ञातुं न शक्या धनमाददानाः ॥
कौ० २।९।३७

अर्थ का उपभोग किस प्रकार किया जाता है और राज्य के अर्थ विभाग के अध्यक्ष राज्य के अर्थ का किस प्रकार अपहरण करते हैं। उनकी अपहरण की प्रवृत्तियों को किस प्रकार रोका जाये।

मूल्य निर्धारण एवं मूल्य वृद्धि नियन्त्रण :—

यह मानवीय स्वभाव है कि वह अपनी उत्पादित वस्तुओं का अधिकाधिक लाभ चाहता है। अपने लाभ के स्वार्थ में वह दूसरों के हित अहित का ध्यान नहीं देता और यही कारण है कि अधिक मांग और कम उत्पादन के कारण भी वस्तुओं के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि होने लगती है। ऐसी स्थिति में साधारण जनता जीवन यापन की आवश्यक वस्तुओं के अभाव से प्रपीड़ित होने लगती है। इस अभावपूर्ण स्थिति में विक्रेता अनुचित लाभ उठाता है। जनता इस मन-माने मूल्य के अत्याचार से त्रस्त हो उठती है। हजारों व्यक्ति मूल्यवृद्धि एव वस्तुओं के अभाव से भूखे ही मर जाते हैं। ऐसी विषम परिस्थिति में एकमात्र अच्छा शासक ही जनता की रक्षा कर सकता है।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक आचार्य कौटिल्य ने मानवीय लोभवृत्ति = (मुनाफाखोरी) को दृष्टि में रखते हुए राज्य में उत्पादित एवं विक्रय के निमित्त पण्य (विपण) में आने वाली वस्तुओं का मूल्य निर्धारण करने की व्यवस्था इस प्रकार दी है :—

"पण्याध्यक्ष को जल और स्थल में उत्पन्न होने वाले एवं जल, स्थल मार्ग से आये हुए अनेक प्रकार के पण्यों के सार (१) तथा फल्गु (२) के मूल्य को उसकी प्रियता और उपयोगिता—मांग अप्रियता के कारण अच्छी प्रकार जाने।"[४]

आचार्य कौटिल्य ने पण्याध्यक्ष को व्यापारिक दृष्टिकोण से वाणिज्य का पूर्ण ज्ञाता होना माना है। पण्याध्यक्ष को समय के अनुसार वस्तुओं के क्रय-विक्रय के नियमों को अच्छी प्रकार जानने वाला होना चाहिए। किस वस्तु

---

१. क्रय-विक्रय के स्थान को पण्य या विपण कहते हैं और उसके प्रमुख अधि-कारी को पण्याध्यक्ष कहते हैं।

२. बहुमूल्य वस्तु को सार कहा गया है।

३. अल्पमूल्य वाली वस्तु को फल्गु कहा गया है।

४. पण्याध्यक्षः स्थलजलजानां नानाविधानां पण्यानां स्थलपथवारिपथोपयातानां सारफल्गवर्धान्तरं प्रियाप्रियतां च विधात् ॥ कौ० २।१६।१

की किस समय आवश्यकता है और किस प्रकार उसका प्रयोग होना चाहिये। इन सभी वाणिज्य की बातों को जानने वाला पण्याध्यक्ष को अवश्य होना चाहिए वाणिज्य का पूर्ण ज्ञाता होने के कारण वह पण्य की अच्छी प्रकार व्यवस्था कर सकेगा एवं त्रुटियों की कम होने की आशंका रहेगी। वस्तुओं के क्रय-विक्रय में भी उसे पूर्ण दक्ष होना चाहिये।

प्रजा के दुखों को भी वह अपनी कुशल बुद्धि से दूर कर सकेगा। व्यापारी वर्ग मनमाना भाव निर्धारण न कर सकेंगे। पण्याध्यक्ष पण्य में आने वाली सभी वस्तुओं का मूल्य एवं महत्व अच्छी प्रकार जानने वाला होना चाहिये।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्ध :—

कौटिल्य अर्थशास्त्र का अध्ययन करने पर यह विदित होता है कि उस युग में आर्थिक स्थिति इतनी अच्छी थी कि व्यापारी वर्ग राज्य के नियमों का पालन करता हुआ बड़ी निष्ठा से व्यापार करता था। आर्थिक विकास का परिचय इन बातों से भी मिलता है कि जनता अधिक परिश्रमी थी और अधिक उत्पादन करती थी। जो चीजें हमारे यहाँ अधिक मात्रा में उत्पादित होती थीं उनकी बिक्री के लिए या उत्पादित वस्तुओं की खपत के लिए अपने राष्ट्र के अतिरिक्त अन्य राष्ट्रों में भी व्यापारिक सम्बन्ध थे। जिस सम्बन्ध को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के नाम से सम्बोधित किया जाता है। दूसरे देशों के साथ व्यापार सम्बन्ध किस प्रकार करना चाहिये? अपनी आवश्यकता से अधिक सामग्री जब किसी राष्ट्र के पास होगी तभी वह उस अतिरिक्त सामग्री का क्या करेगा? दूसरे देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर वहाँ से अर्थ प्राप्त करने की व्यवस्था ही करेगा। अपनी अधिक उत्पादित सामग्री की खपत या विक्री के लिए स्थान निश्चित करना भी अत्यावश्यक था। अतः आचार्य कौटिल्य ने इस पर अपना मत इस प्रकार दिया है :—

"राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक दृष्टिकोण से दोनों देशों की वस्तुओं के मूल्य की समता और विषमता (सस्ता और महँगापन) देख कर, उस पर व्यय होने वाले मूल्य को जानकर, मार्ग व्यय को देख कर, बर्तनी,[१] अतिवाहिक[२]

१. राजमार्गों पर व्यापारिक सामान को ले जाने का शुल्क (कर)
२. मार्गों में सुरक्षा आदि किये जाने का शुल्क

गुल्मदेय[1], तरदेय[2], भक्त,[3] भाटक,[4] आदि समस्त प्रकार के होने वाले व्यय (सभी खर्चों) को निकाल कर शुद्ध आय को देखे ।"[5]

व्यवसाय करने वालों को सर्व प्रथम हानि, लाभ का ध्यान रखते हुए और क्रय-विक्रय किये जाने वाले सामान पर समस्त प्रकार का व्यय जोड़ कर उसका वास्तविक मूल्य का हिसाब लगाना आवश्यक होता है। जब तक कहीं लाभांश दृष्टिगत नहीं होगा, तब तक कुशल व्यापारी व्यापार करने के लिए कभी भी उद्यत नहीं होता है। उस वाणिज्य को करने से क्या लाभ जिसमें सभी व्यापारिक खर्चों को काटने के पश्चात् कुछ लाभ न हो। कई बार प्रयोगात्मक और नवीन कार्य के कारण भविष्य के लाभ की आशा से भी व्यक्ति कुछ हानि उठाने को तय्यार रहता है अथवा दूसरे के साथ वस्तु विनिमय द्वारा या अपने सामान को लोकप्रिय और प्रचारित करने के उद्देश्य से व्यापारी हानि सह सकता है। व्यापार में ही लक्ष्मी का वास है और व्यापार में बिना कुछ खोये कुछ पाना भी सम्भव नहीं है। जैसे—आचार्य कौटिल्य ने व्यक्त किया है :—

"अपने व्यापार में लाभ न दिखने पर अपने सामान को दूसरे देश के सामान में परिवर्तित कर अपने लाभ को देखे, इसके पश्चात् लाभ के चतुर्थ भाग को व्यय कर स्थल मार्ग से व्यवहार को जानता हुआ व्यापार को करे।"[6]

दूसरे राष्ट्रों पर अपनी साख जमाने की नीति :—व्यापार में अच्छे व्यापारी अपने नाम एवं साख के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने को तय्यार रहते हैं। एक बार साख जमने और व्यापारिक प्रतिष्ठा बनने के पश्चात् लाखों रुपयों का माल उधार घर पर ही आ जाता है। इसलिये आज के युग में भी 'साख' और प्रतिष्ठा का व्यापार के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। अच्छे व्यापा-

१. जंगलों में व्यापारियों के माल की रक्षा करने वालों का शुल्क।
२. नदियों से सामान को पार कराने का शुल्क।
३. सामान ले जाने वालों का मार्ग का भोजन व्यय।
४. सामान को आयात-निर्यात करने का शुल्क (मजदूरी या भाड़ा)।
५. परविषये तु पण्यप्रतिपण्ययोरर्घं मूल्यं चागमय्य शुल्क वर्तन्यातिवाहिक गुल्मतरदेयभक्तभाटकव्यय शुद्धमुदयं पश्येत् ॥ कौ. २।१६।२२
६. असत्युदये भाण्डनिर्वहणेन पण्यप्रतिपण्यार्घेण वा लाभं पश्येत्। ततः सारपादेन स्थलव्यवहारमध्वना क्षेमेण प्रयोजयेत् ॥
कौ. २।१६।२३-२४

रिक प्रतिष्ठान वाले अपनी साख की स्थापना के लिए ईमानदारी का व्यवहार अपनाते हैं।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक आचार्य कौटिल्य ने भी कहा है अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक क्षेत्र में व्यापारी को अपनी साख और अपने राष्ट्र की प्रतिष्ठा बनाने के लिए कभी किसी प्रकार का कोई अंतर्राष्ट्रीय व्यापारिक नियमों के विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिये। जिस देश में व्यापारी, व्यापार करे नियमतः उस देश के समस्त प्रकार के शुल्कों की चुकौती करने के पश्चात् ही अपने देश में आना चाहिये। जैसे :—

"दूसरे देश में व्यापार करता हुआ व्यापारी उस देश के सभी देय भाग (राज्य कर) को नियमपूर्वक भुगतान करता हुआ व्यापार करे और तभी स्वयं अपनी भूमि (अपने देश) में आये।"[1]

लोभवृत्ति के कारण मनुष्य राष्ट्र प्रेम को भी भूल जाता है और अन्य देशों में व्यापार करता हुआ वहाँ के व्यापारियों का माल उधार या धन उधार लेकर अथवा व्यापार करते हुए उस देश के राज्य करों का भुगतान किए बिना अपने देश में चला आता है और फिर उस देश में व्यापार करने जाता ही नहीं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति का नहीं अपितु सम्पूर्ण राष्ट्र का अपमान होता है और भविष्य में अंतर्राष्ट्रीय व्यापारिक सम्बन्धों में बाधा उपस्थित होती है।

पूर्व वर्णित उद्धरण में आचार्य कौटिल्य ने राष्ट्रीय सम्मान, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और सुसम्बन्ध बनाने के लिए ऐसी व्यवस्था दी है। इस प्रकार के उद्धरणों से राष्ट्रीय प्रेम, व्यापारिक साख, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक सम्बन्ध वाणिज्यशास्त्र का पूर्ण ज्ञान, व्यापारिक नियमों का परिपालन और इमानदारी एवं प्रतिष्ठा जैसे गुणों का भी ज्ञान होता है। प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों को इन सभी बातों का ज्ञान था जिससे उन्होंने अपने कार्यों को व्यवहार में लाने का पूर्ण प्रयास किया।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार करने वाले व्यापारियों को अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का पूर्ण ज्ञान रहता था और वे अपने राष्ट्र के सम्मान का ध्यान रखते हुए कार्य करते थे। अपने देश में अन्य देशों से उन सामग्रियों को वे लाते थे जिसका उनके देश में अभाव होता था। वे देश के अभाव की पूर्ति करते थे और अपने राष्ट्र में अधिक उत्पादन अथवा अपनी आवश्यकता की पूर्ति से अधिक सामग्री को दूसरे राष्ट्रों में भेजते थे और आर्थिक लाभ उठाते थे।

१. आत्मनो वा भूमिमप्राप्तः सर्वदेयविशुद्धं व्यवहरेत्। कौ. २।१६।२७

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार करने वाले व्यापारियों के विषय में आचार्य कौटिल्य ने यहाँ तक लिखा है कि उन व्यापारियों को सभी प्रकार के जल, स्थल मार्गों का ज्ञान, यात्रा का समय, यात्रा व्यय एवं उस देश के आचार व्यवहार का भी पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। ऐसा करने से उन्हें कष्ट न होगा, समय का ज्ञान और हानि लाभ का भी पूर्ण ज्ञान रहेगा। जिससे वे सफलता पूर्वक व्यापार कर सकेंगे। जैसे:—

"वारिपथ (जलमार्ग) से व्यापार करने वालों को यानभाटक[1] पथ्यदन[2] पण्यप्रतिपण्यार्ध प्रमाण[3] यात्रा का समय, (किस-समय यात्रा करनी चाहिए) मार्ग के भय को दूर करने का उपाय, दूसरे देश के विपण और नगरों के आचार व्यवहार के विषय में अच्छी प्रकार की जानकारी को प्राप्त करले।"[4]

इस प्रकार के कौटिल्य अर्थशास्त्र के उद्धरणों से अवगत होता है कि प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों को राष्ट्रीय व्यापार का ही नहीं अपितु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का भी अच्छा ज्ञान था और उनके निर्देशों के अनुसार व्यापारी सफलता पूर्वक व्यापार करते थे। उस युग की दुर्गम यात्रा, कष्ठ साध्य कार्य, अपरिचित स्थान, अन्य देशों की वेषभूषा, भाषा का ज्ञान और आचार व्यवहार को भी उस युग का व्यापारीवर्ग अच्छी प्रकार जानता था। उनके धैर्य, उत्साह, व्यापारिक कुशलता और अर्थ प्राप्त करने की लगन उन सभी गुणों का ज्ञान होता है। आचार्य कौटिल्य के उस प्रसंग से यह पूर्ण स्पष्ट हो रहा है:—

"नदी के मार्गों को अच्छी प्रकार जानकर और उस देश के चरित्र एवं व्यवहार को समझकर, जहाँ अधिक लाभ हो उसी देश में जाना चाहिए। जहाँ लाभ की आशा न हो वहाँ जाना सर्वथा छोड़ दे।"[5]

मानव के जीवन में (कुप्य) जंगलों का महत्व:— अति प्राचीन काल से जंगलों ने मानवीय जीवन में एकान्त देकर सत्यज्ञान का मार्ग दिया है। आश्रम व्यवस्था के दृष्टिकोण से इन जंगलों ने ब्रह्मचर्य आश्रम को जन्म

---

१. नाव आदि का किराया। २. मार्ग का भोजन व्यय। ३. अपनी और दूसरे की विक्रय वस्तु का मूल्य प्रमाण।

४. वारिपथे च यानभाटक-पथ्यदन-पण्यप्रतिपण्यार्घप्रमाण-यात्राकालभयप्रतीकार-पण्यपत्तनचरित्राण्युप लभेत ॥ कौ. २।१६।२८

५. नदीपथे च विज्ञाय व्यवहारं चरित्रतः
यतो लाभस्ततो गच्छेदलाभं परिवर्जयेत् ॥ कौ० २।१६।२९

दिया और मानवीय जीवन के लिये समस्त प्रकार की सुख सुविधायें दीं। भोजन के लिये कन्द मूल फल दिये। सुरम्य प्रासादों के लिये अच्छी लकड़ी दी, आजीविका के लिये व्यापार की वृद्धिकी, सुस्वादु भोजन—बनाने के लिए लकड़ी दीं। रोगी शरीर को निरोग करने के लिए औषधियाँ दीं, वर्षा, हवा शीतल वातावरण वनाने में वृक्षों-जंगलों की महत्वपूर्ण भूमिका है। मानव के जीवन को वस्तुतः मानवीय जीवन वनाने में जंगलों का बहुत बड़ा हाथ हैं।

आचार्य कौटिल्य ने जंगलों की आवश्यकता, लाभ उपयोगिता और आजीविका की दृष्टि से महत्व को मानते हुए इस प्रकार कहा है :—

"बाहर जंगलों के निकट, जनपद में और दुर्ग में लकड़ी से वने हुए भाण्ड (पात्र) सामान को विभक्त कर, आजीविका एवं नगर की सुरक्षा के लिए अन्य वस्तुओं का भी जंगलों पर अपनी जीविका चलाने वाले सम्यक् प्रकार से संग्रह करें।"[1]

समान वितरण व्यवस्था और माप दण्ड का स्वरूप :—

प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र में वस्तु उत्पादक के पश्चात् वस्तु उपभोग की समस्या समक्ष आई। अब 'वस्तु वितरण' का प्रश्न उठा। किस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के उपभोग के लिए वितरण व्यवस्था चलायी जाये ? वस्तु के उपभोग का सभी क्रेताओं को समान अधिकार है। जब सभी को सामान अधिकार है पुनः समान वितरण की व्यवस्था कैसे किस अनुपात से अपनाई जाए, जिससे किसी के मन में असंतोष, आक्रोश और अन्याय की भावनायें जाग्रत न हों। अतः इस वितरण व्यवस्था को एक वैज्ञानिक पद्धति पर प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों ने सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया है।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने वितरण व्यवस्था में एक सैद्धान्तिक दृष्टि से राजा का, कृषक का; श्रमिक का विक्रेता के और क्रेता के अधिकारों एवं उसके भाग का समुचित रूप से ध्यान रखा है।

राजा प्राचीन काल में समस्त राज्य का रक्षक होता था वह उस रक्षा वृत्तिका भूस्वामी से कुछ अंश 'कर' पाता था, कृषक व्यापारी वर्ग से अपने लाभांश को प्राप्त कर सामान बेच देता था, श्रमिक कृषि की उन्नति एवं

---

१. वहिरन्तरश्च कर्मान्ता विभक्ताः सर्वभांडिकाः।
आजीवपुररक्षार्थाः कार्याः कुप्योपजीविना॥ कौ. २।१७।१८

अधिक उत्पादन में कृषक को अपने श्रम का योगदान देता था, विक्रेता अपनी पूँजीका उचित लाभ पाने के लिए विक्रय करता था और क्रेता वस्तु का वास्तविक मूल्य एवं निश्चित मात्रा में राज्य द्वारा निर्धारित तुला और बाटों द्वारा एवं जन हितकारी एक सर्वप्रिय वितरण व्यवस्था के माध्यम से समान फल (लाभ) प्राप्त करता था। समान वितरण व्यवस्था के कारण राजा क्रुद्ध, कृषक दुखी, श्रमिक आक्रोषित, विक्रेता मुनाफाखोरी और क्रेता मूल्य वृद्धि जैसे कष्टों से चिन्तित नहीं रहते थे। प्राचीन भारतीय समान वितरण व्यवस्था के कारण राजा प्रजा की रक्षा करना, कृषक अधिक उत्पादन बढ़ा कर राष्ट्र को उन्नत करना, श्रमिक अधिक श्रम करना, व्यापारी जनता की सेवा करना और क्रेता उचित मूल्य पर वस्तुओं को प्राप्त करना अपना कर्तव्य समझता था। इस सही वितरण व्यवस्था के कारण प्रजा सुखी थी और राजा के विरुद्ध उसने कभी कुछ सोचा ही नहीं इसलिये प्राचीन भारत में राजतन्त्र पूर्णरूप से सफल रहा !

राजा प्रजा के कल्याण, राज्य की सुरक्षा और अपना वृद्धि के लिए योग्य अधिकारियों एवं कर्म चारियों का चयन करता था। जैसे—आचार्य कौटिल्य ने राष्ट्र के हित के लिए प्रधान मन्त्री की नियुक्ति में ऐसा निर्देश दिया है :—

"अपने जनपद में उत्पन्न हुआ श्रेष्ठ, जो सभी विद्याओं में दक्ष हो, प्रिय बोलने वाला हो, चतुर हो, संकट का सामना करने वाला, कष्ट सहिष्णु, पवित्र, उत्साही, धैर्यवान्, सौम्य और किसी से शत्रुता न करने वाला व्यक्ति ही महामात्य नियुक्त करना चाहिए।"[१]

राज्य की ओर से एक 'पौतवाध्यक्ष' की नियुक्ति की गई थी जिसका कार्य समस्त राज्य के वितरण करने वाले माप दण्ड एक समान रखने की आचार्य कौटिल्य ने व्यवस्था दी है:—

पौतवाध्यक्ष[२] पौतव कार्यों[३] को करावे।[४] वितरण व्यवस्था को समान रखने के लिए एवं निर्धारित मूल्य पर निर्धारित माप-दण्ड के अनुसार उपभोग

---

१. जानपदोऽभिजातः स्त्रवगृहः कृतशिल्पः·····दक्षो वाग्मी प्रगल्भः प्रतिपत्तिमानुत्साहप्रभावयुक्तः क्लेशसहः········वैराणामकर्तेत्यमात्यसंपत् ॥ कौ.१।९।१

२. माप-तोल का सुधार और समान वितरण की व्यवस्था करने वाला राज्य अधिकारी।

३. बाट-तराजू के समान निर्माण की व्यवस्था।

४. पौतवाध्यक्षः पौतव कर्मान्तान्कारयेत् ॥ कौ. २।३६।१

की वस्तुओं का क्रेता-विक्रेता में एक सन्तोषप्रद पद्धति पर वितरण करने के लिए प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्री आचार्य कौटिल्य ने इन बाट तराजुओं का 'पौतवाध्यक्ष' अधिकारी के द्वारा निर्माण कराकर कम अधिक या अनुमान से तोले जाने वाले सामान को एक सुव्यवस्थित पद्धति से निर्मित किया गया है। मनुष्य की प्रवृत्ति और विशेष कर व्यापारी वर्ग की वृत्ति अधिक मुनाफा (लाभ) कमाने की होती हैं। वे वस्तु के मूल्य (भाव) में भी और तौल में भी अधिक मुनाफा चाहते हैं। अतः विकसित आर्थिक व्यवस्था और वाणिज्य कार्य में चिरकाल से अनुभवी एवं कुशल प्राचीन भारतीय आर्यशास्त्रियों ने जगत को इस प्रकार की न्यायतः समान वितरण की व्यवस्था दी है।

आज विकासशील देश जितनी उन्नति व्यापारिक क्षेत्र में कर चुके हैं आज से हजारों वर्ष पूर्व प्राचीन भारतीय उससे भी अधिक सफलता प्राप्त कर चुके थे। वाणिज्य विषय पर उनका कितना सूक्ष्म और विस्तृत ज्ञान था उसे उनके कार्य ही बता रहे हैं।

प्रतिमान (बाट-तराजू) का निर्माण:—समान वितरण की व्यवस्था सम्पूर्ण राष्ट्र में एक समान हो। अतः उस व्यवस्था को संचालित करने के लिए एक धातु से निर्मित बाट-तरजुओं का निर्माण एक अनुपात से उस विषय के विशेषज्ञों के द्वारा किया गया है। प्रतिमानों का निर्माण लोहे से ही क्यों माना गया है? इसमें प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों की दूरदर्शिता और व्यापारिक कुशलता का ज्ञान विदित होता है। जैसा कि आचार्य कौटिल्य ने उस श्लोक में लोह निर्मित प्रतिमानों की विशेषता बताई है।

"वस्तुओं के तोलने के सभी बाट लोहे के बनाये जायें, केवल मगध और मेकल देश में पाये जाने वाले पत्थर के बनाये जावें। जो पानी या और किसी वस्तु के लगने से बढ़े न अथवा गर्मी लगने से भार में कम न हों।"[1]

लोहे के अतिरिक्त बने हुए बाट या तराजू टूट सकते हैं, वजन में कम हो सकते हैं और बढ़ सकते हैं। अतः व्यापारी के मन में मनमाने हिसाब से तोलने का विचार न हो। बड़े, छोटे गरीब-अमीर, शासक, प्रजा सभी को क्रीत वस्तुयें एक मूल्य, एक भाव और बिना भेदभाव के प्राप्त हो सकें। आधुनिक युग में भी सभी प्रकार के बाट-तराजू लोहे के निर्मित प्रयुक्त होते हैं। यदि कोई व्यक्ति मन-माने तौर पर पत्थर, ईंट का मापदण्ड बनाकर प्रयोग करता है तो उसे कम तोलने

१. प्रतिमानान्ययोमयानि मागधमेकलशैलमयानि यानि वा नोदकप्रदेहाभ्यां वृद्धि गच्छेयुरुष्णेन व ह्रासम् ॥ कौ. २।१९।११

के अभियोग में दण्ड तक दिया जाता है। आचार्य कौटिल्य ने बहुत पहले ही इस समान वितरण की व्यवस्था को प्रचलित कर लिया था।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रकार की धातुओं को तोलने, पृथ्वी को मापने, तरल पदार्थों को मापने की भिन्न-भिन्न प्रकार की तुलायें और बाट प्रयोग में आते थे।

राज्य की ओर से बाट तराजुओं का निरीक्षण होता था जिस कार्य को पौतवाध्यक्ष ही पूर्ण करता था। इसके साथ ही साथ प्रत्येक व्यापारी को कुछ समय के पश्चात् अपने वाट तराजुओं की जांच करानी पड़ती थी और उस निरीक्षण का राज्य कर देना पड़ता था और निरीक्षण न कराने पर दण्ड देना पड़ता था। जैसे :—

"प्रत्येक चार मास के पश्चात् माप-दण्डों का परिशोधन करना चाहिये। निश्चित समय पर निरीक्षण न कराने पर उसे सवा सत्ताइस पण दण्ड देना होगा।"[1]

इस प्रकार की वितरण व्यवस्था के सिद्धान्तों से जनता में असन्तोष की भावनाओं का उदय नहीं होता है। प्रजा भूखी नहीं मरती राजा मनमाने तौर पर 'कर' ग्रहण नहीं करता। कृषक अपने अतिरिक्त अन्न को जमाखोरी के लिए नहीं रखता। व्यापारी के मन में मुनाफाखोरी और जनता के हृदय में वस्तुओं का अधिक संग्रह करने की भावनायें नहीं आती हैं।

शासक की त्रुटियों के कारण एवं कर्मचारियों की लोभ वृत्ति के कारण ही शासन में भ्रष्टाचार की भावनायें आती है और 'वितरण व्यवस्था' में शासक कभी भी सफल नहीं हो सकता है। प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों ने अपने को जनवर्ग का प्रतिनिधि समझकर शासक को तभी सही मार्गों से कार्य करने का निर्देश दिया है।

शुल्क और उसका महत्त्व:—राज्य के संचालन के लिए राज्याधिकारियों की नितान्त आवश्यकता होती है। राज्याधिकारियों को वेतन और राज्य का प्रबन्ध कैसे होगा ? अतः राजा को रक्षा के निमित्त दिये जाने वाले अंश को शुल्क कहते हैं। थोड़े-थोड़े शुल्क से ही राज्य के संचालन के लिए अधिक अर्थ एकत्रित हो जाता है। राज्य की ओर से शुल्क को एकत्रित करने वाला एक अधिकारी होता है जिसे 'शुल्काध्यक्ष' कहा जाता है।

---

१. चतुर्मासिकं प्रातिवेधनिकं कारयेत्। अप्रतिविद्धस्यात्ययः सपादः सप्तविंशतिपणः। कौ. २।१९।५१—५२

ऐसा प्रतीत होता है कि नगर के प्रबन्ध के लिए यह शुल्काध्यक्ष होता था। नगर में आने वाली वस्तुओं पर यह शुल्क लिया जाता था।

"शुल्काध्यक्ष को शुल्कशाला का निर्माण कराना चाहिए और उसके मुख्य द्वार पर एक ध्वजा लगावे जिस पर शुल्क शाला का चिन्ह हो।"[1]

ऐसा करने से सभी लोगों को यह ज्ञात हो जायेगा कि यह 'शुल्कशाला, है और यहाँ पर शुल्क देना अनिवार्य है। अतः अनजाने में कोई शुल्क दिये विना न जा सकेगा।

शुल्क लेने के लिए कई सहयोगियों की नियुक्ति एवं अपनी पंजिका में व्यापारियों के व्यापार की चीजों का पूर्ण विवरण होना चाहिये। यथा :—

"शुल्काध्यक्ष शुल्कशाला के लिए चार या पाँच सहायक शुल्क लेने के लिए नियुक्त करे, जो व्यापारियों के समस्त विवरण को लिखें। कौन सा सामान है ? कहाँ से आया है ? कितने मूल्य का है ? जहां से माल आया है क्या वहाँ की उस पर मुद्रा (मोहर) लगी है या नहीं।"[2]

शुल्क को न देने के उद्देश्य से कुछ व्यापारी विना मुद्रा के सामान ले आते हैं या कोई जाली मोहर का प्रयोग करता है। ऐसे लोगों को दण्ड देने की व्यवस्था है क्यों कि वे शुल्क न देकर शुल्क विभाग को हानि पहुँचाना चाहते हैं। जैसे :—

"जिनके माल पर मोहर न लगी हो उन्हें दुगुना दण्ड दिया जाये, तथा जिन व्यापारियों ने जाली मोहर लगाई हो उन्हें शुल्क से आठ गुना दण्ड देना चाहिए।"[3]

कुछ धार्मिक कृत्योंकी वस्तुओं पर शुल्क नहीं लिया जाता था :—

व्यापारिक माल के अतिरिक्त कुछ ऐसा भी समान होता है जो व्यक्तिगत प्रयोग का है अथवा धार्मिक कृत्यों का है। इस प्रकार के समान पर आचार्य कौटिल्य ने शुल्क मुक्ति की व्यवस्था दी है। जिस प्रकार इस उद्धरण में स्पष्ट किया है :—

---

१. शुल्काध्यक्षः शुल्कशालां ध्वजं च प्राङ्मुखमुदङ्मुखं वा महाद्वाराभ्याशे निवेशयेत् ॥ कौ. २।२१।१

२. शुल्कादायिनश्चत्वारः पञ्च वा सार्थोपयातान्वणिजो लिखेयुः। के कुतस्ताथः कियत्पण्याः क्व चाभिज्ञान मुद्रा वा कृता इति ॥ कौ. २।२१।२,३।

३. अमुद्राणामत्ययो देयद्विगुणः। कूटमुद्राणां शुल्काष्ट गुणो दण्डः।
कौ० २।२१।४–५

"जो समान विवाह के लिए हो, विवाह के पश्चात् बर-बधु को जो दान में मिला सामान हो, उपहार में मिला हो, यज्ञकार्य और प्रसव आदि के लिए हो, देवपूजा, धार्मिक संस्कारों के निमित्त, गोदान और विशेष अवसर पर प्राप्त सामान बिना शुल्क दिये आ जा सकता है।"[1]

कुछ लोग शुल्क से बचने के लिए व्यापारिक सामान को भी व्यक्तिगत धार्मिक कृत्य वाला सामान बता देते हैं। ऐसे लोगों को झूठा होने पर चोरी जैसे कार्य का दण्ड देना चाहिए।

"जो व्यापारी कर की चोरी करने के लिए खराब सामान को छिपाये उसे शुल्क से आठ गुना दण्ड दिया जाये और जो अच्छे सामान को बुरा बताये उसका सामान अपहरण कर दिया जाना चाहिए।"[2]

कुछ इस प्रकार की सामग्री भी होती है जो राष्ट्र को हानि पहुँचाती है। इस प्रकार की सामग्री को राजा को नष्ट कर देना चाहिए और कुछ इस प्रकार की भी सामग्री है जो अपने राष्ट्र में अप्राप्य है। उसको अपने देश में आने पर शुल्क में पूर्ण मुक्ति कर देनी चाहिए। जैसा इस उद्धरण से अवगत हो रहा है :—

"राष्ट्र को पीड़ा देने वाला एवं अन्य किसी अच्छे फल को न देने वाले सामान को राजा नष्ट करवा दे और जो सामान प्रजा का अधिक उपकार करने वाला हो, उस सामान को शुल्क से मुक्त कर देना चाहिए जिसका बीज देश में दुर्लभ हो।"[3]

वस्तुओं पर किस अनुपात से शुल्क लगना चाहिए ?

आचार्य कौटिल्य ने वस्तुओं पर लगने वाले शुल्क को 'शुल्क व्यवहार' नाम से सम्बोधित किया है। वस्तुतः वस्तुओं पर किस अनुपात से शुल्क लगना

---

१. वैवाहिकमन्वायनमौपायनिकं यज्ञकृत्यप्रसवनैमित्तिकं देवेज्याचौलोपनयन-गोदान व्रत दीक्षणादिषु क्रियाविशेषेषु भाण्डमुच्छुल्कंगच्छेत् ॥
कौ० २।२१।२२

२. निगूहत फल्गुभाण्डं शुल्काष्ट गुणो दण्डः। सार भाण्डं सर्वोपहारः।
कौ० २।२२।३७-३८

३. राष्ट्रपीडाकरं भाण्डमुच्छिन्द्यादफलं च यत्।
महोपकारमुच्छुल्कं कुर्याद्बीजं तु दुर्लभम् ॥ कौ० २।२१।३९

चाहिए ? आचार्य कौटिल्य ने शुल्क को तीन प्रकार का माना है :—बाह्य, आभ्यन्तर और आतिथ्य ।[1]

१—बाह्यः—अपने देश में उत्पादित होने वाली वस्तुओं पर जो शुल्क लगता हैं उसे बाह्य कहते हैं ।

२—आभ्यन्तरः—राजधानी में उत्पन्न हुई वस्तुओं पर लगने वाले शुल्क को आभ्यन्तर कहते हैं ।

३—आतिथ्यः—विदेश से आने वाले सामान पर जो शुल्क लगता है उसे आतिथ्य कहते हैं ।

अन्तमें इन तीनों भेदों को दो भेदों में विभक्त कर दिया गया है ।

१—निष्क्राम्य (निर्यात) अपने देश से दूसरे देशों में भेजा जाने वाला सामान निष्क्राम्य (निर्यात) कह लाता है ।

२—प्रवेश्य (आयात) दूसरे देशों से अपने देश में आने वाले सामान को प्रवेश्य (आयात) कहते हैं ।[2]

'बाहर से अपने देश में प्रवेश होने वाले सामान पर मूल्य का पाँचवाँ भाग शुल्क लिया जाये' ।[3]

'पुष्प, फल, शाक, मूल, कन्द, बेलों पर लगनेवाले फल, बीज, सूखी मछलियों का मांस इन वस्तुओं पर इनके मूल्य का छठा भाग शुल्क लिया जावे ।''[4]

इस प्रकार के उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि शुल्काध्यक्ष, शुल्क व्यवहार यह सब संगठन, नगर-संगठन का सुव्यवस्थित रूप है । नगर संगठनों का भी अपना एक 'स्वायत्त शासन' होता था जैसा कि आजकल बड़े-बड़े शहरों में नगरपालिकायें हैं । जो अपने नगर क्षेत्र में प्रविष्ट होनेवाले सभी प्रकार के सामान पर चुंगी आदि लेते हैं । उसी प्रकार आचार्य कौटिल्य के युग में भी नगर संगठन एक स्वतन्त्र एकाई थी । अपने नगर की व्यवस्था चलाने के लिये उन्होंने आधुनिक चुंगी विभाग की तरह नगर में प्रवेश करते ही द्वार पर नगर

---

१. शुल्कव्यवहारो बाह्यमाभ्यन्तरं चातिथ्यम् ॥ कौ० २।२२।१

२. निष्क्राम्यं प्रवेश्यं च शुल्कम् ॥ कौ० २।२२।२

३. प्रवेश्यानां मूल्यपञ्चभागः । कौ० २।२२।३

४. पुष्पफलं शाकमूलकन्दवाल्लिक्यबीज शुष्कमत्स्यमांसानां षड्भागं गृह्णीयात् ॥ कौ० २।२२।४

में आनेवाली प्रत्येक चीज पर उस युग के निर्धारित शुल्क के अनुसार नगर शुल्क देना पड़ता था। वस्तुओं के मूल्य और उपयोगिता के अनुरूप ही शुल्क की धनराशि निर्धारित की हुई थी।

"नगर के प्रमुख द्वार पर बाहर से आने वाली वस्तुओं के अनुसार उनके निर्धारित शुल्क का पाँचवा भाग होना चाहिए।"[1]

इस प्रकार नगर संगठन की आर्थिक व्यवस्था को सुचारुरूप से चलाने के लिए नगर में प्रवेश होनेवाली सामग्री पर 'शुल्क' लिया जाता था। इस शुल्क व्यवस्था से नगर को आर्थिक संकटों का सामना नहीं करना पड़ता था। नगर संगठन की आर्थिक स्थिति अत्यन्त अच्छी प्रतीत होती है।

वस्त्रोद्योग एवं सूत कातने की व्यवस्था:—आचार्य कौटिल्यके अर्थशास्त्र का अध्ययन करने से विदित होता है कि उस युग में वस्त्र का उद्योग उन्नति की चरम सीमा पर था। सूत अनेक प्रकार से कात कर वस्त्रों को बनाने के काम में आता था। इस उद्योग के संगठन से ऐसा भी अवगत होता है कि शासक की ओर से जनता के असहाय वर्ग को अधिक से अधिक संख्या में कार्य दिया जाता था ऐसा भी प्रतीत होता है कि वस्त्र-उद्योग इतनी अधिक संख्या में प्रचलित था कि सूत कातने आदि के कार्यों से अनाथ, असहाय और काम चाहनेवाली महिलाओं को अत्यधिक सुगमता से काम मिल जाता था।

सूत को कतवाने, उसके गुणों को जानने, काते हुए सूत का परिश्रम के अनुसार पारिश्रमिक धन देने की व्यवस्था करने वाला राज्य की ओर से अधिकारी होता था जिसे 'सूत्राध्यक्ष' कहते थे।

"सूत्राध्यक्ष को चाहिए कि वह सूत कातने वर्म बनाने, वस्त्र निर्माण एवं रस्सी बटने के कार्यों को अच्छी प्रकार जाननेवाले कुशल कारीगरों के द्वारा इन कामों को कराये।"[2]

इस प्रकार के उद्धरण से ऐसा मालूम होता है कि देश में लघु उद्योगों का अत्यधिक प्रचलन था, जिससे वस्त्र-उद्योग, सूत कातने, रस्सी बटने और युद्ध में शरीर रक्षा के निमित्त वर्म (कवच) आदि चीजों का निर्माण करने के लिए श्रम करनेवाले अधिक संख्या में उपलब्ध हो जाते थे। अधिक दिनों से कार्य करने

---

१. द्वारादेयं शुल्कपञ्चभागम्, आनुग्राहिकं वा। यथादेशोपकारं स्थापयेत्॥ कौ० २।२२।८

२. सूत्राध्यक्षः सूत्रवर्मवस्त्ररज्जूव्यवहारं तज्जातपुरुषैः कारयेत्। कौ० २।२३।१

के कारण श्रमिक अधिक कुशल एवं अनुभवी भी सुगमता से प्राप्त हो जाते हैं। जिस कार्य का जिस क्षेत्र में अधिक प्रचलन या कार्य होता है वहाँ उसी कार्य को करनेवाले विशेषज्ञ और कुशल शिल्पि भी सुगमता से प्राप्त हो जाते हैं। जैसा कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अध्ययन करने से वस्त्र उद्योग, श्रमिकों की दक्षता स्त्रियों का भी इस वस्त्र-उद्योग में योगदान देना ही इस कार्य की सर्वप्रियता, लाभ का आधिक्य और उचित मजदूरी दिये जाने की व्यवस्था रही होगी। आर्थिक विकास करने जीवित रहने के लिए प्रत्येक व्यक्ति उसी कार्य करने की ओर अग्रसरित होता है जिसमें उसे अधिक लाभ अधिक धन मिलने और जीविका की आशा हो। वस्त्रोद्योग की दिशा में लोगों को अधिक लाभ और आजीविका प्राप्ति के अधिक सुयोग प्राप्त होते रहे हैं। जैसे :—

वस्त्रोद्योग द्वारा असहायक महिलाओं को सहायता :—

"ऊन, वल्क—पेड़ों की छाल को कूटकर निकले हुये रेशे, कपास, सेमल, सन, जूट इत्यादि को विधवा, अंगविकृत, कन्या, प्रव्रजिता, अपराधिन, वेश्याओं की वृद्धमाता, वृद्धा राजदासी और देवदासियों से सूत कतवाये।"[1]

इस उद्धरण से ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में रोजी, रोटी की समस्या के कारण कोई दुखी न रहे अतः ऐसी स्त्रियों को जिन्हें अब अवस्था और शारीरीक त्रुटि के कारण कोई सहायता देने वाला नहीं है। उन्हें राज्य की ओर से सहायता दी जाती थी। आर्थिक स्थिति के खराब होने पर ही स्त्री या पुरुष बुरे कार्यों की ओर प्रवृत्त होते हैं किन्तु प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्री आचार्य कौटिल्य ने आर्थिक समस्याओं को समाधान करने के लिये ऐसे लोगों को कार्य देकर योजनायें क्रियान्वित की हुई थीं।

श्रम के अनुकूल पुरस्कार (वेतन) :—आचार्य कौटिल्य सच्चा आर्थिक विचारक, सही गुणग्राही और सबसे बड़ा राष्ट्र निर्माता था। आज के युग में व्यक्ति की योग्यता का महत्त्व नहीं जिसके कारण राष्ट्र के निर्माण में बाधा उपस्थित हो रही है। जैसी योग्यता और क्षमता वाले व्यक्ति प्रशासन को चलायेंगे वैसा ही तो राष्ट्र बनेगा और उसका विकास भी उसी गति से होगा। इस व्यवस्था के सुधार के लिए कौटिल्य ने इस आदर्श को अपनाया था कि "जो

---

१. ऊर्णावल्ककार्पासतूलशणक्षौमाणि च विधवान्यङ्गाकन्याप्रव्रजिता दण्डप्रतिकारिणीभी रूपाजीवामातृकाभिर्वृद्धराजदासीभिर्व्युपरतोपस्थानदेवदासीभिश्च कर्तयेत्॥ कौ० २।२३।२

व्यक्ति जिस कार्य में कुशल है उसे उसी कार्य में नियोजित करना चाहिये ।"[1] क्योंकि ऐसा करने से उसे अपनी कुशलता, योग्यता, अनुभव. प्रतिभा, नवीनतम प्रयोग, उत्साह और अपने दायित्वपूर्ण कार्यों द्वारा बुद्धि चातुर्य दिखाने का सुयोग मिलेगा । ऐसे ही व्यक्तियों के द्वारा एक स्वस्थ परम्पराओं का निर्माण होगा और भविष्य की पीढ़ी के लिए एक आदर्श पथ का निर्माण होगा । ऐसे ही व्यक्तियों को प्रोत्साहित करने के लिए उनकी योग्यता, कार्य दक्षता पर पुरस्कार की योजना क्रियान्वित की हुई थीं । जैसे—इस उद्धरण में यह स्पष्ट हो जायेगा :—

"सूत की समता, मोटापन, न बुरा न अच्छा मध्यता को अच्छी प्रकार जानकर ही वेतन निर्धारण करना चाहिए । सूत के अधिक और कम की मात्रा को देखकर भी निर्धारण करें । सूत का प्रमाण (वजन) आदि देखकर उन सूत कातने वालों को उनकी आवश्यकता के अनुसार तेल, आंवला और प्रसाधन की सामग्री को देकर अधिक कार्य करने के लिए अनुगृहीत करे ।"[2]

इस प्रकार के प्रोत्साहन से अच्छे कार्य कर्ताओं में एक प्रकार की स्पर्धा और सत्यनिष्ठा की भावनायें जाग्रत होती हैं । यह प्रयास राष्ट्र के निर्माण में लाभदायक, आर्थिक विकास में सुख कारक और न्याय करने में निर्भीकता का परिचय देगा । ऐसी व्यवस्थाओं से श्रमिकों में कभी भी हड़ताल करने, काम न करने, व्यवधान डालने, तोड़-फोड़ करने और अन्याय के प्रति आन्दोलन करने की आवाज ही नहीं उठ सकती । ऐसे ही शान्तिपूर्ण वातावरण में राष्ट्र प्रगति की ओर बढ़ता है ।

ऋग्वेद में वस्त्र निर्माण का वर्णन :—

ऋग्वेद में वस्त्र अनेक स्थानों पर वस्त्रों का वर्णन आया है । सूर्य को पशुओं का स्वामी मानकर इस प्रकार कहा गया है :—

"यह सूर्यदेव सब पशुओं के स्वामी हैं । भेड़ की ऊन के वस्त्र को वही बुनते हैं और धोते हैं ।"[3]

---

१. यो यस्मिन् कर्मणि कुशलस्तं तस्मिन्नेव योजयेत् ।। चाणक्यसूत्र ११७

२. श्लक्ष्णस्थूलमध्यतां च सूत्रस्य विदित्वा वेतनं कल्पयेत् । बह्वल्पतां च । सूत्रप्रमाणं ज्ञात्वा तैलामलकोद्वर्तनैरेता अनुगृह्णीयात् ।। कौ० २।२३।३-४-५

३. आघोषमाणायाः पति शुचायाश्च शुचस्य च ।
वासोवायोऽवीनामा वासांसि मर्मृजत् ।।
ऋग्वेद १० मण्डल २६ सूक्त ६ मंत्र

वस्त्र उद्योग का भी प्रचलन हो चुका था, जैसा कि इस उद्धरण में वस्त्र बुनने का वर्णन हुआ है :—

"जैसे वस्त्र बुनने वाला वस्त्र को बढ़ाता है, वैसे ही तुम हमारे स्तोत्र की वृद्धि करते हो।"[१]

वस्त्रोद्योग और ऊनी वस्त्रों के विभिन्न आकार :—

आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अध्ययन करने पर भी यह विदित होता है कि प्राचीन भारतीयों को आधुनिक युग की भांति वस्त्रों को पहिनने का अत्यधिक शौक था और वे विभिन्न रंग, आकार और नमूनों के परिधानों को बनाते थे एवं पहनते थे। वस्त्र उद्योग अपनी अत्यधिक उन्नति पर था। इस व्यवसाय से राष्ट्रीय व्यवसाय का विकास, आर्थिक उन्नति और राष्ट्र को अन्य देशों से अर्थ की प्राप्ति भी होती थी।

विभिन्न आकारों के वस्त्रों, रंगों, चित्र विचित्र नमूनों को देखने से प्रतीत होता है कि भारत में वस्त्रोद्योग अति प्राचीन काल में विकसित हो चुका था। जिसका सुव्यवस्थित रूप आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अध्ययन को मिला है। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य का साम्राज्य प्राचीन भारतीय व्यापार कार्यों में अत्यन्त उन्नति पर था। कौटिल्य का अर्थशास्त्र इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

ऊन से प्राचीन भारतीय अनेक रंगों के कपड़े, बनाते थे। जैसा इस उद्धरण से विदित हो रहा है :—

वस्त्र श्वेत, लाल, लाल सफेद आदि अनेक रंगों के होते हैं।

बुनाई की दृष्टिकोण से भी ये वस्त्र चार प्रकार के होते थे। विभिन्न रुचि के अनुसार लोगों में रंग विरंगे वस्त्रों को पहनने का प्रचलन भी विदित होता है। प्रायः देखा जाता है कि बच्चे-महिलायें रंग-विरंगे, चित्रकारी युक्त एवं कसीदे की कारीगरी युक्त कपड़े जैसे आधुनिक युग में पहनते हैं वैसे ही भारतीय प्राचीन युग में भी पहनते थे। जैसा कि आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इस प्रकार वर्णन किया है :—

---

१. उभा उ नूनं तदिदर्थयेथे वि तन्वाथेधियो वस्त्रापसेव।

ऋग्वेद १० मंडल १०६ सूक्त १ मंत्र

२. शुद्धं शुद्धरक्तं पक्षरक्तं चाविकम्। कौ० २।११।१०२

"खचित[1], वानचित्र[2], खण्ड संघात्य[3] तन्तुविच्छिन्न[4] वस्त्रोद्योग में बनावट के दृष्टिकोण से वस्त्र निर्माण के चार भेद किये गये हैं।[5] पहनावे में लोग अनेक प्रकार के कपड़ों को धारण करते थे। इस प्रकार के उद्धरणों से विदित होता है कि लोग अनेक प्रकार के कपड़े पहनते थे। सूत का दुरुपयोग भी नहीं करते थे अपितु अनेक प्रकार के सूत के टुकड़ों को एकत्रित कर उनके भी वस्त्र बनाये जाते थे। गर्मी की ऋतुओं में पहनने के लिए जालीदार कपड़ों का भी प्रचलन था।

वस्त्र उद्योग का इतना सुव्यवस्थित विकास इस बात का द्योतक है कि 'मौर्ययुग' में प्रयोगात्मक रूप से परिधान अनेक प्रकार के बनते थे और विभिन्न प्रकार के वस्त्रों को लोग अपनाते थे जिनकी रुचि के अनुरूप वस्त्र निर्माता वस्त्रों का निर्माण करते थे।

वस्त्र निर्माण इस बात का भी परिचायक है कि उस युग के समाज की आर्थिक स्थिति में इतनी उन्नति थी कि भोजन-आच्छादन की चिन्ता में प्रजा दुखी न थी। मनुष्यों के पास इतना अर्थ था कि वे विभिन्न प्रकार के वस्त्रों को सुगमता से खरीद सकते थे। किसी वस्तु का भी उत्पादन तभी बढ़ता है जब उपभोक्ता उसकी अधिक मांग करते हैं। मांग तभी बढ़ती है जब क्रेता में वस्तु क्रय करने की शक्ति होती है। मनुष्य तभी क्रय कर सकता है जब उसकी आर्थिक स्थिति अत्यन्त उन्नत होती है। आर्थिक स्थिति तभी उन्नत हो सकती है, जब राज्य की ओर से अर्थ प्राप्ति के साधनों पर उदारता से ध्यान दिया जाता है या व्यापार करने की प्रजाजन को पूर्ण स्वतन्त्रता होती है अथवा आजीविका प्राप्ति के लिए सर्वतोमुखी द्वार खुल जाते हैं। आचार्य कौटिल्य के विभिन्न प्रकार के उद्योगों को देखकर यह कहना पड़ता है कि उसकी वितरण व्यवस्था, मूल्यवृद्धि नियन्त्रण, श्रम कल्याण, पूर्ण रोजगार का कार्यक्रम, लाभ की नीति, अपने कार्य में कुशल व्यक्तियों को प्रोत्साहन देना और समाज के अनुकूल

---

१. बेल-बूटेदार २. बुनती बार ही जिसमें फूल आदि के चित्र अंकित किये गये हों।

३. बुनाई से बचे हुये भिन्न-भिन्न प्रकार के खण्डों—(टुकड़ों) से बना हुआ कपड़ा।

४. जालीदार कपड़ा।

५. खचितं वानचित्रं खण्डसंघात्यं तन्तुविच्छिन्नं च। कौ० २।११।१०२

ग्राहकों की इच्छाओं का ध्यान रखकर उत्पादन की वृद्धि करना मुख्य उद्देश्य था। इन सभी का कारण राष्ट्रीय एकता के माध्यम से राष्ट्र को उन्नत और समृद्ध करना था।

वस्त्र उद्योग की उन्नति और वस्त्रों की अनेक रूपता इस बात का परिचायक है कि यह व्यवस्था अत्यन्त प्रगति पर थी। वस्त्रोद्योग में इतनी सफलता प्राप्त करना कोई दस-बीस वर्ष का कार्य नहीं अपितु इस प्रगति के पीछे प्राचीन भारतीय परम्पराओं का भी बहुत बड़ा हाथ है। इस प्रकार के प्रमाणों से प्राचीन भारतीय वस्त्र उद्योग का पूर्ण ज्ञान अवगत होता है। उस युग के कुशल कारीगिरों की कारीगिरी एव वस्त्रों के निर्माण में भी कला प्रेम परिलक्षित होता है।

निर्माण की दृष्टि से ऊन के कपड़े दस प्रकार के होते थे।

वस्त्रों के विभिन्न भेदों के कारण प्राचीन भारतीय समाज की परिधान धारण करने की रुचि का एवं इस क्षेत्र में वस्त्र निर्माताओं की दक्षता का पूर्ण ज्ञान विदित होता है। राष्ट्र औद्योगिक विकास द्वारा अपनी आर्थिक उन्नति में संलग्न था। जिस राष्ट्र के शासक उद्योगी हों, उस राष्ट्र की जनता उद्योगी होकर औद्योगिक कार्यों को आर्थिक लाभ के लिए अवश्य अपनाती हैं। आचार्य कौटिल्य ने वस्तुतः "अर्थ प्राप्ति का मूल कारण उद्योग को ही माना है।"[1] उद्योगी राष्ट्र आधुनिक युग में भी उद्योग के बल पर औद्योगिक प्रतिष्ठानों की स्थापना कर अपने देश की आर्थिक वृद्धि कर रहे हैं।

आचार्य कौटिल्य ने राष्ट्र की अभिवृद्धि के लिए, आर्थिक विकास के लिए, आजीविका की समस्या के समाधान के लिए, समान वितरण के लिए और व्यक्ति और राष्ट्र के हित के लिए विविध प्रकार के औद्योगिक कार्यों की स्थापना करने का शासक को निर्देश दिया हुआ था।

वस्त्र निर्माण में ऊन से बने हुये कपड़ों के १० भेद किये गये हैं :— "१—कम्बल २—कौचपक[2] ३—कुलमितिका[3] ४—सौमितिका[4] ५—तुरगा-

---

१. अर्थस्य मूल उत्थानम्।

२. कपच जैसा सिर की रक्षा करने वाला गरम कपड़ा। आधुनिक युग का मफलर जैसा अति मजबूत कपड़ा।

३. हाथी की पीठ पर सवारी के लिए रखा जाने वाला गरम मोटा सा कपड़ा—

४. सवारी किये जाने वाले जानवरों की पीठ पर सुन्दरता और मृदुता के लिए बिछाया जाने वाला कपड़ा।

स्तरण[1] ६—वर्णक[2] ७—तलिच्छक[3] ८—वारवाण ९—परिस्तोम[5] १०—समन्त-भद्रक। इस प्रकार ये कई प्रकार से बनाये जाने वाले गरम कपड़े भेड़ के बालों के द्वारा निर्मित होते थे। ये ऊन द्वारा निर्मित गरम कम्बल आदि मनुष्यों की सुरक्षा के ही काम में नहीं आते थे अपितु पशुओं की सवारी के समय सुरक्षा के लिए भी कार्य में आते थे।"[6]

प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्री आचार्य कौटिल्य ने आर्थिक विकास की दृष्टि से वस्त्रोद्योग को विशेष महत्त्व दिया है। जिस प्रकार पूर्व वर्णित प्रसंग में सूती वस्त्रों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है उसी प्रकार इस प्रसंग में गरम वस्त्रों के निर्माण एवं आकार प्रकार में उससे भी अधिक ध्यान दिया गया है।

इस प्रकार के प्रसंगों से प्राचीन भारतीय सूती और ऊनी वस्त्रोद्योग का ज्ञान होता है। इस प्रकार के औद्योगिक प्रतिष्ठानों का पूर्णरूप से राष्ट्रीयकरण था। अधिक से अधिक लोगों को आजीविका मिले और अधिक से अधिक उत्पादन हो एवं श्रमिकों के कल्याण का भी पूर्ण ध्यान रखा जाता था।

इस प्रकार वस्त्रोद्योग एक सुव्यवस्थित योजना के अनुसार चलाये जाते थे। सूती-ऊनी वस्त्रों के उत्पादन से प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों की अर्थ संग्रह करने की नीति का अच्छा ज्ञान प्राप्त होता है। इस उद्योग से शासन को, श्रमिकों को, आजीविका पाने वालों को और उपभोक्ताओं को बहुत बड़ा लाभ होता था।

वस्त्रोद्योग में और भी अनेक कामों में आने वाले वस्त्रों का वर्णन एवं पूर्व वर्णित ऊनी कम्बलों में अच्छे गुण वाले कम्बलों की इस प्रकार विशेषता बताई गई है। अच्छे कम्बल कौन माने जायेंगे ?

जो चिकना, चमकदार, सूक्ष्म बिने हुये ऊन का कोमल कम्बल ही उत्तम समझा जाता है।[8]

---

१. घोड़े की पीठ पर रखा जाने वाला मोटा गरम कपड़ा जो काठी के नीचे घोड़े की पीठ की सुरक्षा के लिए रखा जाता था।

२. रंगीन कम्बल ३ अत्यन्त मोटा बिछौने के नीचे रखा जाने वाला कम्बल।

४. गरम कुर्त्ता एवं मिरजई के योग्य गरम कपड़ा।

५. बनावट और नमूने की दृष्टि से कुछ विशिष्ट प्रकार का कम्बल।

६. सुन्दरता की दृष्टि से कई रंगों से युक्त चार खाने वाला कम्बल।

७. कम्बलः कौचपकः कुलमितिका सौमितका तुरगास्तरणं वर्णकं तलिच्छकं वारवाणः परिस्तोमः समन्तभद्रकं चाविकम्। कौ० २।११।१०४

८. पिच्छलमार्दमिव च सूक्ष्मं मृदु च श्रेष्ठम्। कौ० २।११।१०५

स्त्री, पुरुषों के ओढ़ने के दुकूल-दुशालों का भी कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णन आया है। राष्ट्र के भिन्न-भिन्न भागों में भी ये दुशाले बनाये जाते थे। कुछ दुशालों का नाम उत्पादित स्थानों के नाम पर ही प्रसिद्ध हुआ विदित होता है।

१—वाङ्गल :—बंगाल देश में उत्पादित होने वाला दुशाला श्वेत रंग का और मुलायम होता है।

२—पौण्ड्रक :—पुण्ड्र देश में उत्पादित दुशाला काले रंग का और मणि के समान कोमल होता है।

३—सौवर्णकुड्यक :—आसाम का उत्पादित दुशाला सूर्य के चमकते हुये रंग के समान होता है।[1]

आधुनिक औद्योगिक युग के उद्योग प्रतिष्ठानों में आज अशान्ति, आक्रोश, शोषण के विरुद्ध आवाज, तालाबन्दी, हड़ताल, आंदोलन, नारेबाजी और घाटा क्यों हो रहा है? इसका मूल कारण अव्यवस्था, अयोग्यव्यक्तियों का चयन एवं उनके द्वारा संचालन, झूठी मुनाफाखोरी, श्रमिकों का शोषण और पूँजीवादी व्यवस्था है। आचार्य कौटिल्य ने अपनी राज्यतन्त्रीय व्यवस्था होने पर भी राष्ट्र, राज्य, व्यक्ति और उद्योग कार्य का हित सोचते हुए ऐसा माना है। यदि श्रमिक अधिक और कर्तव्यनिष्ठ होकर कर्म करते हैं तो उनके श्रम से उपार्जित अधिक पूँजी का लाभांश देने में उन्हें क्या हानि है? प्रोत्साहन, उचित वेतन और लाभांश पाकर श्रमिक अधिक तत्परता से अधिक ही कार्य करेगा एवं उसका मन कभी भी विद्रोह की भावनाओं से प्रभावित नहीं होगा। सदा से संसार में अन्याय, शोषण, अपहरण और अनियमितता के कारण ही सुधार के लिए क्रांतिकारी विचारधाराओं का जन्म हुआ है और होता है। श्रमिक अपने श्रम का उचित पुरस्कार चाहता है। उसे रोजी रोटी देने वाली न्यायप्रिय व्यवस्था ही अच्छी लगती है। वह बाध्य होकर ही विद्रोह की आवाज उठता है। आदर्शवादी और मानवतावादी विचारधारायें ही समन्वयवाद ला सकती हैं। भौतिकवादी विचारधारा श्रमिकों का शोषण कर पूंजीवाद की ओर अग्रसरित होती हुई कठोरता का व्यवहार अपनाती है। इसीलिये आज संसार में पूँजीपतियों और श्रमिकों का आन्दोलन उग्ररूप लिये हुए हैं। पूंजीपति श्रमिकों को लाठी और गोली के बल पर जीतना चाहता है। इसके साथ ही साथ

---

१. वांगक श्वेतं स्निग्धं दुकूलं पौण्ड्रकं श्यामं मणिस्निग्धं सौवर्णकुड्यकं सूर्यवर्णम् ॥ कौ० २।११।१०८

उद्योग प्रतिष्ठानों पर तालाबन्दी कर श्रमिकों को भूखा मारना चाहता है। इस प्रकार की समस्याओं का समाधान ढूँढने के लिए प्रगतिवादी विचारधारा के लोग **'राष्ट्रीय करण'** की और झुकने लगे हैं कुछ दिन के पश्चात् ये राष्ट्रीय करण की भावनाएँ साम्यवादी देशों की नीति पर आधारित हो जायेंगी। इस विचारधारा में आगे चलकर एक बहुत बड़ी त्रुटि जो आयेगी वह यह आयेंगी कि व्यक्ति में कम काम करने की संयुक्त परिवार जैसी भावनाएँ आजायेगी। उसे यह विश्वास हो जायेगा कि भोजन तो मिलेगा ही कार्य कम करो या अधिक अतः राष्ट्रीय करण के लिए राष्ट्रीय चरित्र को सबसे पहले उठाना आवश्यक होगा अन्यथा राष्ट्रीय करण में सफलता नहीं मिल सकती है। राष्ट्र प्रेम की भावनाएँ ही राष्ट्रीय करण को दृढ़ कर सकती हैं। राष्ट्रीय करण करने में सर्वोच्च शासकों को राष्ट्र के हित के लिए अपना त्यागमय जीवन, अधिक संग्रह न करने की प्रवृत्ति, स्वार्थ की भावनाओं का परित्याग और योग्य, दक्ष एवं कर्मनिष्ठ व्यक्तियों का चयन करते हुए अपना रचनात्मक कार्य प्रस्तुत करना होगा। प्रायः राष्ट्रीय करण होती बार समाज में राष्ट्रीय करण वाली वस्तुओं का सर्वथा अभाव हो जाता है और पूंजीपति ही प्रारम्भ में इससे लाभान्वित होते हैं। इस प्रकार का अभाव और शोषण से प्रजा दुःखी हो जाती है और राष्ट्रीय करण के प्रति उनकी आस्था उठ जाती है। इस अव्यवस्था से राष्ट्रीय करण के प्रति जनता की भावनाएँ बुरी हो जाती हैं। इस प्रकार की व्यवस्था से पूंजीवादी व्यवस्था को प्रोत्साहन मिलेगा और समाजवादी विचारधारा एवं 'राष्ट्रीय करण' की योजना के सफल होने में बहुत बड़ी बाधा उपस्थित होगी। राष्ट्र प्रेम, राष्ट्रीय चरित्र बिना शासकों के त्यागमय जीवन उपस्थित करने के नहीं आ सकता है। पूंजीवादी व्यवस्था को छोड़ने से ही अधिक प्रजाजन का सहयोग प्राप्त होगा। 'राष्ट्रीय करण' राष्ट्र के हित में अच्छी चीज है किन्तु जब इसकी प्रक्रिया पूंजीवादी व्यवस्था पर आधारित न हो।

शिल्पियों को सम्मानित और पुरस्कृत भी किया जाता था :—

आचार्य कौटिल्य ने औद्योगिक कार्यों के संचालन के लिए श्रमिकों का सहयोग परम आवश्यक माना है और कार्य सिद्धि के लिए, उनके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये इस पर अपने विचार उस प्रकार व्यक्त किये हैं :—

"काम को करते समय जिन श्रमिकों के साथ जिस प्रमाण से काम, समय

और वेतन का निश्चय किया जा चुका हो ऐसे श्रमिकों और शिल्पियों से कार्य समाप्ति तक वैसा ही सम्बन्ध रखना चाहिये।"[1]

ऐसा व्यवहार करने से श्रमिक निष्ठा और इमानदारी से कार्य करेगा और राष्ट्र के हित में यह लाभप्रद होगा। आचार्य कौटिल्य ने व्यक्ति की नहीं अपितु व्यक्तित्व और गुणों की पूजा पर बल देते हुये गुणी शिल्पियों को सम्मानित स्थान दिया है। गुणी शिल्पियों, श्रमिकों को अर्थ वृद्धि के लिए सूत्राध्यक्ष समय-समय पर पुरस्कार आदि देता रहे। जैसे :—

"रेशमी वस्त्र, दुसाले, क्रिमितान रंकु नाम के मृग के ऊन से और कपास के सूत को कतवाते, बुनवाते हुये सूत्राध्यक्ष गन्ध मालादि पुरस्कार आदि देता हुआ प्रसन्न रखे। इस प्रकार उनसे अनेक वस्त्र, आस्तरण, (विछौने वाले गुदमा जैसे कपड़े) और प्रावरण (ओढ़ने वाली चादर) आदि बनावे।"[2]

इस प्रकार के उद्धरणों से अवगत होता है कि आचार्य कौटिल्य के समय **'वस्त्रोद्योग'** परम-उन्नति पर था। सूती-ऊनी, रेशमी सभी प्रकार के वस्त्रों का प्रचलन था एवं लोगों का आर्थिक स्तर इतना उन्नत था कि पहनने के कपड़ों के अतिरिक्त लोग ऊनी, सूती और रेशमी कपड़ों को विछौने एवं आढ़ने के काम में भी लाते थे। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के वस्त्रों का देश में उत्पादन होता था और जनता राष्ट्र में उत्पादित होने वाले वस्त्रों को अधिक मात्रा में प्रयुक्त करती थी। खपत के अनुसार उत्पादन भी अधिक मात्रा में विभिन्न आकर्षक रीतियों से होता था। 'कारु' और 'शिल्पि' अपनी कला का चमत्कार वस्त्रोत्पादन में दिखाते थे।

आचार्य कौटिल्य ने मोटे रूप से कार्य करने वाले को **'कारु'** नाम की संज्ञा दी है और सूक्ष्म कारीगिरी का कार्य करने वाले को **'शिल्पि'** नाम दिया है।

पारिवारिक सम्भ्रान्त महिलाओं को भी जीविका के लिये कार्य दिया जाता था :—

सम्भ्रान्त, घर से बाहर कार्य न करने वाली और हस्तकला द्वारा अपनी

१. कृतकर्म प्रमाणकाल वेतनफल निष्पत्तिभिः कारुभिश्च कर्म कारयेत्प्रतिसंसर्गं च गच्छेत् ॥ कौ. २।२३।८

२. क्षौमदुकूल क्रिमितानराङ्कवकार्पास सूत्रवान कर्मातांश्चप्रयुञ्जानो गन्धमाल्यदानैरन्यैश्चौपग्राहिकैराधयेत्। वस्त्रास्तरणप्रावरणविकल्पानुत्थापयेत् ॥ कौ. २।२३।९—१०

जीविका चलाने वाली महिलाओं को भी सम्मान के साथ उनके घर पर ही काम भेजने की व्यवस्था सूत्राध्यक्ष के माध्यम से आचार्य कौटिल्य ने की हुई थी। कई बार समाज में ऐसा भी देखा जाता है कि परिस्थिति वश अच्छे लोग भी कष्ट में आ जाते हैं और वे अपने परिश्रम के बल से ही सम्मान के साथ समाज में जीना चाहते हैं। वे लोग भिक्षावृत्ति, भ्रष्टाचार और आचार हीनता के द्वारा जीवित रहना जघन्य कार्य समझते हैं। ऐसे ही लोग समाज और राष्ट्र के निर्माता होते हैं। परिस्थितियों से घबराते नहीं। ऐसे लोगों की जीविका के लिए भी इस वस्त्रोद्योग के उत्पादन के कार्य में समुचित व्यवस्था थी :—

"जो महिलायें अपनी नारी सुलभ लज्जा के कारण घर से बाहर न आ सकती थीं, जिनके पति विदेश गये हुये हों, विधवा, विकलांग हों और कन्यायें हों एवं स्वावलम्बी बनकर जीवन यापन करना चाहती हों ऐसी महिलाओं के लिये सूत्राध्यक्ष को चाहिये कि अपनी दासियों या स्त्री कर्मचारियों द्वारा सूत कतवाने का काम सम्मान के साथ करावें।"[1]

इस प्रकार की जीविका देने की व्यवस्था यह प्रमाणित करती है कि समाजिक नियमों का पालन जनता अच्छी प्रकार करती थी और समाज में आचार हीनता न आये। अतः सम्मान के साथ उन महिलाओं की परिस्थितियों के अनुकूल राज्य की ओर से घर पर ही दासियों के द्वारा सूत भेजने की व्यवस्था की गई थी। ये प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों की चिन्तन शक्ति, व्यापारिक कुशलता, आर्थिक विकास कार्य, एवं आजीविका की समस्या औद्योगिक कार्यों की सफलता के ज्वलन्त प्रमाण हैं।

सम्भ्रान्त महिलाओं के कार्य का उचित वेतन द्वारा भुगतान :—

वस्त्रोद्योग में अपने श्रम द्वारा सहयोग देने वाली महिलाओं को उचित और कार्य सम्पादन करने के तत्काल बाद भुगतान की व्यवस्था की हुई थी। जिससे उन्हें किसी प्रकार का आर्थिक संकट और जीविका चलाने में कष्ट न हो। अतः तत्काल भुगतान व्यवस्था की हुई थी।

"जो स्त्रियाँ स्वयं सूत लेकर प्रातः काल ही सूत्र-शाला में पहुँचें उनके

---

१. याश्चानिष्कासिन्यः प्रोषितविधवा न्यङ्गा कन्यका वात्मानं विभृयुस्ताः स्वदासिभिरनुसार्य सोपग्रहं कर्म कारयितव्याः ॥ कौ. २।२३।१२

सामान का उचित वेतन द्वारा हिसाब कर देना चाहिये। सूत्र की परीक्षा मात्र के लिए दीप जलाया जाये।"[1]

इस प्रकार के उद्धरण से उस युग के लोगों की पवित्र दृष्टि, शासक वर्ग की सदाचारिता एवं कर्मचारी तन्त्र की कर्तव्य निष्ठा का ज्ञान होता है। ऐसा समाज अपने राष्ट्र का उत्थान और अपनी आर्थिक उन्नति क्यों नहीं करेगा। ऐसा ही उद्योगी समाज सुखी और धन-धान्न सम्पन्न रह सकता है।

कार्य करने वालों की प्रतिष्ठा का ध्यान :—वस्त्रों के उद्योग में सहयोग देने वाली महिलाओं की प्रतिष्ठा का राज्य की ओर से विशेष ध्यान और संरक्षण का अच्छा प्रबन्ध था। इसका मुख्य उद्देश्य औद्योगिक प्रतिष्ठानों को अधिक उत्पादन बढ़ाने की ओर प्रोत्साहित करना था। उद्योग प्रतिष्ठान बिना श्रमिकों के, सहयोगियों के, श्रम कल्याण के, उनकी आवश्यकताओं, सुख-सुविधाओं का ध्यान रखे बिना उन्नत नहीं हो सकते हैं। मनुष्य सचमुच एक समय में कुशलता से एक ही कार्य कर सकता है। कार्य की सफलता का मूल मंत्र एकाग्रता और कर्तव्यनिष्ठा है। यहाँ तक कि अच्छे लोगों ने कर्तव्य को ईश्वर माना है और भावनाओं से कर्तव्य को उँचा माना है। जो लोग इस प्रकार के विचारों से प्रभावित होंगे वे स्वयं अपने कार्य में इतने व्यस्त होंगे कि उन्हें दूसरी व्यर्थ की की बातों को सोचने का समय ही न होगा। अतः आचार्य कौटिल्य ने राज्य के अधिकारियों को कर्तव्य विमुख होने से रोकने के लिए दण्ड का प्राविधान किया है:—

"सूत कातकर सूत्राशाला में पहुँचने वाली स्त्रियों का मुख देखने और अन्य कार्यों सम्बन्धी सम्भाषण करने पर पूर्व साहस दण्ड दिया जाये।"[2]

प्रायः नियत समय पर वेतन न दने से श्रमिक को कष्ट और आर्थिक उन्नति के कार्यों में सहसा बाधा आने की आशंका रहती है। अतः आर्थिक विचारक कौटिल्य ने नियत समय पर वेतन न देने पर वेतन का भुगतान करने वाले अधिकारी को दण्ड देने को कहा है, क्योंकि आर्थिक विकास और उद्योग के कार्यों में कार्य करने वाले जिस तत्परता से काम कर रहे हैं उसी तन्मयता से वेतन बाँटने वाले को वेतन नियत समय पर दे देना चाहिए। जबकि उन्हें यह

---

१. स्वयमागच्छन्तीनां वा सूत्रशालां प्रत्युषसि भाण्डवेतनविनिमयं कारयेत्। सूत्रपरीक्षार्थमात्रः प्रदीपः। कौ. २।२३।१३—१४

२. स्त्रिया मुखसंदर्शनेऽन्यकार्यसंभाषायां वा पूर्वः साहस दण्डः॥ २।२३।१५

वेतन का धन अपने पास से नहीं राष्ट्र के कोष से देना है। समय पर काम न करना अपने कर्तव्य की अवहेलना और राजाज्ञा की अवज्ञा करना है। लोभ की प्रवृत्ति के कारण बिना काम करने वाले को लोग वेतन दिला देते हैं। शासन सदा कठोरता से ही होता है और भिक्षा सदा नम्रता से ही मांगी जाती है। शासक का हृदय कोमल होता है किन्तु सज्जनों के लिए और अत्यन्त कठोर होता है दुष्ट एवं भ्रष्टों के लिए। इस प्रकार कौटिल्य के हमें दोनों पक्ष दिखाई देते हैं :—

समय पर कार्य करने वालों को वेतन न देने पर मध्यम साहस दण्ड देना चाहिए और बिना काम करने वाले को भी मध्यम साहस दण्ड देना चाहिये।''[१]

राष्ट्र की धनराशि का दुरुपयोग करने वाले, अपहरण करने वाले और सामान को छिपाने वाले कर्मचारियों को दण्ड दिया जाना चाहिए। जिससे यह भ्रष्टाचार की बीमारी समाज के अन्य लोगों में न फैले। अतः कठोरता का व्यवहार शासन द्वारा अपनाया गया है :—

''जो वेतन लेकर भी काम न करे, उसका अंगूठा कटवा दिया जाये और सामान को खा जाये, अपहरण करले एवं छिपा लें। कर्मचारियों को अपराध का दण्ड, वेतन-दण्ड के रूप में दिया जाये।''[२]

चर्म उद्योग :—

आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र में जहाँ वस्त्रों उद्योग को महत्व दिया गया है। वहाँ दूसरी ओर चर्म का भी वर्णन किया है। चर्म का वर्णन फल्गु पदार्थों में किया गया है और उनमें चर्म को सर्व प्रथम स्थान दिया गया है। चर्म उद्योग में गुण की दृष्टि से चमड़ा १५ प्रकार का माना गया है। चमड़े के सर्वप्रथम दो भेद किये गये हैं :—

१—कान्त नावक २—प्रेयक और इन दोनों नामों का चमड़ा उत्तर पर्वत में पाया जाता है। ऐसा प्रतीत होता कि हिमालय में कान्तनावक और प्रेयस नाम के दो स्थान थे। उन स्थानों के नाम पर ही इन चमड़ों का नाम पड़ गया।[3]

उन दोनों प्रकार के चमड़ों का रंग एवं आकार आदि का भी अर्थशास्त्र में विवरण दिया गया है। 'कान्तानावक' चमड़ा मोर की ग्रीवा के समान शोभा

---

१. वेतनकालतिपातने मध्यमः। अकृतकर्म वेतन प्रदाने च।
कौ० २।२३।१६-१७

२. गृहीत्वा वेतनं कर्माकुर्वन्त्याः अंगुष्ठसंदंशं दापयेत्।
भक्षितापहृतावस्कन्दितानां च। वेतनेषु च कर्मकराणामपराधतोदण्डः।
कौ० २।२३।१८-१९-२०

३. कान्तनावकं प्रेयकं चोत्तरप्रर्वतकं चर्म॥ कौ० २।११।७७

वाला होता है। 'प्रेयक नामक नीले पीले रंग का मिश्रित एवं श्वेत रंग, रेखा, बिन्दु वाला होता है। दोनों चमड़ों का आकार आठ अंगुल का माना गया है।[१]

इस प्रकार के चमड़े के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में चमड़े का प्रचलन भी अधिक मात्रा में था। जूते पहनने के अतिरिक्त और कार्यों में भी चमड़ा प्रयोग में आता रहा होगा चमड़े के कई भेद इस प्रकार बताये गये हैं :—

१. बिसी २. महाबिसी ३. श्यामिका ४. कालिका ५. कदली ६. चन्द्रोत्तरा ७. शाकुला ८. सामूर ९. चीनसी १०. सामूली ११. सातिना १२. नलतूला १२ वृतपुच्छा १३. आद्रा और दो भेद १४. कान्तनावक १५. प्रैयस। ये चमड़े के इस प्रकार पन्द्रह भेद हुए।

इन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि चर्म उद्योग भी उन्नति पर था। चमड़ा भी कई प्रकार का होता था। "चमड़ों में भी सबसे उत्तम चमड़ा उसे माना जाता है, जो मुलायम, चिकना और अधिक बालों वाला होता है।"[२]

ऋण और ब्याज की दरें :—

मनुष्य किसी भी कार्य को अपने लाभ और अर्थ वृद्धि के लिए ही करता है। यदि किसी कार्य में अर्थ लगाकर उसे कुछ न मिला तो उसका उस धन को लगाने का क्या लाभ ? अर्थव्यवस्थापक मनु और आचार्य शुक्र ने 'वार्ता' शब्द का विवेचन करते हुए 'कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा और 'कुसीद' को वार्ता कहा है।

'कुसीद' शब्द का प्रयोग साहूकार-सेठ व्यक्ति और ब्याज वृद्धि के लिए हुआ है। 'कुसीद' उस वस्तु को कहते हैं जो ब्याज सहित लौटायी जाय। प्राचीन आर्थिक विचारकों ने ऋण पर ब्याज की दरें निर्धारित की हैं। जिससे अर्थवान् अपने अर्थ पर ऋण लेने वाले से अधिक सूद-ब्याज न लेलें। ब्याज प्राप्ति के कार्य को कुसीद कहते हैं। अधिक सूद लेने से व्यक्ति केवल 'सूदखोद' या शोपणकर्ता हो जायेगा। अतः प्राचोन भारतीय आर्थिक विचारकों ने सूद की दरें इस प्रकार निश्चित की हैं :—

"कुसीद-ऋण के धन से ब्याज के धन की वृद्धि दुगने से अधिक नहीं होनी चाहिए।"[3]

---

१ कान्तनावकं मयूरग्रीवाभम्। प्रैयकं नीलपीतं श्वेतं लेखिबिन्दूचित्रम्। तदुभयमष्टांगुलायामन्॥ कौ० २।११।७८-७९-८०

२. चर्मणां मृदु स्निग्धं बहुलराम च श्रेष्ठम्॥ कौ २।११।१०१

३. कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहृता। मनु ८।१५१

आचार्य कौटिल्य ने ऋण लेने देने की व्यवस्था पर अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं :—

"सौ पण पर एक मास में सवा १¼ पण से अधिक ब्याज-वृद्धि नहीं लेनी चाहिए।"[1]

इस प्रकार के उद्धरणों से यह विदित होता है कि प्राचीन भारत में लोग अत्यन्त आर्थिक सम्पन्न थे और व्यापार कार्य भी अधिक उन्नति पर था। लोग व्यापारिक कार्यों के लिए या किसी विशेष आवश्यकता के कारण ऋण भी लेते रहे होंगे। कुछ लोग अधिक धनवान् होने के कारण ऋण देने का ही कार्य करते रहे होंगे। ऋण पर धन देनेवाला व्यक्ति तो अर्थ वृद्धि के लिए ही यह कार्य करता है। अर्थ वृद्धि के लालच से ऋणदाता-धनवान् मनमाने के रूप से व्याज ले सकता है। अतः इस व्याज की समस्या को समाधान करने के लिए आचार्य कौटिल्य ने अर्थवृद्धि व्याज की दर सौ पर सवा रुपया मासिक निश्चित किया। यह व्याज सर्वसाधारण के लिए था। भिन्न-भिन्न व्यवसाय करनेवालों को व्याज की भिन्न-भिन्न दरें निश्चित का गई हैं।

व्यापार कार्य के लिए लिया जाने वाला ऋण अर्थ वृद्धि के उद्देश्य से लिया गया है। व्यापारी एक दिन में अधिक से अधिक धन प्राप्त कर सकता है। अतः उस पर व्याज की दर बढ़ जाती है। जैसे :—

"व्यापारियों पर व्याज की दर **पांच** पण होनी चाहिए।"[2]

"जो लोग जंगल में ही रहते हैं या वहीं व्यापार करते हैं उन पर ब्याज की दर **दस** पण होनी चाहिए।"[3]

इसके अतिरिक्त अधिक दूर कार्य करने वाले और लाभ का कार्य करने वालों पर व्याज की **दर** अधिक बढ़ जाती है। जैसे :—

"समुद्र में आने जाने अथवा वहाँ व्यापार करनेवालों से **बीस** पण व्याज लेना चाहिए।"[4]

इस प्रकार पूर्ववर्णित व्याज की दरों से अधिक यदि कोई ऋणदाता व्याज लेता है तो उसे दण्ड देने तक की प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों ने व्यवस्था दी है :—

---

१. सपादपणा धर्म्या मासवृद्धिः पणशतस्य। कौ० ३।११।१
२. पञ्चपणा व्यावहारिकी। कौ० ३।११।२
३. दशपणा कान्तारगाणाम्। कौ० ३।११।३
४. विंशतिपणा सामुद्राणाम्॥ कौ० ३।११।४

"निर्धारित दर से अधिक व्याज लेने और देनेवालों को पूर्व साहस दण्ड दिया जावे।"[1]

इस नियमों को इसी लिए बनाया गया होगा कि ऋणदाता अपनी अधिक अर्थवृद्धि की लोभ की वृत्ति से जनता का शोषण न कर सकें। अतः एक निर्धारित दर निश्चित कर दी गई थी। उसके पश्चात् भी यदि वह राज्य नियमों का पालन नहीं करता तो उसे दण्डित करने की व्यवस्था की गई थी। इस व्यवस्था के भय से मनमाने तौर पर ऋण लेने वालों का शोषण नहीं होगा।

कई बार ऐसा भी देखा जाता है कि व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए व्यक्ति समाज और राष्ट्र को भी हानि पहुँचा देता है। अतः प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने राष्ट्र के हित को दृष्टि में रखते हुए ऋण लेने और ऋण देने वाले की गति विधियों या शासक को विशेष ध्यान देने की राय दी है। जैसा कि इस उद्धरण में स्पष्ट है :—

"धनिक (ऋण देनेवाले) और धारणि (ऋण लेने वाला) के कार्यों अथवा अनुबन्ध से राज्य के योग क्षेम (सुख-कल्याण) पर प्रभाव पड़ता हो तो शासनाधिकारी को चाहिए कि वह उनके चरित्र को देखता रहे।"[2]

राष्ट्र हित, देश की सुरक्षा का भी इस उद्धरण में ध्यान रखा गया है। अर्थ के लोभ से अर्थवान् बड़े-बड़े अनर्थकारी कार्य कर सकते हैं। शत्रु देश से मिलने के कारण भी तो दोनों ऋण देने और लेने वाले मिलकर षड्यन्त्र रच सकते हैं। अतः इस प्रकार के अनुबन्धों में शासक को सतर्क रहने के विषय में कहा गया है।

कई बार अर्थ प्राप्ति के लिए अर्थवान् और ऋण लेनेवाला अपने लाभ के लिए राष्ट्र में उत्पन्न होनेवाली सामग्री को दूसरे देशों में अधिक मूल्य पर बेचने के लाभ से इस ऋण योजना को चलाना चा रहे हों। इस लाभ प्राप्ति से यह भी देखना होगा कि अपने राष्ट्र को उस सामग्री के निर्यात करने पर किसी प्रकार की क्षति और जनता को संकट का सामना तो नहीं करना पड़ रहा है। ऐसी स्थिति में यह ऋण देना लेना राष्ट्र के हित और कल्याण में हानिकारक है। अतः इस प्रकार के ऋण देने लेने के कार्यों पर शासन के अधिकारियों की कठोर दृष्टि रहती थी।

---

१. ततः परं कर्तुः कारयितुश्च पूर्वः साहसदण्डः ॥ कौ० ३।११।५
२. राजन्ययोगक्षेमवहे तु धनिकधारणिकयोश्चरित्रमवेक्षेत ॥ कौ० ३।११।७

व्यापारियों पर नियन्त्रण :—आचार्य कौटिल्य ने जिस प्रकार शासन के संचालन के लिए कर्मचारी तन्त्र और अधिकारियों पर पूर्ण नियन्त्रण पाने का कार्य कर उनकी लोभी प्रवृत्तियों, अकर्मण्यता आदि के द्वारा आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक विकास की ओर ध्यान दिया। उसी प्रकार व्यापार जगत् पर भी उनकी मूल्यवृद्धि, मुनाफाखोरी, कम तोलने की प्रवृत्ति, जमाखोरी, आदि कार्यों द्वारा जनता को दुःखी करना और शासन को अयोग्य प्रमाणित कर मन-मानी तरह व्यापार करना ऐसी प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण पाने के लिए कुछ प्रबन्ध इस प्रकार किए हैं।

जिस प्रकार शासन के संचालन में नौकरशाही का बहुत बड़ा हाथ है। उसी प्रकार शासन की जीवनोपयोगी सामग्री पर व्यापारी वर्ग का उससे भी अधिक प्रभाव है। वे मनमाने भाव और जीवनोपयोगी वस्तुओं को छिपाकर बाजार में अभाव दिखा कर जनता और शासन को परेशान करते हैं।

यह सचमुच वास्तविक सत्य है कि व्यापारी व्यापार को किसी लाभ के लिए ही करता है किन्तु इतना लाभ होना चाहिये जिससे सर्वसाधारण जनता की क्रय शक्ति नष्ट न हो सके। लोग उस मूल्य वृद्धि को दुःखी होकर अनुभव न करें। उस व्यापार में मुनाफाखोरी, चोर बाजारी, धोखाधड़ी, मनमानी भाव वृद्धि और कम तोलने की मनोवृत्ति नहीं आनी चाहिये। समाज में जब जनता ऐसी विषम परिस्थितियों में जीवित रहना एक घुटन सा अनुभव करती है उस समय व्यापारियों का अत्याचार, सरकार का भ्रष्टाचार समाज के सामने नग्न रूप लेकर खड़ा हो जाता है। क्या कारण है कि जिनके हाथ में शासन की समस्त सत्ता है वे भी व्यापारियों के इस प्रकार के मनमाने क्रय-विक्रय की नीति पर नियन्त्रण नहीं पा सक रहे हैं? वह शासन-शासन कहलाने का अधिकारी नहीं अपितु व्यापारियों से धन एकत्रित कर उन्हें समाज को लुटने का खुली छूट देकर अपने स्वार्थों के लिए ऐसा करता है।

व्यापारी अपने लाभ के लिए जब शासकों को चन्दे के रूप में, रिश्वत के रूप में, उपहार के रूप में करोड़ों रुपये दे देगा तो वह उस धन को कहाँ से कमायेगा? केवल गरीब जनता का शोषण करके ही मूल्य वृद्धि द्वारा ही तो वह प्राप्त कर सकता है।

समाज में जब ऐसी स्थिति आती है उस समय आचार्य कौटिल्य की शासन पद्धति, व्यापारिक नीति काम में आ सकती है। व्यापारियों के पूर्व वर्णित मनमाने भावों पर कैसे नियन्त्रण पाया जाता है। इसे इस प्रसंग में देखें :—

"संस्थाध्यक्ष (बाजार का अध्यक्ष) पण्यसंस्था (दुकानों) में रखे हुए पुराने और नये सामान का जिस पर व्यापारियों का अधिकार है उसे बेचने और रखने की व्यवस्था करे। तौलने के बर्तनों, तराजू और बाटों को अच्छी प्रकार देखें।"[1]

व्यापारी अधिक मुनाफा कमाने और बाजार में सामान के अभाव के कारण अपने सामान को छिपा न सकें अथवा अपनी दुकानों में चोरी का सामान न रखते हों एवं गलत, बाट तराजू से कम तोलकर जनता को न ठगते हों। अतः इस प्रकार की सभी त्रुटियों की जांच एवं दुकान की सभी संग्रहित सामग्री (स्टॉक) को देखने के लिए संस्थाध्यक्ष निरीक्षण करे। आचार्य कौटिल्य ने इस प्रबन्ध को व्यापारियों की अधिक लाभ कमाने की मनोवृत्ति के कारण और जनता को जीवनोपयोगी सामग्री की कमी न हो एवं गलत मुनाफाखोरी (चोर बाजारी) न पनपे। इसी उद्देश्य से निस्वार्थी संस्थाध्यक्ष द्वारा दुकानों के निरीक्षण की व्यवस्था को महत्त्व दिया है।

व्यापारियों पर कौटिल्य जैसे अर्थशास्त्री की नीति से यदि दृष्टि रहे तो क्या मजाल है कि व्यापारी जनता को जीवनोपयोगी सामग्रियों से तंग कर सकते हैं? मनमाना भाव कर सकते हैं? बाजार में सामान का अभाव हो सकता है? लोग अधिक संग्रह करने की बात सोच सकते हैं?

"माप तोल में जैसे उस युग के परिमाणी और द्रोण[2] प्रयोग में लाए जाते थे। यदि उनके तोल में आधा पल कम अधिक हो जाता था तो उसे बुरा ध्येय नहीं समझा जाता था किन्तु एक पल कम अधिक होने पर तोलने वाले दुकान दार को बारह पण दण्ड देने की व्यवस्था थी।"[3]

"बनावटी चीजों को बेचने वाले, कम मूल्य की वस्तुएँ अधिक मूल्य में बेचने वाले, बन्द पेटियों में गलत सामान बेचने वाले को चव्वन पण दण्ड दिया जाये।"[4]

---

१. संस्थाध्यक्षः पण्यसंस्थायां पुराणभाण्डानां स्वकरणविशुद्धानामाधानं विक्रयं वा स्थापयेत्। तुलामानभाण्डानि चावेक्षेत पौतवापचारात्।
कौ. ४।२।१, २

२. आज भी अन्न तोलने का यह मापदण्ड गढ़वाल के चारों जिलों १—श्रीनगर गढ़वाल २—चमीली गढ़वाल ३—टिहरी गढ़वाल और ४—उत्तर काशी गढ़वाल में प्रयुक्त होता है।

३. पलहीनातिरिक्ते द्वादशपणो दण्डः। कौ. ४।२।४

४. विक्रयाधानं नयतो हीनमूल्यं चतुष्पंचाशत्पणो दण्डः। कौ. ४।२।१६

व्यापारियों पर उनकी अधिक लाभ प्राप्त करने की मनोवृत्तियों के कारण और जन साधारण को कष्ट पहुंचाने की नीतियों के कारण, व्यारारियों पर कठोर नियन्त्रण रखने की व्यवस्था को कौटिल्य ने क्रियान्वित किया था।

परियोजना को बनाना ही कोई महत्त्व पूर्ण कार्य नहीं होता अपितु उन परियोजनाओं को क्रियान्वित करना अत्यन्त कठिन कार्य है। वस्तुतः उन योजनाओं द्वारा जनता को आर्थिक लाभ भी हो रहा है या नहीं। यह विचारना अधिक महत्त्वपूर्ण विषय है। सच्चे अर्थशास्त्री अपने आर्थिक विचारों, अर्थचिंतन और आर्थिक विकास से जनता के आर्थिक स्तर को ऊँचा उठाने एवं आर्थिक संकट से उसे बचाने का प्रयास करते हैं। सच्चे अर्थशास्त्री किसी गुट विशेष को लाभान्वित नहीं होने देते हैं अपितु जिस जन समूह में से वे उत्पन्न हुए हैं, उस समाज और राष्ट्र की सर्व प्रथम आर्थिक स्थिति को सुधारना वे अपना मुख्य उद्देश्य समझते हैं।

प्रायः समाज में ऐसा भी देखा जाता है कि जब व्यक्ति, व्यक्तिगत रूप से अपने सही या गलत उद्देश्य में सफल नहीं होता तब वह संघ के रूप में अपनी शक्ति को संग्रहित करता है और संघ बना कर उसकी पूर्ति करता है हमारे प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्री आचार्य कौटिल्य ने मुनाफाखोर व्यापारी संघ को भी अपने जनप्रिय शासन के द्वारा नियन्त्रित कर जनता के आर्थिक संकट को दूर करने का प्रयास किया है। कुशल शासक निस्वार्थ, निष्पक्ष और निर्भीक होकर ही अपने राष्ट्र की आर्थिक स्थिति समुन्नत और अर्थोत्पादक बना सकता है। कोई भी राष्ट्र अस्थिर, अनियमित शासन और शिथिल नियमों को रहते हुए आर्थिक समस्याओं को हल नहीं कर सकता है। जीवनोपयोगी सामग्रियों का उचित वितरण और सही मूल्यांकन हो अतः व्यापारी वर्ग के हृदयों को परिवर्तन कठोर शासकों के कठोर नियमों के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। जैसे :—

"वैदेहिकों (व्यापारियों) के संगठित होकर बाजार में वस्तुओं को क्रय-विक्रय होने से रोकना और उसे अनुचित मूल्य (मुनाफाखोरी) पर बेचने से **एक हजार पण दण्ड** दिया जाना चाहिये। सामान को तोलने वाला या नापने वाला अथवा पण मूल्य से अधिक लाभ को वा हाथ की चतुरता से लाभ लेने वालों को **दो सौ पण** दण्ड दिया जाना चाहिये।"[1] शासन में भय के बिना कभी प्रीति नहीं होती।

१. वैदेहकानां वा संभूय पण्यमवरुन्धतामनर्घेण विक्रीणतां वा सहस्रं दण्डः। तुलामानान्तरमर्घवर्णान्तरं वा धरकस्य मापकस्य वा पणमूल्यादष्टभागं हस्तदोषेणाचरतो द्विशतो दण्डः॥ कौ. ४।२।२०-२१

शासन के नियमों की शिथिलता, स्वार्थपरायणता और मूर्खता के कारण ही राज्य की आर्थिक व्यवस्था खराब रहती है। आर्थिक व्यवस्था के खराब रहने पर बेकारी, बेरोजगारी, भूखमरी, चोरी डकैती, सभी प्रकार का भ्रष्टाचार और समाज में बलात् अपहरण की घटनाएँ घटती हैं।

देशी-विदेशी निर्मित वस्तुओं पर लाभ निर्धारण:—

राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं पर व्यापारियों को किस अनुपात से लाभ लेना चाहिए ? इस पर आचार्य कौटिल्य ने अपने आर्थिक विचारों द्वारा इस प्रकार मत व्यक्त किया है :—

"जिन वस्तुओं को बेचने की अध्यक्ष द्वारा स्वीकृति मिल जायें उन पर जो अपने ही देश में बनी हो उनके मूल्य से पांच पण अधिक प्रतिशत लाभ लेना चाहिए। यदि वह दूसरे देश की बनी हुई हों तो उन पर दस प्रतिशत अधिक लाभ लेना चाहिए।"[१]

इस प्रकार इस उद्धरण से अवगत होता हैं कि प्राचीन भारत में विदेशों से भी कुछ सामान आता रहता था और व्यय के अनुसार राज्य की ओर से लाभ (मुनाफा) लेना भी निश्चित किया गया था। किस अनुपात से इमानदारी से पूँजी को लगाने का व्यापारी लाभ ले सकता है। अधिक लाभ लेने से वस्तुओं का मूल्य अधिक पड़ेगा और जनता की क्रय शक्ति पर उसका भार पड़ेगा। अतः ५,१०%से अधिक मूल्य लेने वाले व्यापारियों को नियम पालन न करने का दण्ड देना पड़ेगा।

"इससे अधिक मूल्य बढ़ाने वाले क्रय और बिक्रय कर्ता यदि ५ प्रतिशत अधिक लें तो उन्हें दो सौ पण दण्ड देना चाहिए, और इसी प्रकार अधिक मूल्य वृद्धि करके लाभ लेने वाले को उसी अनुपात से दण्ड दिया जाये।"[२]

क्रेता, विक्रेता और उत्पादनकर्ता की वस्तुओं को देखते हुए ही मूल्य निर्धारण होना चाहिए। जैसे :—

"वस्तुओं के निर्माण का मूल्य निर्धारण, उनके उत्पादकों का वेतन, उस पर

१. अनुज्ञातक्रयादुपरि चैषां स्वदेशीयानां पण्यानां पञ्चकं शतमाजीवं स्थापयेत्। परदेशीयानां दशकम्। कौ० ४।२।२९-३०

२. ततः परमर्घं वर्धयतां क्रये विक्रये वा भावयतां पण शते पंचपणाद् द्विशतो दण्डः। तेनार्घवृद्धौ दण्डवृद्धिर्व्याख्याता ॥ कौ० ४।२।३१-३२

व्यय किए हुए धन की अर्थवृद्धि (व्याज), उसका जाने लेजाने का व्यय (भाड़ा) और अन्य व्ययों को जोड़कर मूल्य का निर्धारण करे।"[१]

आर्थिक विकास में दैवीय प्रकोपों का प्रतिकार :—मनुष्य अपने-अपने समाज एवं राष्ट्र के आर्थिक विकास के लिए अत्यधिक प्रयत्नशील रहता है। आर्थिक विकास के लिए अनेक परियोजनाओं का निर्माण करता है। उन परियोजनाओं के विकास में दैवीय आपत्तियाँ भी आ जाती हैं। उन आपत्तियों का प्रतिकार कैसे किया जाए? ये दैवीय आपत्तियाँ आठ प्रकार की हैं और ये महाभय नाम से भी जानी जाती हैं। ये आठ इस प्रकार हैं:

१. "अग्नि २. जल ३. व्याधि ४. दुर्भिक्ष ५. मुषिक (चूहे) ६. व्याघ्र ७. सांप ८. राक्षस इनसे शासक को जनपद की रक्षा करनी चाहिए।"[२]

आचार्य कौटिल्य ने आठवें अधिकरण में दैवी आपत्तियों को केवल पाँच प्रकार की ही माना है:—

"१—अग्नि २—जल ३—व्याधि ४—दुर्भिक्ष ५—(मरक) महामारी"[३] उनमें वैसे सभी खराब हैं किन्तु व्याधि और दुर्भिक्ष अधिक बुरा है।

अग्नि से रक्षा के लिए घास फूस के मकानों में गर्मी के दिनों में भोजन नहीं बनाना चाहिए। खुले स्थानों में ही भोजन न बनावें।

"गलियों में बाजारों में चौहाहों पर, नगर के मुख्य द्वार पर और राज परिग्रहों, कोष, वन, भण्डारगृह, गज, अश्वशाला में जल के भरे हजार घड़ों का प्रबन्ध करे।"[४]

आचार्य कौटिल्य ने अर्थवेद के कुछ मंत्रों का उच्चारण—करने एवं "मनुष्य की हड्डी में वांस को रघड़ने से उत्पन्न आग को अन्तपुर का स्पर्श कराने से अग्निका भय नहीं होता।"[५]

---

१. प्रक्षेपं पण्यनिष्पत्तिं शुल्कं वृद्धिमव क्रयम्।
व्ययानन्यांश्च संख्याय स्थापयेदर्घमर्घवित्॥ कौ० ४।२।३९

२. अग्निरूदकं व्याधिर्दुर्भिक्षं मूषिका व्यालाः सर्पा रक्षांसीति। तेभ्यो जनपदं रक्षेत्॥ कौ. ४।३।२-३

३. दैवंपीडनमग्निरुदकं व्याधिर्दुर्भिक्षं मरक इति। कौ. ८।४।१

४. रथ्यासु कटव्रजाः सहस्रं तिष्ठेयुः। चतुष्पथद्वारराजपरिग्रहेषु च॥
कौ. २।३६।२४-२५

५. मानुषेणाग्निना त्रिरपसव्यं परिगतमन्तः पुरमग्निरन्यो न दहति। कौ. १।२०।६

अग्नि के भय से सुरक्षा के लिए सावधानी रखना, पानी का प्रबन्ध करना और मन्त्रों के उच्चारण से भी उपाय बताया है। आधुनिक युग की भाँति, उस युग में अग्नि इतनी विनाशकारी लीला नहीं दिखाती थी। राज्य की ओर से भी अधिक प्रयत्न थे एवं जनता विवेक से कार्य लेती थी और परस्पर लोगों में स्नेह भरे सम्बन्ध और सहानुभूति थी।

वर्षाऋतु में बाढ़ से जनता की सुरक्षाः—प्राचीन काल में जल के प्रवाह को रोकने के लिए जंगलों और सुरक्षा के निमित्त लगाये गए वृक्षों का महत्त्व पूर्ण कार्य था। जनसंख्या की वृद्धि के साथ ही साथ पानी और उपजाऊ जमीन के लिए नदियों के किनारे ग्राम और नगरों की संख्या बढ़ने लगी। पानी के प्रवाहको रोकने में पेड़ों का बहुत बड़ा स्थान है। नदी के किनारे के पेड़ों को लोग काटते नहीं थे अपितु अधिक संख्या में लगाते रहते थे। आचार्य कौटिल्य ने इस प्रकार बाढ़ से बचने के कुछ उपाय बताए हैं:—

"वर्षा ऋतु की रात्रियों में वर्षा प्रारम्भ होने से पूर्व नदी के निकट के गांव नदी के तट को छोड़कर दूर निवास करें। लकड़ी, बांस, नाव और तैरने के साधनों को एकत्रित करके रखें।"[1]

बाढ़ मानव जाति की एक भंयकर शत्रु है। कुछ नीतिकारों ने यहाँ तक कहा है कि "नख वाले जीवों और नदी के प्रवाह पर विश्वास नहीं करना चाहिए।"[2] बरसात के दिनों में क्षुद्र नदियाँ भी क्षुद्र लोगों के धन की भाँति इतरा ने लगती है और कहीं से कहीं अपना स्थान बनालेती हैं। बाढ़ के पश्चात् सदा बीमारियों और दुर्भिक्ष का जन्म हो जाता है। ऐसे समय में अच्छे शासक को औषधियों द्वारा शरीर की रक्षा और अन्न एवं धन से आर्थिक सहायता करनी चाहिए। इस विनाशकारी स्थिति में समाज की आर्थिक स्थिति चिन्तनीय हो जाती है।

"व्याधि के भयों को औपनिषदिक प्रकरण में बताये हुए उपायों से प्रतिकार करो।"[3]

---

१. वर्षारात्रमनूप ग्रामाः पूरवेलामुत्सृज्य वसेयु:।
काष्ठवेणुनावश्चावगृह्णायुः। कौ० ४।३।९-१०

२. नखनां च नदीनां च····विश्वासो नैव कर्तव्यो।

३. व्याधिभयमौपनिषदिकैः प्रतीकारैः प्रतिकुर्युः॥ कौ० ४।३।१७

"शारीरिक व्याधियों को औषधियों, चिकित्सकों और शान्ति उपायों से अथवा सिद्ध तापसों एवं प्रायश्चित आदि से दूर करे।"[१]

"पशु को भी धन माना गया है बाढ़ में इन्हें भी कष्ट होता है। अतः पशु-व्याधि को दूर करने के लिए स्थान-स्थानों पर शान्ति कार्य और उन-उन पशु देवताओं का पूजन करावे।"[२]

बाढ़ की स्थिति में शासक को प्रजा की सभी प्रकार की सहायता करनी चाहिए। जिससे अस्त-व्यस्त लोग पुनः स्थिर होकर अपनी आर्थिक स्थिति अच्छी कर राज्य को अर्थ सम्पन्न कर दें।

"दुर्भिक्ष के समय राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजा पर अनुग्रह करके उन्हें अन्न और धन दे।"[३]

कृषि ही मनुष्य की जीवन रक्षा के लिए एक मात्र साधन है। इसलिए शासक को अच्छी फसल और अधिक धन पाने के लिए जीविकाहीन लोगों को धन और बीज देकर रक्षा करनी चाहिए। प्रायः ऐसा भी देखा जाता है कि बाढ़ के जल प्लावन में जब हर जगह की तरह-तरह की खाद बाढ़ के उतरने पर खेतों में रुक जाती हैं और पानी की नमी एवं खाद से बाढ़ के बाद वाली फसल इतनी अच्छी होती है कि वैसी पैदावार पहले कभी न हुई होगी। अतः राजा को इस बुरी स्थिति में प्रजा की सहायता करनी चाहिए।

आर्थिक व्यवस्था सुधारने में समाहर्ता और प्रदेष्टा का स्थान :—

समाहर्त्ता का पीछे वर्णन किया गया है। अर्थ एकत्र करने और अर्थ प्राप्ति के साधनों की वृद्धि का पूर्ण ध्यान रखना समाहर्त्ता का कार्य बताया गया है। अर्थ एकत्र करना एवं आर्थिक व्यवस्थाओं को समुचितरूप से संगठित रखना यह उससे भी आवश्यक कार्य है। वैसा राष्ट्र के लिये जहां अर्थ का महत्वपूर्ण स्थान है वहां दूसरी ओर अर्थ की सुरक्षा एवं आर्थिक व्यवस्थाओं की समुन्नति के लिये समाज के अवांछनीय तत्वों से देखभाल करना अथवा अभयदान दिये रहना परमावश्क है। उद्योग प्रतिष्ठान में काम करने वाला श्रमिक, खेत में कृषि के उन्नति में लगा हुआ कृषक तभी निश्चित और तन्मय होकर कृषि का कार्य कर सकता है। जब उसे अपनी जान-माल की सुरक्षा का पूर्ण विश्वास होगा इसी

---

१. औषधैश्चिकित्सकाः शान्तिप्रायश्चित्तैर्वा सिद्धतापसाः। कौ० ४।३।१८

२. पशुव्याधिमरके स्थानान्यर्धनीराजनं स्वदैवतपूजनं च कारयेत्। कौ० ४।३।२१

३. दुर्भिक्षे राजा बीजभक्तोपग्रहं कृत्वानुग्रहं कुर्यात्॥ कौ० ४।३।२२

विश्वास दिलाने, अभय प्रदान करने, कार्य करने की प्रेरणा देने अधिक उत्पादन बढ़ाने का प्रोत्साहन देने एवं बुरे समाज विरोधी लोगों को दण्ड देने के लिये "प्रदेष्टा" की नियुक्ति की गई थी।

प्रदेष्टा:—प्रदेष्टा उस प्रशासक का नाम था जो जनता को दुःख देने वाले व्यक्तियों को नियन्त्रित कर उनके अपराधों का कठोर दण्ड देता था। उसे आचार्य कौटिल्य ने 'कण्टकशोधन'[1] नाम देकर समस्त प्रकार के अपराधियों के अपराधों के अनुसार दण्ड देने की व्यवस्था की है।

हमारे प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक आचार्य कौटिल्य का विचार था कि यदि राष्ट्र की उन्नति में, समाज के विकास में, आर्थिक योजनाओं द्वारा जनता के जीवन स्तर ऊँचा उठाने के कार्यों में बाधा पहुँचाने वाले अथवा आर्थिक योजनाओं को क्रियान्वित करने वाले कर्मठ लोगों को आतंक द्वारा भय-भीत करने वाले कण्टकों (दुष्टों) का शोधन होना परमावश्यक है। यह मनुष्य का स्वभाव है कि यदि उसे दुष्ट पशुओं की तरह बुरी तरफ जाने से न रोका जाय अथवा दण्ड न दिया जाये तो उसका दुस्साहस बढ़ जाता है और वह समाज में एक कुख्यात होकर अन्य लोगों को भी बुरा कार्य करने के लिए प्रभावित करके अपना एक गुट बनाकर सामाजिकों को जीना दुरुह कर देता है। ऐसे दुर्दान्तों को दण्ड के द्वारा कुचला जाता है और समाज में शान्ति स्थापित कर अन्य सामाजिकों को बुरे, भले कार्य करने का परिणाम देखने को मिल जाता है। संसार का प्रत्येक व्यक्ति सुख और शान्तिपूर्ण तरिकों से जीवित रहना चाहता है।

आचार्य कौटिल्य राज्य के प्रशासन को चलाने के लिये दो प्रमुख व्यक्तियों को महत्वपूर्ण स्थानों पर नियुक्त कर शेष अन्य व्यक्तियों को उनके ही माध्यम से नियुक्त करने की व्यवस्था को सर्वोपरि मानता है। अर्थ संग्रह करने के लिये केवल एक ही व्यक्ति को प्रमुख प्रशासक माना है किन्तु अपराधों में विभिन्न प्रकार के अपराधी होते हैं। अतः उनकी प्रवृत्तियों और अपराधों का सही सही पता लगाने एवं उचित न्याय पूर्ण पद्धति पर, उन्हें दण्ड देने के लिए तीन 'प्रदेष्टाओं' की नियुक्ति का उल्लेख किया है। ये 'प्रदेष्टा' मन्त्रियों के गुणों के समान गुणज्ञ होते थे और इनका अधिकार क्षेत्र मन्त्रियों के समान ही होता था।

---

१. दुष्टदमन

"मन्त्रियों के गुणयुक्त तीन-तीन प्रदेष्टा कण्टक शोधन (दुष्टजनों से प्रजा की रक्षा करने का कार्य) कार्य को करें।"[1]

अर्थ प्राप्ति के स्थानों में काम करने वाले व्यक्तियों के मन में अर्थ को देखकर लालच आ भी जाता होगा। यद्यपि ऐसे स्थानों में काम करने वाले व्यक्ति बड़ी सतर्कता, परीक्षित और निरीक्षण के पश्चात् रखे जाते हैं। ऐसे पदों पर कार्य करने वाले व्यक्तियों पर उस विभाग का पूर्ण दायित्व रहता है। इतना राष्ट्रीय चरित्र ऊँचा होने के पश्चात् भी यदि कोई कार्य करने वाला स्वार्थी बन राष्ट्र का अहित करना चाहता है तो उसे प्राण दण्ड देने का विधान था। इतना कठोर दण्ड इसलिये दिया जाता होगा कि जिससे राष्ट्र का अहित न हो। नियमों की शिथिलता का लोग दुरुपयोग न करें। अतः भविष्य में इस प्रकार का कार्य करने का किसी का साहस ही नहीं होता था।

"खानों में काम करने वाले, मूल्यवान् रत्न आदि का यदि अपहरण करें तो उन्हें प्राण दण्ड दिया जाये।"[२]

कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि कर्मचारी स्वयं चोरी नहीं करता किन्तु किसी के द्वारा चोरी कर देता है और चोरों का नाम लेता है। ऐसे राज कर्मचारियों को दण्ड देना चाहिये। जिससे ऐसे कार्यों की ओर कर्मचारियों की रुचि न हो सके।

"राज्य की वस्तुओं को स्वयं चुराकर जो कर्मचारी चोरों के द्वारा चुराये जाने का कारण बताये उसे प्राण दण्ड देना चाहिये।"[3]

अच्छे शासक को सबसे पहले अपने कर्मचारियों का सुधार करना चाहिये। यदि वे कोई नियम विरुद्ध कार्य करें तो उन्हें दण्ड देना चाहिये। इस प्रकार सारी प्रजा को अपने राष्ट्र की आर्थिक व्यस्थाओं को ठीक रखने, नियमों का परिपालन कराने के लिए ऐसा करना चाहिये।

"इस प्रकार राजा को सर्वप्रथम दण्ड के द्वारा अपने कर्मचारियों को सही मार्ग पर लगाना चाहिए। उसके पश्चात् नगर और जनपद की सम्पूर्ण प्रजा को दण्ड के द्वारा शुद्ध मार्ग पर लगावे।"[४]

---

१. प्रदेष्टारस्त्रयस्त्रयो वामात्याः कण्टकशोधनं कुर्युः। कौ. ४।१।१

२. खनिसारकर्मान्तिभ्यः सारं रत्नं वापहरतः शुद्धवधः। कौ. ४।९।२

३. चौराणामभिप्रघर्षणे चित्रो घात इति राजपरिग्रहेषु व्याख्यातम्॥ कौ. ४।९।१३

४. एवमर्थचरान्पूर्वं राजा दण्डेन शोधयेत्।
शोधयेयुश्च शुद्धार्थाः पौरजानपदान्दमैः कौ० ४।९।६३

संकटकालीन परिस्थिति के लिए अन्न के संचित भण्डार :—

राजा अपनी कोषवृद्धि के लिए राष्ट्र के उन प्रदेशों से अन्न का तृतीय चतुर्थ भाग प्रार्थनापूर्वक मांगता था। अच्छे उपजाऊ प्रदेश अधिक उत्पादन होने पर शासन के प्रार्थना करने पर अधिक से अधिक अन्न दे देते थे। किन्तु कई बार देश की खाद्यस्थिति को सुधारने के लिए शासक अधिक खाद्य सामग्री को अच्छे किसानों से उचित मूल्य पर खरीद कर अन्न के संचित भण्डारों का निर्माण करता था। इस अन्न क्रय करने की नीति से किसान, उपभोक्ता एवं शासन का अहित न हो। उसका मुख्य तात्पर्य यह था कि यदि शासन कम मूल्य देकर किसान से क्रय करेगा तो किसान कम मूल्य पर अपना अन्न नहीं बेचेंगे और अपने अन्न भण्डारों को छिपा देंगे। यदि सरकार बुरी दृष्टि से कार्य करती है और स्वार्थ की दृष्टि को समक्ष रखती है तो जनता भी शासकों की मनोवृत्ति के अनुकूल कार्य करने लगती है और जनता में सन्तोष, शान्ति समाप्त होने लगती है। यहाँ तक प्रभाव पड़ जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति जिसके पास जो चीज है उसे वह अधिक मूल्य पर बेचना चाहता है और अपनी आवश्यकता से अधिक खाद्य सामग्री एकत्रित करने की नीति बनाने लगता है। देश के मुनाफाखोर लोग ऐसी ही परिस्थितियों से लाभ उठाकर जनता और सरकार को परेशान कर देते हैं।

इसीलिए आचार्य कौटिल्य इन सभी बातों को दृष्टि में रखते हुए इस नीति से काम चाहता था :—नगद अर्थ देकर "किसानों से उनके उत्पादन का चतुर्थांश अन्न खरीद ले, इसके साथ ही साथ उनके खाने के योग्य एवं बीज का अन्न छोड़ कर क्रय कर ले। कृषकों को तंग या दुखी करके नहीं अपितु अनुग्रह (दया) के साथ क्रय करे।"[1]

आज के युग में आचार्य कौटिल्य की अतिरिक्त अन्न संचित भण्डारों को सुरक्षित करने की योजनाओं के अनुसार खाद्यान्न भण्डारों को बनाने किसानों से अन्न क्रय करने की योजनायें चल रही है।

कई देशों में तो सरकारें अन्न पर राष्ट्रीयकरण करना चाहती है किन्तु इसके लिए तभी सफलता मिल सकती है। जब बाजारों में, सरकारी दुकानों पर जनता की आवश्यकता के अनुसार पर्याप्त मात्रा में अन्न सुगमता से मिल

१.—चतुर्थमंशं धान्यानां बीजभक्तशुद्धं च हिरण्येन क्रीणीयात्। तदप्यनुग्रहेण क्रीणीयात्॥ कौ० ५।२।५-७

सके और नई उत्पन्न हुई फसलों को सरकार अपने सुरक्षित भण्डारों के लिए एकत्रित करे। उत्पादक कर्ता और उपभोक्ता को लेने देने का मूल्य इतना होना चाहिए कि जिससे दोनों की क्षति या उनके मन में दुख न हो। इन योजनाओं को ही सरकार सफलता से चला सकेंगी, जो न्याय प्रिय एवं सच्चे लोगों को इस कार्य में नियुक्त कर कार्य करायेंगी। यदि न सरकार ही, अन्न का सरकारी दुकानों के द्वारा प्रबन्ध कर सके और न खुले बाजार में अन्न ही मिल सके। ऐसी स्थिति में जनता क्या करेगी और मुनाफाखोर क्या करेंगे ? सभी चीजों की आदमी कटौती एवं आवश्यकता को रोक सकता है किन्तु भोजन जैसी आवश्यक चीज को नहीं रोक सकता और कितने दिन तक ? यह हमारी सफलता में सबसे बड़ा विघ्न है कि नेता, धनवान्, नेताओं के अनुयायी जनता से अपने भाषणों में त्याग करने का पाठ पढ़ाते हैं किन्तु कितना स्वयं त्याग करते हैं और दिन भर में कितने मूल्य का अन्न, फल, दूध, मक्खन एवं (टौनिक) पदार्थों का सेवन करते हैं ?

जनता में असन्तोष, विषमता एवं राष्ट्रीय प्रेम की भावनायें क्यों कम हो रही है ? उसका मुख्य कारण हमारे राष्ट्रीय चरित्र का पतन है। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी की तरह रचनात्मक रूप से पच्चीस वर्ष स्वतन्त्रता का पूर्ण उपभोग करने के पश्चात् भी आज का जननायक अपने वास्तविक त्यागमय चरित्र को जनता में उपस्थित करने को तय्यार नहीं अपितु भाषणों के प्रचार और सत्ता के मोह से मोहित होकर अपने देश की सच्ची गरीबी के चित्र को आज भूल गये हैं। युग नायक युग को अपने कार्यों और चरित्र से प्रभावित कर अपनी ही तरह बना देता है। आज हमें हमारे सत्ताधारी नेताओं के पास देश का उन्नत करने, संगठित करने राष्ट्रीय चेतना जागृत करने, भेदभावों को दूर करने, त्यागमय जीवन बिताने, समस्याओं का समाधान करने, बेरोजगारी को दूर करने, व्यर्थ की शक्ति नष्ट कर अनेक दलों में शक्ति को विकेन्द्रीय करने को रोकने को सबसे बड़ी ताकत हैं, यदि वे अपनी वास्तविक शक्ति का सदुपयोग देश की उन्नति, एकता, अखण्डता और राष्ट्रीयता के लिए करें। उनके इन कार्यों से देश की नई पीढ़ी को एक नया मार्ग, नया प्रकाश मिलेगा और जनता में राष्ट्रीय चरित्र का उन्नयन होगा। इसके पश्चात् हमारी समस्त राष्ट्रीयकरण की योजनायें पूर्ण रूप से, पूर्ण सहयोग से, एकता की शक्ति से राष्ट्रीय स्तर पर सफल होंगी।

आचार्य कौटिल्य का त्यागमय जीवन, उसकी जनता के हित की नीति,

राष्ट्रीय एकता, राज्यभक्ति, सर्वेतामुखी प्रतिभा और राष्ट्र प्रेम की भावनायें हमारे लिए अनुकरणीय हैं। कृषि, उद्योग, राष्ट्र संगठन, आर्थिक योजनाओं की सफलता, कर्मचारी तन्त्र पर पूर्ण नियन्त्रण, विरोधी तत्वों की गति विधियों का गुप्तचर विभाग द्वारा पूर्ण ज्ञान, रोजगार की समस्याओं का हल, पुरुषों की ही नहीं अपितु स्त्रियों की भी आजीविका का निदान, समाज की बहुमुखी उन्नति और व्यापार में सफलता का मूलकारण उन प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों की राष्ट्रीय एकता, आर्थिक विकास और रचनात्मक कार्य था।क ोई ऐसा क्षेत्र नहीं था जिसपर आचार्य कौटिल्य ने चिन्तन न किया हो और वह उसको पूर्ण करने में सफल न हुआ हो।

भृत्यों के भरण पोषण का ध्यानः—समाज के संचालन में समाज के प्रत्येक व्यक्ति का उसकी कार्य क्षमता के अनुरूप एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। हम अपने सम्पूर्ण शरीर में ही क्या अंग विशेष की सेवा करके ही जीवित रह सकते हैं? उसी प्रकार शासक, और अधिकारी केवल अपने आप जीवित रहते हुये सम्पूर्ण राज्य का कार्य कर सकेंगे? अतः सहायकों के भरण पोषक, सुख सुविधा का भी ध्यान रखना अत्यावश्यक होगा। आचार्य कौटिल्य ने असन्तोष को दूर करने, विषमताओं को हटाने, मानवतावादी विचारधारा को प्रोत्साहन देने और कर्मचारी तन्त्र की जीवन की रक्षा के लिये इस प्रकार प्रयत्न किया है:—

"दुर्ग एवं जनपद की शक्ति के अनुरूप भृत्यवर्ग की उन्नति के लिए कार्य-क्रम स्थापित करे। कार्य की सिद्धि के लिए अधिक धन देकर उनके लाभ का ध्यान रखते हुये एवं अपने आय के शरीरको देखकर कार्य करे।"[1]

"धर्म और अर्थ में जिससे बाधा न आये उस काम को न करे।[2]

शासक को अपने कर्मचारियों को इतना वेतन देना चाहिये, जिससे उन के जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति सुगमता से हो सके और वे किसी प्रकार राजा के विरुद्ध षड्यन्त्र न रच सकें। जैसे :—

"उन भृत्यों को भरण-पोषण के लिए इतना पर्याप्त वेतन दे जिससे वे सुख पूर्वक रह सकें और राजा के प्रति अपना क्रोध व्यक्त न कर सकें।"[3]

---

१. दुर्गजनपदशक्त्या भृत्यकर्म समुदयवादेन स्थापयेत्।
कार्यसाधनसहेन वा भृत्यलाभेन शरीरमवेक्षेत॥ कौ. ५।३।१–२

२. न धर्मार्थौ पीडयेत्॥ कौ. ५।३।३

३. एतावता भरणे नानास्वाद्यत्वमकोपकं चैषां भवति। कौ. ५।३।५

"उचित जीवनोपयोगी वेतन पाकर भृत्य लोग सदा राजा के हितचिन्तक रहेंगे और पूर्ण शक्ति से शासक की सहायता करेंगे।"[1]

राज्य की सेवा करते हुये बलिदान होने वाले सेवकों के आश्रितों के प्रति व्यवहार :—

अपने राष्ट्र की सेवा तो व्यक्ति अपने कर्तव्य का पालन करते हुये कार्य करता ही है किन्तु उसके साथ ही उस कर्तव्य का पालन करने में यदि उसकी मृत्यु हो जाती है तो उसके आश्रित क्या करेंगे? ऐसी स्थिति में आचार्य कौटिल्य ने आर्थिक पक्ष को दृष्टि में रखते हुये यह व्यवस्था दी है :—

"राज्य का काम करते हुये मरने वाले कर्मचारियों का वेतन उनकी सन्तान या स्त्री प्राप्त करें। मृत राज्य-कर्मचारियों के बालक, वृद्ध, रोगग्रस्त सम्बन्धियों पर अनुग्रह की दृष्टि रखनी चाहिये। उनके यहाँ मृत्यु होने, बीमारी में, बच्चे के जन्म होने पर और धार्मिक कृत्य पर आर्थिक सहायता देकर सत्कार करे।"[2]

ऐसा करने से राज्य के लिए बलिदान होने वाले लोगों के मन में चिन्ता, दुख नहीं होगा और आश्रितों पर इसका बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा एवं उनका जीवन दुखमय व्यतीत नहीं होगा।

आधुनिक युग में आज के सभ्य कहलाने वाले राष्ट्र इस प्रकार की बातों पर विचार करते दिखाई देते हैं। इस प्रकार की आर्थिक सहायता से सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था पर बुरा प्रभान नहीं पड़ता।

"आय-व्यय को अच्छी प्रकार देखने वाला शासक कभी भी आर्थिक और सैनिक (दण्ड) शक्ति से आपत्ति में नहीं पड़ता।"[3]

आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अध्ययन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि कौटिल्य ने संसार की कोई ऐसी समस्या नहीं जिसका समाधान न बताया हो। आचार्य कौटिल्य ने अतिसूक्ष्म दृष्टि से मानव की परिस्थितियों को देखकर समाज में उठने वाली आर्थिक समस्याओं का निराकरण करने का पूर्ण प्रयास किया है।

---

१. स्वामिपरिबन्धबलसहाया ह्येतावता भवन्ति। कौ. ५।३।९

२. कर्मसु मृतानां पुत्रदारा भक्तवेतनं लभेरन्। बालवृद्ध व्याधिताश्चैषामनुग्राह्याः। प्रेतव्याधितसूतिका कृत्येषुचैषामर्थमानकर्म कुर्यात्॥

कौ. ५।३।३०–३१

३. एवमवेक्षितायव्ययः कोषदण्डव्यसनं नावाप्नोति। कौ० ५।३।४८

आचार्य कौटिल्य ने समाज के अभ्युत्थान के लिए किसी भी पक्ष को ऐसा नहीं छोड़ा जिस पर प्रकाश न डाला हो। सामाजिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक एवं आर्थिक सभी दृष्टियों से अपने कौटिल्य अर्थशास्त्र में विवेचन किया है। महान् ग्रन्थ कौटिल्य अर्थशास्त्र का अध्ययन करने पर अध्येता वास्तव में प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक आचार्य कौटिल्य की प्रतिभा की स्वयं प्रशंसा करने लगेगा और भारतीयों के विशद ज्ञान भण्डार को देखकर आधुनिक संसार की विकसित व्यवस्था से भी उसे सर्वोत्तम मानने लगेगा।

इस प्रकार से आर्थिक दृष्टि से इस कौटिल्य अर्थशास्त्र का अर्थशास्त्र के अध्येताओं में प्रचार होना चाहिए जिससे आचार्य कौटिल्य के आर्थिक विचार आधुनिक युग के छात्रों के समक्ष उपस्थित हो सकें। इन प्राचीन विचारों का अध्ययन कर अर्थशास्त्र के विद्यार्थी पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों के साथ आज से हजारों वर्ष पूर्व लिखी हुई प्राचीन पुस्तकों का उस युगके अनुरूप विकसित योजनाओं का तुलनात्मक अध्ययन कर सकेंगे।

हमारे देश में कौटिल्य जैसे आर्थिक विचारकों ने आर्थिक क्षेत्रमें कितना कार्य किया और अपनी सुव्यवस्थित योजनाओं में वे कितने सफल हुए उसका मूल्यांकन उनके रचनात्मक कार्यों के अध्ययन के आधार पर किया जा सकता है। प्राचीन, आधुनिक एवं पाश्चात्य अर्थशास्त्र में आचार्य कौटिल्य के आर्थिक विचारों का अत्यधिक महत्त्व है और संसार को कौटिल्य के आर्थिक विचारों का मूल्यांकन करना करना होगा। आचार्य कौटिल्य की अर्थव्यवस्था उस के आर्थिक विचारों के अनुरूप युग के अनुसार सही प्रमाणित हुई और उसे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। अतः आचार्य कौटिल्य को संसार के महान् अर्थशास्त्रियों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त हुआ है।

आत्मानं प्रथमं राजा विनयेनोपपादयेत् ।
ततोऽमात्यांस्ततो भृत्यांस्ततः पुत्रांस्तः प्रजाः ।।

कामन्दकीनीतिसार—प्रथम सर्ग २३ श्लोक

[राजा को सर्व प्रथम अपने को विनय सम्पन्न करना चाहिये, उसके पश्चात् मन्त्री पुनः भृत्यों को उसके बाद अपने राजकुमारों को और उसके पश्चात् अपने राज्य की जनता को विनय युक्त करना चाहिये :]

५

आचार्य कामन्दकी

पंचम अध्याय

आचार्य कामन्दकी

परिचय

संस्कृत साहित्य के अध्ययन करने पर अवगत होता है कि संस्कृत के लब्ध-प्रतिष्ठित विद्वानों ने अपनी रचनाओं में अपना परिचय कहीं भी नहीं दिया है। संस्कृत के विद्वानों को अपने नाम की उस युग के अनुरूप कोई कामना ही नहीं थी। कुछ महाकाव्यों एवं संस्कृत के नाटकों में नाटककारों ने अपना और अपने वंश का परिचय अवश्य दिया है किन्तु अपनी तिथियों के विषय में कहीं कुछ लिखने की चेष्टा ही नहीं की।

इस कामन्दकीय नीतिशास्त्र के विषय में भी इसी प्रकार की परम्परा पायी जाती है। कौटिल्य अर्थशास्त्र के आधार पर एवं अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र के विद्वान् कौटिल्य के निर्दिष्ट मार्गों का अनुसरण करते हुए 'कामन्दकी' ने इस ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ ३६ प्रकरणों और २० सर्गों में पूर्ण हुआ है। इस कामन्दकीय नीतिसार को यदि कौटिल्य अर्थशास्त्र का संक्षिप्त रूप कहा जाये तो अनुचित न होगा। इस ग्रन्थकार ने स्वयं अपने को कौटिल्य के अर्थशास्त्र से प्रभावित माना है एवं अपने को श्रद्धापूर्वक प्रणाम करते हुए कौटिल्य का शिष्य माना है। कामन्दकी पर शंकरार्य की जयमंगला टीका भी अति प्रसिद्ध मानी जानी है।

प्राचीन संस्कृत साहित्य के विद्वानों का विचार है कि इस ग्रन्थ को किसी नीति निपुणा परिव्राजिका ने लिखा है। महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री ने भी अपनी कामन्दकीय नीतिसार पुस्तक की भूमिका में इस ग्रन्थ का प्रणेता किसी स्त्री को ही माना है। दण्डि के दशकुमारचरित में एवं महाकवि भवभूति के मालतीमाधव नाटक में कामन्दकी नाम का वर्णन हुआ है किन्तु 'दण्डि' ने प्रथम राजकुमार का परिचय देते हुए कौटिल्य एवं कामन्दकी जैसे विद्वानों की भान्ति वह नीतिशास्त्र में कुशल था।[1] ऐसा माना है।

---

१. कौटिल्यकामन्दकीयादि नीति पटल कौशलं। दण्डि—दशकुमार चरित–प्रथम उच्छ्वास-अन्तिम भाग।

महाकवि दण्डि ने दशकुमारचरित के इस उद्धरण से कामन्दकी के नीतिशास्त्र विषयक विशेष ज्ञान एवं कौटिल्य अर्थशास्त्र की कोटि में उसे भी माना गया है किन्तु इससे अधिक उस उद्धरण में और कुछ ज्ञात नहीं होता। कामन्दकी की तिथि के निर्धारण में दण्डि का यह वाक्य अवश्य सहायक सिद्ध होगा। इससे यह प्रतीत होता है कि कामन्दकी नीतिसार दण्डि से पूर्व की रचना निष्पक्षभाव से निर्धारित होती है।

संस्कृत के नाटकों में प्रायः देखा गया है कि नाटक का लेखक नट से अपने वंश एवं रचना का परिचय दिलाता है। करुणरस के महाकवि भवभूति ने अपने मालतीमाधव नाटक के प्रथम अंक की प्रस्तावना में नट द्वारा कामन्दकी संन्यासिनी की चर्चा इस प्रकार की है :—

"सुगत = बौद्ध है देवता जिसका ऐसी सौगत वृद्धपरिव्राजिका 'कामन्दकी' नाम की स्त्री की प्रथम भूमिका का अब अभ्यास कर रहे हैं और मैं उसकी शिष्या 'अवलोकिता' के वेश का अभ्यास कर रही हूँ।"[1]

इस नाटक के प्रथम अंक में कामन्दकी एवं अवलोकिता को लाल वस्त्रों में दिखाया गया है। भवभूति के मालतीमाधव नाटक का प्रारम्भ 'कामन्दकी' और 'अवलोकिता' के कथोपकथन से प्रारम्भ होता है।

कामन्दकी नीतिसार का अध्ययन करने से यह कहीं भी प्रतीत नहीं होता है कि वह बौद्धधर्मानुयायी महिला रही होगी, क्योंकि उसने अपने ग्रन्थ के प्रथम श्लोक में दण्डधारी देव की जय की है। इस श्लोक में सृष्टि के रचयिता और राज्य के संचालक राजा दोनों की जय की गई है। इसके अतिरिक्त वर्णव्यवस्था, आश्रमव्यवस्था आदि व्यवस्थाओं को प्राचीन भारतीय विचारकों की भाँति पूर्णरूप से माना है। यदि वह बौद्ध धर्मानुयायी होती तो इस प्रकार की प्राचीन परम्पराओं से प्रभावित न होती अथवा यह भी हो सकता है कि 'कामन्दकी' ने इस ग्रन्थ की रचना के पश्चात् बौद्धधर्म में दीक्षा ली हो। स्त्रियों को भिक्षुणी बनने की स्वीकृति मिलने पर बौद्धधर्म अपना लिया हो क्योंकि बौद्धधर्म में बहुत दिनों तक स्त्रियों को भिक्षुणी नहीं बनने दिया जाता था।

'कामन्दकी' के विषय में पूर्व वर्णित संस्कृत की दो पुस्तकों के अतिरिक्त

---

१. नट :—तावद्भूमिकास्तथैव····पाठिता। सौगतजरप्राजिकायाः कामन्दक्वास्तु प्रथमां भूमिकां भाव एक एवाधीते। तदन्तेवासिन्यास्तहमवलोकितायाः। भवभूति—मालतीमाधव नाटक—प्रथम अंक—प्रस्तावना।

कहीं कुछ नहीं मिला और न उसके जन्मस्थान आदि का ही परिचय प्राप्त हुआ किन्तु उसकी तिथि निर्णय के विषय में दण्डि और भवभूति से पूर्व कामन्दकी को मानना युक्ति संगत होगा। दण्डि का समय प्रोफेसर विल्सन ने ६ शताब्दी में माना है। महाकवि भवभूति का समय ७ वीं शताब्दी माना गया है। इन दोनों कवियों के वर्णनों से 'कामन्दकी' का समय ५ वीं शताब्दी माना जाना युक्ति-संगत होगा।

वस्तुतः कामन्दकी नीतिसार को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य कौटिल्य का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से पूर्ण परिचय देकर कामन्दकी ने बहुत बड़ा कार्य किया है। मगध साम्राज्य की स्थापना, चन्द्रगुप्त मौर्य की सहायता, नन्दवंश की समाप्ति, अर्थशास्त्र का महत्त्व बताकर कामन्दकी ने बहुत बड़ा काम किया है। आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र के आधार पर कामन्दकी के ग्रन्थ की रचना करने पर भी कई ऐसे प्रकरण हैं जिन्हें कामन्दकी ने कौटिल्य से विस्तृत और मौलिक पद्धति पर प्रस्तुत किया है। इतना कार्य करने के पश्चात् भी कामन्दकी ने आचार्य कौटिल्य को अपना गुरु स्वीकार कर बड़ी श्रद्धा से नमस्कार किया है।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों में अपने कार्यों एवं आर्थिक व्यवस्था के कारण 'कामन्दकी' का नाम भी अति सम्मान के साथ लिया जाता है। आचार्य कौटिल्य की परम्परा में कामन्दकी ने अपने को इस प्रकार माना है:—

आचार्य कामन्दकी ने अपने नीतिसार में अपने को आचार्य कौटिल्य का शिष्य माना है और यह स्वीकार किया है कि मैंने उस सर्वशास्त्रों के पारंगत प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्री की रचना को पढ़कर ही कामन्दकी ने नीतिसार को लिखने की चेष्टा की है। यथा :—

"विद्याओं में पारंगत उस आचार्य कौटिल्य द्वारा प्रणीत अर्थशास्त्र का (दर्शन से) अध्ययन करके मुझे जो उपलब्धि हुई है उसी से मैंने राजनीति ज्ञान की प्रियता के कारण संक्षेप में यह 'नीतिसार' ग्रन्थ रचा है।"[1]

कामन्दकी की इस प्रकार की पूर्व वर्णित शब्दावली से ऐसा भी प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में विचारकों की एक परम्परा सी बनी हुई थी। समाज आर्थिक क्षेत्र में जागरूक था। इस प्रकार के शास्त्रों का निरन्तर अध्ययन होता चला जा रहा था और आचार्य कौटिल्य अपने महान् ग्रन्थ के कारण ख्याति प्राप्त कर चुके थे। कौटिल्य अर्थशास्त्र अपनी सर्वाङ्गीणता से सर्वप्रिय

---

१. दर्शनात् तस्य सुदृशो विद्यानां पारदृश्वनः।
राजविद्याप्रियतया संक्षिप्तग्रन्थमर्थवत्॥ कामन्दकी १ सर्ग ७ श्लोक

और सम्मानित स्थान पा चुका था। भारतीय सामाजिक संरचना में निरन्तर विकास होता जा रहा था।

कामन्दकी ने आचार्य कौटिल्य के महान् ग्रन्थ को संक्षिप्त रूप में लिखकर कौटिल्य के विचारकों का प्रचार किया एवं एक नवीन विचारधारा को प्रस्तुत किया।

कामन्दकीय नीतिसार स्वयं में जहाँ एक सुबोध संस्कृत श्लोकों से परिबद्ध रचना है। वहाँ दूसरी ओर आचार्य कौटिल्य के महत्त्व को प्रकाश में लाने वाला यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय सिद्ध हुआ है।

यदि यह ग्रन्थ किसी विदुषी स्त्री ने सचमुच रचा है तो इससे यह भी परिलक्षित होता है कि प्राचीन भारतीय वाङ्मय में स्त्रियों का बहुत बड़ा योगदान है किन्तु कामन्दकी के कारण राजशास्त्र, समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र में स्त्रियों की रुचि का भी ज्ञान होता है। स्त्रियों की शिक्षा पर समाज का अधिक ध्यान था और अपनी रुचि, गति एवं प्रवृत्ति के अनुरूप स्त्रियाँ अपने भावों को व्यक्त करने में स्वतन्त्र थी। विद्या का वास्तविक महत्त्व समझ कर स्त्रियाँ भी आर्थिक विचारकों में अपना स्थान बना चुकी थीं।

विद्या के प्रकार और उससे लाभ :—प्राचीन भारतीय अर्थ शास्त्रियों ने अर्थ प्राप्ति के साधनों में विद्या को मुख्य माना है यदि मनुष्य को ज्ञान ही नहीं तो वह क्या काम करेगा ? और किस प्रकार करेगा ? विद्या व्यक्ति को सत्यपथ की ओर ले जाती है। साधारण से साधारण व्यक्ति को विद्या प्रकाश देकर विनय सम्पन्न करती है फिर शासक को तो विद्याओं का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। ज्ञानहीन व्यक्ति व्यसनों की ओर प्रवृत्त और बुरे लोगों के प्रभाव में शीघ्रता से आ जाता है। अतः सुखमय जीवन के निर्माण में विद्या का एक महत्त्व पूर्ण स्थान है। जैसे :—

विद्यायें चार हैं :—१—आन्वीक्षिकी २—त्रयी ३—वार्ता और शाश्वत रहने वाली ४—दण्डनीति, ये चारों विद्यायें देहधारियों के जीवन निर्वाह और कल्याण के लिए होती है।"[1]

इन चारों विद्याओं में किन-किन विषयों का विवेचन किया गया है उन्हें आचार्य कामन्दकी ने इस प्रकार माना है :—

---

१. आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती।
विद्याश्चतस्र एवैता योगक्षेमाय देहिनाम्॥ कामन्दकी २ सर्ग २ श्लोक

१—"**आन्वीक्षिकी** विद्या से आत्म विज्ञान होता है, त्रयी विद्या में धर्म, अधर्म का वर्णन है, वार्ता से अर्थ और अनर्थ का ज्ञान एवं दण्डनीति से नीति और अनीति का पूर्ण ज्ञान होता है।"[1]

आचार्य कामन्दकी ने इन चारों विद्याओं से किस-किस विषय का ज्ञान होता है इनका पृथक्-पृथक् इस प्रकार विवेचन किया है :—

"आन्वीक्षिकी को आत्मविद्या कहा जाता है क्योंकि वह दुख-सुख का ज्ञान कराती है और इसके द्वारा तत्व को जानकर आत्मज्ञानी हर्ष और शोक से रहित हो जाता है।"[2]

२—त्रयी :—"ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद, इन तीनों वेदों में वर्णित कर्म-उपासना आदि को 'त्रयी' कहते हैं। त्रयी विद्या में यथाविधि स्थित रहने से इहलोक और स्वर्ग लोक दोनों की प्राप्ति होती है। चारों वेद और उनके ६ अंग १. शिक्षा २. कल्प ३. व्याकरण ४. निरुक्त ५. छन्द ६. ज्योतिष, मीमांसा और न्याय का विस्तार धर्मशास्त्र और पुराण इन सभी को 'त्रयी' विद्या कहते हैं।[3]

अर्थशास्त्र में वार्ता और जीवनोपयोगिता में उसका महत्वः—

३. **वार्ताः**—"पशुपालन, कृषि करना, वाणिज्य करना यह वार्ता है। इस वार्ता के द्वारा जो जीवन यापन करता है वह वार्ता में वर्णित कार्यों से सम्पन्न सज्जन कभी इस प्रकार की वृत्ति से भय को प्राप्त नहीं होता।"[4]

पशु, कृषि से अधिक उत्पादित वस्तुओं से वाणिज्य किया गया है और इन तीनों के समन्वय को ही 'वार्ता' नाम दिया गया है। आचार्य कामन्दक ने

---

१. आन्वीक्षिक्यात्मविज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ।
अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीतौ नयानयौ॥ कामन्दकी २ सर्ग ७ श्लोक

२. आन्वीक्षिक्यात्मविद्या स्यादीक्षणात् सुखदुःखयोः।
ईक्षमाणस्तथा तत्वं हर्षशोकौ व्युदस्यति॥ कामन्दकी २।११

३. ऋग्यजुः सामनामानस्त्रयो वेदास्त्रयी मता।
उभौ लोकाववाप्नोति त्रय्यां तिष्ठन् यथाविधि।
अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणश्च त्रयीदं सर्वमुच्यते॥ कामन्दकी २।१२-१३

४. पाशुपाल्यं कृषिः पण्यं वार्त्ता वार्तानुजीविनाम्।
संपन्नो वार्तया साधुर्नवृत्तेर्भयमृच्छति॥ कामन्दकी २।१४

पूर्व वर्णित उद्धरण में 'वार्ता' वृत्ति से सम्पन्न व्यक्ति को जगत किसी प्रकार का दुख कष्ट नहीं पहुंचा सकता है। उपभोग के लिए वार्ता विद्या से सम्पन्न व्यक्ति अधिक से अधिक जीवनोपयोगी वस्तुओं का उत्पादन करता रहता है। अपनी आवश्यकता से अधिक उपयोग की वस्तुओं को वह वार्ता का ज्ञाता व्यक्ति दूसरों को देता है और उनसे व्यापार के माध्यम से अर्थप्राप्त कर अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ कर और भी कई आर्थिक योजनाओं को कार्यांचित करता है। अतः यह स्पष्ट हो गया कि वार्ता आर्थिक विकास में परमोपयोगी है।

आचार्य कामन्दकी ने वार्ता विद्या को जीवन में सर्वोपयोगी माना है। बिना वार्ता के कोई भी कार्य सिद्ध ही नहीं हो सकता है। जैसे—

"वार्ता ही प्रजा को साधती (सफलता देती) है, वार्ता पर ही लोक आश्रित हैं यदि प्रजा (जनता) व्यसनों या वार्ता रहित हो जाए तो फिर जगत में कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता।"[1]

वार्ता को सभी प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने अर्थ का मूल और अर्थशास्त्र का उद्गम स्थान माना है। वार्ता से सम्पन्न व्यक्ति कभी जगत में आर्थिक संकट से भयभीत नहीं होता।

४—दण्डनीतिः—"दमन दण्ड इस नाम से ख्यात है। इसीलिए दण्ड शासक भी है, उसकी नीति दण्डनीति है। अतः नयन को नीति कहते हैं।"[2]

शासक के पास यदि नीति रूपी दण्ड की शक्ति न रहे तो उसकी कोई भी चिन्ता न करे और उससे कभी भी भयभीत न हों। यहां तक की गाय का रक्षा के लिए सींग न होते और सांप के पास फण न होता तो वह छोटे-छोटे बच्चों का जेब में रखने का खिलौना बन जाता है। इसलिए जगत के व्यवहार और शासन को चलाने के लिये दण्ड को महत्त्व दिया गया है। यदि दण्ड न होता तो भले बुरों के साथ न्याय और अन्याय का ज्ञान कैसे होगा ?

प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों ने जहाँ दण्ड को चारों विद्याओं में शासन चलाने के लिए और आर्थिक व्यवस्था के विकास के लिए आवश्यक माना है

---

१. वार्ता प्रजा साधयति वार्ता वै लोकसंश्रयः।
प्रजानां व्यसनस्थायां न किञ्चिदपि सिध्यति ॥ कामन्दकी १३।२७

२. दमो दण्ड इति ख्यातस्तात्स्याद्दण्डो महीपतिः।
तस्य नीतिदण्डनीति नयनान्नीतिरुच्यते ॥ कामन्दक २।१५

वहाँ दूसरी ओर अति का विरोध भी किया है। आचार्य कामन्दकी ने दण्ड की कठोरता और दण्ड की मृदुता पर अपने वास्तविक विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं :—

"तीक्ष्ण (कठोर) दण्ड से प्रजा उत्तेजित हो जाती है और मृदु (कोमल) दण्ड से शासक का तिरस्कार करने लगती है। अतः शासक युक्त (उचित) दण्ड की व्यवस्था कर शासन चलाए।"[1]

आचार्य कामन्दकी ने अपने पूर्वाचार्यों के अनुभवों से लाभ उठाते हुए त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम-नियम-धन और इच्छा) की प्राप्ति में समय के अनुसार युक्ति पूर्वक दण्ड देना अच्छा माना है।

पूर्व प्रसंग में जिन चार विद्याओं का विवेचन किया गया है यदि उनमें आन्वीक्षिकी और त्रयी को आध्यात्मिक, धार्मिक या दार्शनिक कहकर छोड़ दिया जाये। इनके साथ ही दण्ड नीति को भी कठोर कह कर छोड़ दिया जाये तो जगत के व्यवहार को चलाने, जीवन यापन करने के लिए किस मार्ग को व्यक्ति अपनाएगा ? 'वार्ता' व्यक्ति की, समाज की और राष्ट्र की आर्थिक समस्याओं को वार्ता के द्वारा ही पूर्ण कर सकता है। चारों विद्याओं का यद्यपि अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण स्थान है किन्तु जीवन यापन और जगत के प्रत्यक्ष व्यवहार को चलाने के लिए, 'वार्ता' ही सबसे लाभप्रद प्रमाणित हुई है। प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र में तो 'वार्ता' का अपना एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

आर्थिक व्यवस्था को सुचारुरूप से चलाने के लिए एवं अर्थ प्राप्ति के साधनों पर जब तक अच्छे लोगों की नियुक्ति नहीं होती तबतक आर्थिक विकास और अर्थ प्राप्ति में सफलता नहीं मिल सकती है। कोष के लिए अर्थ का संग्रह भी नहीं हो सकता है। व्यक्ति की, समाज की एवं राष्ट्र की आर्थिक स्थिति को दृष्टि में रखते हुए प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने सम्पूर्ण शासन को चलाने वाले प्रशासन वर्ग, कर्मचारी तन्त्र को अच्छा रखने पर अधिक बल दिया है। खेत की बाड़ यदि खेत की रक्षा ही न करसके तो उस रक्षा करने वाली बाड़ का क्या लाभ ? आर्थिक विकास के कामों में कार्य करने वाले व्यक्ति ही अच्छे नहीं है तो क्या आर्थिक योजनायें सफल हो सकती हैं ? और राष्ट्र को अर्थ प्राप्त हो सकता है ? किसी व्यक्ति, किसी समाज और किसी

---

१. उद्वेजयति तीक्ष्णेन मृदुना परिभूयते।
दण्डेन नृपतिस्तस्माद्युक्तदण्डः प्रशस्यते ॥ कामन्दक २।३७

राष्ट्र के पास चाहे कितनी ही धनराशि क्यों न हो किन्तु जबतक उसकी व्यवस्था चलाने वाले अच्छे व्यक्ति नहीं होंगे तबतक उसका कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकता है। प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों की रचनाओं का अध्ययन करने पर यह भली भाँति अवगत होता है कि उन्होंने राष्ट्र के आर्थिक विकास, अर्थ प्राप्ति के स्थानों पर अच्छे बुद्धिमान्, त्यागी, कर्मठ, कर्तव्यनिष्ठ, प्रथम राष्ट्र का हित ध्यान में रखने वाले व्यक्तियों का चयन आवश्यक माना है। राष्ट्र में जब तक शान्ति और नियमों में कठोरता नहीं रहती तब तक वह राष्ट्र अपनी आर्थिक उन्नति की योजनाओं को चला ही नहीं सकता। सत्ताधारी जैसा व्यक्ति होगा समस्त राष्ट्र उसी प्रकार की विचारधारा में प्रवाहित हो जायेगा। अतः अच्छे शासक का होना नितान्त आवश्यक माना गया है। राष्ट्र निर्माता एवं सत्ताधारी ही राष्ट्रीय भावनाओं का जनता में विचार अपने कार्यों और आचरण के द्वारा लाते हैं। आचार्य कामन्दकी ने इस पर अपनी राय इस प्रकार दी है :—

"आत्म सम्पत्ति के गुणों से जो अच्छी प्रकार परिपूर्ण है और युक्तिपूर्वक कार्य को करता है ऐसे इन्द्र के समान शासक को पाकर जनता भी वृद्धि को प्राप्त होती है।"[1]

पृथ्वी का महत्त्व—अधिक उत्पादन देनेवाली, अर्थप्राप्ति में सहायक सुख सम्वृद्धि के लिए अच्छी गुणवती, कृषि के योग्य, धनधान्य को देनेवाली और जनता को आजीविका देनेवाली पृथ्वी ही अधिक लाभप्रद है। अच्छी भूमि के कारण ही राज्य की वृद्धि होती है और राजा का सम्मान बढ़ता है। अतः आचार्य कामन्दकी ने इसकी पुष्टि इस प्रकार की है :—

"भूमि के गुणों से ही राष्ट्र की वृद्धि होती है और राष्ट्र की वृद्धि से राजा की वृद्धि होती है। अतः शासक को समस्त वस्तुओं को देनेवाली भूमि को गुणवती बनाना चाहिए।"[2]

यह भूमि कितने लाभ और उपयोग की वस्तु है यह उसके अनेक गुणों से विदित होता है। इस प्रकार राष्ट्र को उन्नत करनेवाली भूमि का विशेष ध्यान रखते हुए शासक को आचार्य कामन्दकीने धन धान्य की खान माना है। इस

---

१. आत्मसम्पद्गुणैः सम्यक् संयुक्तं युक्तकारिणम्।
महेन्द्रमिव राजानं प्राप्य लोकोऽभिवर्द्धते॥ कामन्दकी ४।२१

२. भूगुणैर्वर्द्धते राष्ट्रं तदवृद्धिर्नृपवृद्धये।
तस्माद् गुणवती भूमिं भूत्यै भूपस्तु कारयेत्॥ कामन्दकी ४।५०

रत्नगर्भा भूमि से अनेक प्रकार के रत्न निकलते हैं। इसी में गोरक्षा के लिए घास और अच्छा जल उपलब्ध होता है एवं यह व्यापार को प्रोत्साहन देने वाली है। जैसे :—

"अन्न को उत्पन्न करनेवाली, व्यापारिक सामग्री द्वारा पण्यों में, खानों से नाना प्रकार के द्रव्यों से युक्त, गायों की हितकारी, अधिक जलवाली अच्छे, जनपदों से युक्त, सुन्दर हाथियों के वनों वाली, जल और स्थल के मार्गों से सम्पन्न, बिना वर्षा के भी अन्न देनेवाली भूमि सुशोभित हो रही है।"[1]

इस प्रकार के उद्धरणों से अवगत होता है कि उस युग में आर्थिक स्थिति सभी तरह से उन्नति पर थी। व्यापार चरम उन्नति पर था। जिससे राष्ट्र की आय, जनपद को सुख और व्यापारियों को अत्यधिक लाभ था। खानें आय का प्रमुख साधन थीं। उनसे अधिक बहुमूल्य धातुएँ निकलती थीं। पशुओं का आधिक्य था जिससे कृषि को करने में कठिनाई नहीं होती थी और दूध-घी की राष्ट्र में कमी न थी। जनपदों के लिए अन्न, जल, दूध और धन का किसी प्रकार का भी कष्ट न था। वन भी आय के बहुत बड़े साधन थे। व्यापारियों को मार्ग की कठिनाई न थी जल और थल में यातायात के सभी प्रकार के उस युग के अनुरुप साधन उपलब्ध थे। कृषि से अधिक उत्पादन वृद्धि के लिए सिंचाई का भी उत्तम प्रबन्ध था। यदि कभी समय-बे समय पर वर्षा भी नहीं होती थी तो भी सिंचाई की सुविधा के कारण उत्पादन पर कोई प्रभाव न पड़ता था। जनता को अवर्षण और सूखे की स्थिति से कोई कष्ट न होता था। ऐसी भूमि ऐश्वर्य की वृद्धि का कारण है।

आजीविका देने वाले एवं व्यापार की वृद्धि करने वाले देश (जनपद) और शासक की रक्षा करनी चाहिये

जिस राष्ट्र में आजीविका की समस्या, कृषि, पशु एवं वाणिज्य वृद्धि के पूर्ण साधन हों और देश जनशक्ति से भी पूर्ण हो, जनता परस्पर मेल रखने वाली और सहयोग से काम करने वाली हो। सभी शिक्षित हों। इस प्रकार का राष्ट्र जनशक्ति के बल से उन्नति कर सकता है। यदि शासक सुयोग्य और

---

१. शस्याकरवती पण्यखनिद्रव्य समन्विता।
गोहिता भूरिसलिला पुण्यैर्जनपदैर्वृता॥
रम्या सकुंजरवना वारिस्थल पथान्विता।
अदेवमातृका चेति शस्यते भूर्विभूतये॥ कामन्दकी ४।५१-५२

व्यसनहीन होगा तो वह अपनी जनता को दुखी एवं कष्ट में नहीं देख सकता है। जिस देश में आजीविका (रोजगार) की समस्या सुधारी है वह देश सुख और शान्ति में है। पेट भरने की समस्या ही आधुनिक और प्राचीन युग में सबसे प्रमुख समस्या थी। उस युग में एक तो काम करने को कोई भी व्यक्ति बुरा नहीं मानता था, श्रम को हेय नहीं अपितु आदर का स्थान दिया जाता था। यहाँ तक कि अच्छे कार्य करने वालों को सम्मान और पुरस्कार दिया जाता था। जिससे प्रोत्साहित होकर कृषक, श्रमिक, व्यापारी और कर्मचारी अपने-अपने कार्यों को कुशलता से करते थे। ऐसी स्थिति रहने पर कोई अपने कार्य को बुरा नहीं समझते हैं और वर्षों एक ही कार्य करने से उसमें कुशलता प्राप्त कर लेते हैं। यदि व्यक्ति अपने ही कार्य में उचित वेतन पा जाता है तो न वह कार्य करने में न आजीविका से चोरी नहीं करता है। अतः प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक आचार्य कामन्दकी ने ऐसे राष्ट्र और राष्ट्र के शासक की रक्षा करने पर बल दिया है। यदि ये दोनों स्थिर रहेंगे तो आजीविका और व्यापार में सुधार होने में कठिनाई न होगी।

"अपने अधीन आजीविका देने वाला, भूमि के गुणों के समान, पहाड़ के निकट, श्रमिकों और कारीगरों, व्यापारी वर्ग और कृषकों द्वारा बड़े-बड़े कार्यों को प्रारम्भ किये हुये स्थान।"

अपने से अनुराग रखने वाला, शत्रु से द्वेष करने वाला, दुख को सहन करने वाला महान्, अनेक देशों के जनों से युक्त, धार्मिक, पशु धन से धनी।"

"इस प्रकार का जनपद प्रशंसा के योग्य है जिसका नायक विद्वान् और निर्व्यसनी हो, उस जनपद का एवं राजा का प्रयत्न से सम्बर्धन करना चाहिये ऐसे राज्य और राजा की उन्नति करने के पश्चात् समस्त प्रजा की उन्नति और सम्वृद्धि स्वयं ही हो जायेगी।[1]"

इन उद्धरणों से अच्छी कृषि, अच्छे स्थान का वर्णन करते हुये अच्छे जनपद की उन्नति के उपायों को बताया गया है। अच्छे साधन सम्पन्न जनपद का

---

१. स्वाजीव्यो भूगुणयुक्तः सारूपः पर्वताश्रयः।
शूद्रकारुवणिक्प्रायो महारम्भकृषीवलः॥
सानुरागो रिपुद्वेषी पीडाकरसहः पशुः।
नानादेशः समाकीर्णो धार्मिकः पशुमान् धनी॥
ईदृग्जनपदः शस्तोऽमूर्खव्यसनिनायकः।
तं वर्द्धयेत्प्रयत्नेन तस्मात्सर्वं प्रवर्द्धते॥ कामन्दकी ४।५४,५५,५६,

यदि अच्छा शासक होगा तो दोनों अच्छों के योग से उस समाज की समस्त प्रकार की उन्नति सम्वृद्धि अवश्य होगी। अच्छे स्थान का तो महत्त्व है ही किन्तु अच्छे स्थान को पाकर अच्छा शासक जनता के सहयोग से अपने जनपद की समस्त प्रकार की समस्याओं का समाधान बड़ी सुगमता से कर सकता है।

कामन्दकी की दृष्टि से पुरुषार्थ चतुष्टय का महत्त्व :—

जीवन को सुखमय एवं उन्नत करने के लिये—संसार के सभी देशों के विचारकों ने विचार का प्रयत्न किया। सभी ने अपनी-अपनी दृष्टि और ज्ञान के अनुरूप ही चिन्तन किया। आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक दृष्टि से इन चारों पदार्थों पर विस्तृत विवेचन हुआ है।[1]

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने एक ओर अर्थ को जीवन के यापन और जगत के व्यवहार को चलाने के लिये परम आवश्यक माना है और दूसरी ओर क्रमवद्ध दृष्टि से जीवन को तराजू के दोनों पटरों के समान एक सन्तुलित व्यवस्था में रहने पर बल दिया है। गीता में भी जगत की वस्तुओं का एक निर्धारित मात्रा में उपभोग करने पर सुख की प्राप्ति बताई गई है।

"कार्यों में यथा योग्य चेष्टा करने वाले को युक्तिपूर्वक आहार-विहार करने पर ही सुख होता है।"[2]

आचार्य कामन्दकी ने भी चारों पदार्थों का वर्णन करते हुये धर्म का अर्थ से, अर्थ का काम से और काम का मोक्ष (सुख) से पारस्परिक सम्बन्ध जोड़ा है, जो इस प्रकार कामन्दकी नीतिसार में वर्णित है :—

"धर्म से अर्थ, अर्थ से काम और काम से सुख के फल का उदय होता है जो व्यक्ति इन चारों का युक्ति पूर्वक सेवन नहीं करता वह इन चारों का तो नाश करता ही है किन्तु अपने को भी नष्ट कर देता है।"[3]

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने जीवन को पूर्ण सुखी एवं समस्त प्रकार के बहुमुखी नियम वद्ध सुखों के भोगने के पश्चात् ही मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी माना है।

---

१. विस्तृत अध्ययन के लिए लेखक की 'प्राचीन भारतीय सामाजिक संस्थायें' नामक पुस्तक के 'पुरुषार्थ चतुष्टय' को पृष्ठ ६८ से ८५ तक देखें।

२. युक्ताहारविहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु। गीता-अर्धध्याय ६ श्लोक १७ पूर्वार्द्ध।

३. धर्मादथाऽर्थतः कामः कामात् सुखफलोदयः।
आत्मानं हन्ति तान् हत्वा युक्त्या यो न निषेवते॥ कामन्दकी १।४९

कोष का स्वरूप और उसका महत्वः—प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने आर्थिक विकास, राष्ट्र की सुरक्षा और जनता की समृद्धि के लिये कोष को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है। कोष के बिना शासक एक छोटा सा कार्य भी नहीं कर सकता है। जिस कोष पर राज्य का समस्त कार्य निर्भर है उसका संचय किस प्रकार होना चाहिये ? कोष में अधिक अर्थ कैसे आयेगा ? यथा :—

"अधिक द्रव्य का आना और अल्प अर्थ का जाना अर्थात् अधिक आय और कम व्यय, ख्यातिप्राप्त देवताओं से पूजित, सम्पूर्ण इच्छाओं से युक्त द्रव्यों से भरपूर, सहृदय, अच्छे लोगों से आचरित।"

"मोती, सुवर्ण, रत्नों से सम्पन्न, परम्परागत पिता, पितामह से चला आ रहा, धर्म (शुद्धविचारों) से एकत्रित किया हुआ, सभी प्रकार के व्यय को वहन करने योग्य, कोषाध्यक्ष को ऐसे कोष से सम्पन्न होना चाहिये।"[1]

वस्तुतः कोष का महत्व राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही होता है। उस कोष का क्या लाभ जिससे जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति न हो सके। उस कोषाध्यक्ष से क्या लाभ जो कोष की अपव्यय से रक्षा न कर सके। कोष में आने वाला अर्थ अधिक और व्यय होने वाला अर्थ अल्प होना चाहिये। कोष शासक और शासन की संकट के समय रक्षा करता है। जैसे साधारणतया जिस व्यक्ति के पास अपना कुछ आपत्ति के समय के लिए कोष रहता है। वह व्यक्ति तत्काल आपत्ति से सामना करने के लिये बड़े साहस से तैयार हो जाता है और जिसके पास कुछ भी धन नहीं वह उस आपत्ति में पड़ा हुआ अपने आर्थिक विकास एवं अभ्युदय का मार्ग ही नहीं बना सकता। उसी प्रकार शासक और राष्ट्र भी बिना कोष के नष्ट हो जाते हैं। अतः दोनों के लिये कोष को अत्यंत आवश्यक माना गया है।

कोष का महत्त्व व्यक्त करते हुये आचार्य कामन्दकी ने इस प्रकार कोष की वास्तविकता बताई है :—

---

१. बह्वादानोऽल्पनिः स्रावः ख्यातः पूजितदैवतः।
ईप्सितद्रव्य सम्पूर्णो हृद्य आप्तैरधिष्ठितः॥
मुक्ताकनकरत्नाढ्यः पितृपैतामहोचितः।
धर्मार्जितो व्ययसहः कोष कोषज्ञसम्मतः॥ कामन्दकी ४।६२–६३

"कोष, क्षीण हुये बल की वृद्धि करता है और प्रजा को स्वतः ग्रहण कर देता है, कोषवाला राजा शत्रुओं को भी आजीविका देकर वश में कर लेता है।"[1]

कोष रक्षा का लाभ :—कोष को एकत्रित क्यों किया जाता है और कोष का राजा और राष्ट्र के लिये क्या महत्व है ? कोष का रक्षक कोषाध्यक्ष को माना गया है। उसे उचित व्यय करने पर अधिक ध्यान देना चाहिये। अपव्यय से ही कोष समाप्त होता है। जैसे :—

"धर्म एवं अर्थ के लिये और कर्मचारियों के भरण पोषण के लिये, आपत्ति के समय के लिये कोषाध्यक्ष को कोष की रक्षा करनी चाहिये।"[2]

राजा को अपने परम्परागत रूप से चले आ रहे कर्मचारियों एवं मित्र जनों को नहीं छोड़ना चाहिये, क्योंकि वे पितामह और पिता के समय से अपने वश में हैं और अनेक युद्धों में इन्होंने अपना जीवन देकर राज्य की रक्षा की है। ऐसे मित्रों को कभी दूर नहीं करना चाहिये। ये राष्ट्र, राज्य और कोष की वृद्धि में साधक ही हो सकते हैं। यथा:—

"धर्म, अर्थ और काम का संयोग यह तीन प्रकार के मित्रों का फल है; जिस मित्र में ये गुण न हों बुद्धिमान् व्यक्ति को उनका संग नहीं करना चाहिये।"[3]

आचार्य कामन्दकी ने कोष को तो महत्वपूर्ण स्थान दिया ही है किन्तु इसके साथ ही साथ कोषाध्यक्ष का भी आवश्यक स्थान है। कोषाध्यक्ष के पास समस्त कोष रहता है और कोष पर ही समस्त जीवन निर्भर है। अतः कोषाध्यक्ष पर भी विशेष ध्यान रखना चाहिये। जैसे—

'कोष्टागार में जो व्यक्ति नियुक्त है, जीवन उसी के अधीन है। अतः उसकी निरन्तर परीक्षा करते रहना चाहिये और कोष की हानि के लिये अधिक व्यय नहीं करना चाहिये।"[4]

---

१. क्षीणं बलं वर्द्धयति स्वतो गृह्णाति च प्रजाः।
कोषवान्पृथिवीपालः परैरप्युपजीव्यते ॥ कामन्दकी १३।३४

२. धर्म्म हेतोस्तथार्थाय भृत्यानां भरणाय च।
आपदर्थश्च संरक्ष्य कोषः कोषवता सदा ॥ कामन्दकी ४।६४

३. धर्मार्थकाम संयोगो मित्राणां त्रिविधं फलम्।
यस्मादेतत्त्रयं न स्यान्नतत्सेवेत पण्डितः ॥ कामन्दकी ४।७२

४. कोष्ठागारेऽभियुक्तः स्यात्तदायत्तं हि जीवितम्।
नात्ययश्च व्ययं कुर्य्यात्प्रत्यवेक्षेत चान्वहम् ॥ कामन्दकी ५।७७

अपवाद रूप में यदि धर्म के कारण अच्छे कार्यों पर व्यय करने के कारण प्रजा के संकट के समय और राष्ट्र पर आपत्ति आने पर कोष के कम होने से कोई विशेष हानि नहीं होती है। जैसे :—

"धर्म के कारण कोष के क्षीण होने पर भी उस क्षीण कोष की शोभा है।"[1]

कोप पर ही राज्य के समस्त व्ययों का भार पड़ता है। अतः कोष को राज्य का मुख्य अंग माना गया है :—

"राज्य में पुलों का बांधना, व्यापारिक कार्य, प्रजा के मित्रों का संग्रह, धर्म, काम और अर्थ की सिद्धि ये सब कोष से ही पूर्ण होती हैं।"[२]

कोष की सुरक्षा एवं उसका सदुपयोग करने के लिये आचार्य कामन्दकी ने अच्छे लोगों के सम्पर्क में रहने के लिए राजा को निर्देश दिये हैं। क्योंकि "संसर्ग से गुण और दोषों की उत्पत्ति होती है।" अर्थ के कारण जगत में अधिक स्वार्थी मित्र मिल जाते हैं।[3]

आर्थिक विकास के कारण, प्रजा का उचित रीति से परिपालन करने के कारण शासक जनता की दृष्टि में अच्छा और अधिक दिन तक राज्य का सुखपूर्वक उपभोग करता रहता है इसके बिपरीत कार्य करने वाले शासक को जनता अवहेलना, घृणा और बुरी दृष्टि से देखती है। ऐसे शासकों के ही विरुद्ध जनता विद्रोह कर राजक्रान्ति प्रारम्भ कर देती है। अतः अपनी प्रजा की आर्थिक स्थिति पर सर्व प्रथम जो राजा ध्यान रखता है वह चिरकाल तक सुख से अर्थ प्राप्त कर लेता है। जैसे—: प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक कामन्दकी का विचार है :—

'जनपद के परिपालन के कारण राजा चिरकाल तक आदर और लक्ष्मी (अर्थ) को प्राप्त करता है।"[४]

"आचार्य कामन्दकी ने राजा को जीविका देने के विषय में कल्पवृक्ष से

---

१. धर्मार्थं क्षीणकोषस्य कृशत्वमति शोभते। कामन्दकी ५।८८ पूर्वार्ध

२. संतुबन्धवणिक्कर्म प्रजामित्र परिग्रहः।
धर्म कामार्थसिद्धिश्च कोषादेतत्प्रवर्त्तते॥ कामन्दकी १३।३२

३. संसर्गजाः दोषगुणाः भवन्ति। सर्वे सांक्रामिका गुणाः। कामन्दकी ५।७

४. जनपद परिपालनाच्चिरं स्पृशति नृपः परमं श्रियः पदम्॥ कामन्दकी ३।७९

तुलना की है। आजीविका को चाहने वाले व्यक्तियों को जीविका हेतु राजा की सेवा करनी चाहिये।"[1] (रोजगार) जीविका की समस्याओं को सुलझाने वाला कामन्दकी ने राजा को माना है। क्योंकि उसके पास जनता को रोजी-रोटी देने के अनेक साधन हैं। रोजी रोटी न मिलने पर ही जनता विद्रोह, षड्यन्त्र और कुकृत्यों की ओर प्रवृत्त होती है। इस प्रकार की समस्त बुराइयों का कारण शासक ही होता है, क्योंकि उसने सत्ता को इसलिए हस्तगत किया है कि मैं समस्त प्रकार की अव्यवस्था को दूरकर जनता की सुख सम्वृद्धि के लिए अनेक परियोजना खोलकर आजीविका और संरक्षण दूँगा। अपनी वचन-बद्धता एवं आर्थिक विकास न कर सकने वाले शासक को जनता व्यर्थ समझकर छोड़ देती है। जैसे :—

"संसार में शासक मेघ के समान आजीविका देने वाला होता है, और जो आजीविका नहीं दे सकता उसे लोग इस प्रकार छोड़ देते हैं जैसे पक्षी सूखे पेड़ को छोड़ देते हैं।[2]

आर्थिक विकास के युग में व्यक्ति को रोजी रोटी और कोई कार्य न मिलेगा तो वह क्या करेगा और विकास किस चीज का हुआ? मनुष्य का आर्थिक स्तर उसके पास अर्थ आने से ही होगा। बिना अर्थ के व्यक्ति का विकास होना अत्यन्त कठिन है। अतः राजा को अपनी जनता को जीविका देनी चाहिए। यह शासक होकर यदि अपनी नई-नई आर्थिक योजनाओं को खोल कर प्रजा के लोगों को आजीविका नहीं दे सकता तो उस शासक का पद छोड़ देना चाहिये। यदि शासक आजीविका की समस्या का समाधान नहीं कर सकता तो उसे भी भरपेट भोजन करने का अधिकार नहीं है। ऐसे शासक को अपने कोष से प्रजा के हित के लिए कोई उद्योग वाला कार्य खोल देना चाहिए। अपनी आजीविका में लगे हुए प्राणि शासक को कुछ न कुछ 'कर' के रूप में देते ही हैं और राज्य संगठन में योगदान देते ही रहते हैं। जिनके पास कोई कार्य नहीं होता है वे राज्य के विरूद्ध षड्यन्त्र रचते हैं और समाज के विरूद्ध कार्यों को अपना कर अपना भरण पोषण करते हैं। अतः कामन्दकी

---

१. इत्यर्थवृत्तिसम्पन्नाः कल्पवृक्षोपमं नृपम्।
अभिगम्य गुणैर्युक्तं सेवेयुरनुजीविनः॥ कामन्दकी ५।१

२. आजीव्यः सर्वभूतानां राजा पर्जन्यवद्भुविः।
निराजीव्यं त्यजन्त्येनं शुष्कवृक्षमिवाण्डजाः॥ कामन्दकी ५।५९

ने राजा को प्रजा की आजीविका के लिये नवीन कार्यों को खोलने का परामर्श दिया है।

जीवन की शुद्धता का महत्त्व :—समाज में अच्छे गुणों को, शुद्धता और पवित्रता को क्यों महत्त्वपूर्ण माना गया हैं ? प्रायः यह देखा जाता है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह समाज में होने वाली भली बुरी घटनाओं से प्रभावित हुये बिना नही रह सकता है। अतः प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने समाज के मूर्धन्य लोगों को अच्छे कार्य करने की राय दी है क्योंकि श्रेष्ठ लोगों को देख कर ही साधारण जन वैसा कार्य करने लग जाते हैं। अतः आचार्य कामन्दकी ने इस पर अपना विचार इस प्रकार व्यक्त किया है :—

"बुद्धिमान् व्यक्ति कष्ट में रहने पर भी शुद्ध आचरण का जीवन में सेवन करें। इसी से वे जगत में सम्मान को प्राप्त करते हैं न कि अपमान को।"[1]

संसार में कोई भी वस्तु या ऐसा कार्य नहीं जिसे मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकता। उन सभी को प्राप्त करने एवं सफलता की कुंजी आचार्य कामन्दकी ने उद्योग को माना है :—

"संसार में अत्यधिक कठिनता से प्राप्त होने वाली वस्तु की परिश्रमी व्यक्ति इच्छा करता है तो उसे वह प्राप्त हो जाती है यदि वह उद्यम में निरन्तर प्रयत्नशील रहे।"[2]

अनुजीवी (सेवक) में इन गुणों का होना आवश्यक है :—

सेवावृत्ति विनम्रता के कारण ही हो सकती है। जीविका देने वाले व्यक्ति के साथ सद्व्यवहार करना अत्यावश्यक है। कुछ ऐसे गुण है जिनका पालन जीविका चाहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपनाना चाहिये। जैसे कि आचार्य कामन्दकी का विचार है :—

"दक्षता, भद्रता, दृढ़ता, क्षमाशीलता, दुखों को सहन करने की शक्ति, सन्तोष, शील और उत्साह ये सेवा करने वाले को शोभा देते हैं।"[3]

---

१. विलश्यन्नपि हि मेधावी शुद्धं जीवनमाचरेत्।
तेनेह श्लाघ्यतामेति लोकेभ्यश्च न हीयते ॥ कामन्दकी ५।९

२. दुराहमपि लोकेऽस्मिन् यद्यद्वस्त्वमिवाञ्छति।
तत्तदाप्नोपि मेधावी तस्मात्कार्यः समुद्यम ॥ कामन्दकी ५।११

३. दक्षता भद्रता दार्ढ्यं क्षन्तिः क्लेशसहिष्णुता।
सन्तोषः शीलमुत्साहो मण्डयत्यनुजीविनम् ॥ कामन्दकी ५।१५

अच्छे अधिकारियों की नियुक्ति ही अच्छा शासन ला सकती है :—

आचार्य कामन्दकी का विचार है कि किसी भी शासन का शासक कितना ही अच्छा क्यों न हों किन्तु बुरे कर्मचारियों, अधिकारियों के कारण वह कुछ ही दिनों में समाप्त हो जायेगा। अतः अच्छे शासक को, प्रजा का अभ्युदय चाहने वाले को, जनता में आर्थिक विकास करने वाले शासक को अच्छे व्यक्तियों की नियुक्ति करने पर बल दिया है। अच्छे व्यक्तियों की नियुक्तियों से अच्छी व्यवस्थायें कार्यान्वित होंगी और व्यक्तिगत स्वार्थ हेतु बहुजनहिताय के उद्देश्य से योजनायें बनेंगी। जैसे :—[1]

"सम्पूर्ण राज्य कार्यों में जो अभ्यस्त, अनुभवी, पवित्र और उन कार्यों को समस्त प्रकार से जानते हों। उद्योग में सम्पन्न, सभी कार्यों में दक्ष ऐसे अध्यक्षों की नियुक्ति करनी चाहिये।"[1]

"सम्पूर्ण आपत्तियों में परीक्षा किये हुए आप्त पुरुषों को ही नौकरी में नियुक्त करना चाहिये।"[2]

जिन व्यक्तियों की अच्छी प्रकार कठिन समय में परीक्षा ली गई है और वे उसमें सफल, कर्तव्यनिष्ठ एवं सच्चे प्रमाणित होते हैं तो ऐसे लोगों को अच्छे शासक को नियुक्त करना चाहिये। इस प्रकार के चयन के माध्यम से बुरे लोगों का चयन न हो सकेगा और आर्थिक व्यवस्था सुचारुरूप से चलेगी। बुरे अधिकारियों की नियुक्ति शासक को अपमानित और समाप्त कर देती है। शासन में अच्छे अधिकारियों के रहने पर सुधार होता है और बुरे अधिकारियों के रहने पर प्रजा को कष्ट और शासन में परिवर्तन आता है।

नियत समय पर वेतन का भुगतान :—कर्मचारी और राज्य सेवकों की जीविका का एकमात्र आश्रय वेतन है। यदि वह वेतन भी उन्हें उचित और निर्धारित समय पर नहीं मिलेगा तो वे अपने परिवार के सभी खर्चों को कैसे चलायेंगे ? जहाँ शासक नियत समय पर वेतन न देता होगा। वहाँ के कर्मचारी अपनी दोष बुद्धि और आवश्यकता के अनुसार राज्य के धन में से अपहरण करते होंगे। इस प्रकार की त्रुटियों के कारण काम के समय में भी निष्ठा और कर्तव्य समझ कर कर्मचारी कार्य न करते होंगे।

---

१. अभ्यस्तकर्मणस्तज्जान् शुचीन् सुज्ञानसम्मताम्।
कुर्यादुद्योगसम्पन्नानध्यक्षान् सर्व कर्मसु ॥ कामन्दकी ५।७५

२. आपद्वारेषु सर्वेषु कुर्यादाप्तान् परीक्षितान् ॥ कामन्दकी ५।७४ पूर्वार्द्ध

इस प्रकार की व्यवस्था को दूर करने के लिए कामन्दकी ने शासक को इस प्रकार के निर्देश दिये हैं :—

आश्रित रहने वाले भृत्यों की वृत्ति को राजा को चाहिये कि वह नियत समय पर दे दे। वेतन का समय व्यतीत न करे।"[1]

वृत्ति को महत्त्व देते हुए कभी भी राजा को बिना किसी अपराध के किसी वृत्ति को विलोप नहीं करना चाहिये। ऐसा करने से कर्मचारियों की वृत्ति समाप्त होगी और जनता के लोगों को कष्ट एवं आजीविका की समस्या विकराल रूप धारण करेगी। इस पर आचार्य कामन्दकी ने इस प्रकार कहा है :—

"काल, स्थान और पात्र में वृत्ति का विलोप (नष्ट) न कर दे। इस वृत्ति के समाप्त करने से शासक निन्दा का पात्र होता है।[2]

अर्थ का जीवन में महत्त्व :—संसार में अर्थ-लक्ष्मी का ही बोलबाला है। अर्थवाले को ही सब महान्, उत्तम, कुलीन और गुणज्ञ समझते हैं। अर्थ के बिना जगत का कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। अर्थवान् सब चीजों से रहित होने पर भी सम्मानित स्थान पाता है। आचार्य कामन्दकी ने (अर्थ) लक्ष्मी का महत्त्व इस प्रकार व्यक्त किया है :—

"संसार में लक्ष्मी (अर्थ) ही उत्तम वंश है, लक्ष्मी के अतिरिक्त कोई वंश नहीं है। जिसके पास कोष और बल है संसार उसी का अनुगमन करता है।"[3]

अर्थवान् व्यक्ति की संसार अत्यन्त कठिन परिस्थिति में भी सेवा करने को तत्पर रहता है। निर्धन और आश्रयहीन की संसार में कोई भी सेवा करने को तैयार नहीं। अर्थ ही सब का सच्चा मित्र है। भौतिकवादी जगत में तो इस विषय में कुछ कहा ही नहीं जा सकता।

'अर्थ की इच्छा करने वाला यह जगत् आग से जलते हुए पुरुष की भी सेवा करता है। कम हो गया है दूध जिसका ऐसी माता को गाय का बछड़ा भी छोड़ देता है।"[4]

---

१. अहापयन्नृपः कालं भृत्यानामनुजीविनाम् ॥ कामन्दकी ५।६४

२. काले स्थाने च पात्रे च न हि वृत्तिं विलोपयेत् ।
एतद्वृत्तिविलोपेन राजा भवति गर्हित ॥ कामन्दकी ५।६५

३. लक्ष्मीरेवान्वयो लोके न लक्ष्म्याः परतोऽन्वयः ।
यस्मिन् कोपो बलञ्चैव तस्मिल्लोकोऽनुगच्छति ॥ कामन्दकी ५।६१

४. अर्थार्थी जीवलोकोऽय ज्वलन्तमुपसर्पति ।
क्षीणक्षीरां निराजीव्यां वत्सस्त्यजति मातरम् ॥ कामन्दकी ५।६३

आचार्य कामन्दकी केऊपर वर्णित उद्धरणो से अर्थ की महत्ता अच्छी प्रकार विदित होती है। संसार में सदा अर्थ का महत्त्व रहा है और रहेगा। यदि अर्थ ही नहीं रहेगा तो जीवन वा व्यवहार एवं जीविका कैसे चलेगी? अर्थ के रूप में अन्तर हो सकता है किन्तु बिना अर्थ के जगत का व्यवहार चलना अत्यन्त कठिन कार्य है। सदा सभी युगों में धनवानों ने अपने धन के बल से अनहोने कार्य किये और सभी को अपने द्वार पर बुलाकर दिखाया। अतः उस धन को सही मार्गों से संग्रह करने का उपाय सोचना ही होगा।

इतना सब कुछ होने के पश्चात् भी अर्थ के प्रति प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों का अर्थ संग्रह करने का अपना एक सबसे भिन्न दृष्टिकोण रहा है। प्राचीन भारतीय विचारकों ने धर्म को चारों पदार्थों मे मुख्य स्थान दिया है।[1] आचार्य कामन्दकी ने भी अपना विचार इस प्रकार रखा है :—

"धर्म के संरक्षण में तत्पर शासक धर्म के द्वारा ही अर्थ की वृद्धि करे। जो-जो प्रजा के कार्यों में बाधा पहुँचाये राजा को उनका वध कर देना चाहिये अथवा उन्हें अच्छे कार्य करने की शिक्षा देनी चाहिये।"[2]

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने पुरुषार्थ में धर्म शब्द का अधिक प्रयोग किया है किन्तु धर्म निरपेक्ष विचारधारा के लोगों को धर्म शब्द से सम्प्रदाय विशेष एवं साम्प्रदायिक भावनाओं को प्रोत्साहित नहीं समझना चाहिये। यहाँ पर धर्म उन मानवीय उन्नत सिद्धान्तों से है जो अपनी उन्नति के साथ दूसरों को उन्नत करने का मार्ग बताते है और मानव को मानव के निकट लाने के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। धर्म अपने पवित्र सिद्धान्त नियमों के द्वारा मानव के मन की अपवित्रा को दूर करता है। विषमता, द्वेष, घृणा, भेदभाव और अज्ञान को फैलाने वाले विचारों को धर्म नहीं अपितु 'भ्रम' और स्वार्थ धर्म कहा जा सकता है। इस प्रकार की संकुचित धारणा ने ही धर्म को अधर्म मे परिणित किया है। इन भावों से अनुप्राणित होकर धर्म के विषय मे लोग शंकित, आक्रोशित और चिन्तित हो जाते हैं।

आचार्य कामन्दकी ने तो अर्थप्राप्ति में धर्म को मुख्य मानकर धर्म से ही राज्य को उन्नति और अच्छे फल की प्राप्ति माना है :—

१. पुरुषार्थ चतुष्टय पर विस्तृत अध्ययन के लिये लेखक की 'प्राचीन भारतीय सामाजिक संस्थायें' पृष्ठ ६२ पर देखें।
२. धर्मसंरक्षणपरो धर्मेणार्थं विवर्धयन्।
ये ये प्रजा प्रबाधेरंस्ताञ्छिन्ध्याच्च महीपतिः॥ कामन्दकी ६।६

"अतः धर्म को आगे करके शासक को अर्थ प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए धर्म के द्वारा ही राज्य की वृद्धि होती है और उस धर्म का स्वादिष्ट फल ही अर्थ है।"[१]

आर्थिक व्यवस्था का विकास किस प्रकार होगा ? आर्थिक विकास की योजना बना देने मात्र से किसी भी देश का आर्थिक विकास नहीं होता है और न हुआ ही है। आर्थिक योजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए उस विषय के कुशल व्यक्तियों के द्वारा ही कार्य सम्पन्न होगा। जिन लोगों की उस विषय में रुचि, गति एवं प्रवृत्ति होगी, वही लोग उस कार्य की ओर अग्रगामी होंगे। आचार्य कामन्दकी ने अपने गुरु आचार्य कौटिल्य की भांति यह अनुभव किया था कि अपने विषय के विशेषज्ञों को ही वह कार्य सौंपा जाना चाहिये अथवा उन लोगों की ही नियुक्तियां करनी चाहिये। जिससे कार्य द्रुतगति से और कुशलता से होगा।

"जो जिस वस्तु को जानता हो उसको उसी कार्य में नियुक्त करे।"[२]

आर्थिक व्यवस्था को सफल बनाने में, कर्मचारियों का उचित चयन करने में, योग्यता की परीक्षा लेने में और शासन को चलाने में अच्छा शासक तभी सफल हो सकता है जब अच्छे लोगों की वह नियुक्तियां करेगा। अच्छे लोग अपने कर्तव्य का भी ध्यान रखते हैं। आर्थिक योजनाओं का सफल होने का मुख्य कारण अच्छे त्यागी कर्तव्यनिष्ठ लोगों का ही चयन है। आर्थिक योजनाओं में हानि होने का क्या कारण है ? अयोग्य, स्वार्थी, अकर्मण्य और कर्तव्य भ्रष्ट लोगों का ही चयन मुख्य कारण है। इस प्रकार सभी प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने आर्थिक योजनाओं की सफलता के लिए अच्छे व्यक्तियों के चयन को अत्यावश्यक माना है।

शासक को जनता से 'कर' कैसे ग्रहण करना चाहिए ?

राज्य का कोष 'कर' के ग्रहण करने से वृद्धि को प्राप्त होता है। यदि 'कर' न लिया जायेगा तो राज्य का व्यय कैसे बहन होगा ? जनता से अच्छे शासक को कर युक्ति और नीति के अनुसार लेना चाहिए। यदि शासक अपने व्यर्थ के व्ययों का चलाने के लिए जनता पर अधिक कर लगाता है तो प्रजा के

---

१. तस्माद्धर्मं पुरस्कृत्य यतेतार्थाय पार्थिवः।
धर्मेण वर्द्धते राज्यं तस्य स्वादु फलं श्रियः॥ कामन्दकी १।१५

२. यो यद्वस्तु विजानाति तं तत्र विनियोजयेत्। कामन्दकी ५।७६

दुख से वह राजा स्वयं समाप्त हो जाता है। अच्छे न्यायप्रिय राजा को प्रजा से कैसे 'कर' ग्रहण करना चाहिए। इस पर आचार्य कामन्दकी ने जनता के हित को ध्यान में रखते हुए इस प्रकार कहा है :—

"जिस प्रकार गाय पाली जाती है और समय पर दूध देती है उसी प्रकार प्रजा से कर ग्रहण करना चाहिए। जिस प्रकार लतायें सींचने और बढ़ाने के पश्चात् ही पुष्प और फल देती हैं।"[1]

गाय को जी जान लगाकर भूख प्यास का ध्यान रखते हुए अत्यधिक सेवा की जाती है। जिस प्रकार अपने उद्यान में पेड़, लताओं को माली सींचता है और समय पर उनसे फूल फल पाता है। ठीक उसी प्रकार राजा भी प्रजा की सेवा करता हुआ उससे कर ग्रहण करे। तात्पर्य यह है कि बिना जनता की सेवा किये शासक को उससे कुछ पाने का अधिकार नहीं है। राजा का प्रजा की रक्षा करना प्रथम कर्तव्य है। कृषि की उत्पत्ति की वृद्धि में राजा का भी हाथ है। वह दुष्ट लोगों से सुरक्षा का ध्यान रखता है। दुर्भाग्य से किसी प्रकार कृषि में कुछ भी उत्पन्न न हो दुर्भिक्ष आदि पड़ जाए। उस समय शासक ही सहायता करता है। इस प्रकार की सुरक्षा और सहायता के कारण प्रजा से राजा को कर पाने का अधिकार है।

जो शासक प्रजा से इस प्रकार कर ग्रहण करता है। वह अधिक दिन तक स्थिर और सुखी रहता है। यथा :—

"प्रजा जनों से इस प्रकार शासक को धन ग्रहण करना चाहिये। जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों (कर) से जल ग्रहण करता है।"[2]

जिस प्रजा की राजा रक्षा करेगा वह प्रजा एक न एक दिन उसको उसका फल अवश्य देगी क्योंकि कोई भी भला-बुरा किया हुआ कार्य अपना फल अवश्य देता है जैसा आचार्य कामन्दकी ने स्पष्ट अपना परामर्श इस प्रकार अच्छे राजा को दिया है :—

"जिस प्रकार एक छोटा सा बीजांकुर अभिरक्षित होने पर परिपुष्ट होकर

---

१. यथा गौः पाल्यते काले दुह्यते च तथा प्रजा।
सिच्यते चीयते चैव लता पुष्पफलार्थिना॥ कामन्दकी ५।८४

२. आददीत धनं तेभ्यो भास्वानस्रैरिवोदकम्॥ कामन्दकी ५।७४ उत्तरार्ध

नियत समय पर फल देता है, इसी प्रकार रक्षित और परिपालित प्रजा भी समय पर राजा को धनरूपी फल देती है।"[१]

राजा प्रजा से सम्पूर्ण वस्तुयें प्राप्त करता है। अतः उसे उचित रीति से प्रजा का संरक्षण और सम्वर्धन करना चाहिये। प्रजा की आर्थिक स्थिति अच्छी और शासन में शान्ति रहेगी तभी राजा उससे सभी वस्तुयें प्राप्त कर सकेगा। जैसे :—

"हिरण्य (सोना) धान्य (अन्न) वस्त्र और वाहन तथा अन्य द्रव्य आदि वस्तुयें जनता से ही उसे प्राप्त होती हैं।"[२]

राजा को प्रजाका शोषण कर 'कर' प्राप्त नहीं करना चाहिए। इस प्रकार 'कर' ग्रहण करे कि प्रजा दुखी न हो और दुखी की अनुभूति भी प्राप्त न करे। जैसे रक्षा करने के पश्चात् ही शासक को अपना अंश प्रजा से पाना चाहिए।

"जिस प्रकार कुशल व्यक्ति कांटों की शाखा वाली लकड़ी की बाढ़ से अपने खेतों की रक्षा करता है, ठीक उसी प्रकार राजा को इस जगत की रक्षा करते हुए कर प्राप्ति द्वारा भोग करना चाहिए।"[३]

जनता को दुष्ट लोगों का सदा भय बना रहता है और वे आर्थिक विकास के कार्यों कों बाधा भी उपस्थित करते हैं। ऐसी स्थिति में कर ग्रहण करने वाले शासक को इन भय उपस्थित करने वाले लोगों से जनता की रक्षा करनी चाहिए। वास्तविक रक्षा और सेवा करने के पश्चात् ही राजा उसके प्रतिरूप में कर पासकेगा। अतः दुष्टों से प्रजा की रक्षा करे। **यथा :—**

१—"राजा के नियुक्त अधिकारी २—चोर ३—शत्रु और ४—राजा के प्रियजन ५—लोभी राजा, प्रजा को इन पाँचों से अधिक भय रहता है।"[४]

---

१. यथा बीजांकुरः सूक्ष्मः परिपुष्टोऽभिरक्षितः।
काले फलाय भवति साधु तद्वदियं प्रजा॥ कामन्दकी ६।१४

२. हिरण्यधान्य वस्त्राणि वाहनानि तथैव च।
तथान्ये द्रव्यनिचयाः प्रजातः सम्भवन्ति हि॥ कामन्दकी १३।२६

३. यथा रक्षेच्च निपुणं सस्यं कण्टकिशाखया।
फलाय लगुडः कार्यस्तद्वद्भाग्यमिदं जगत्॥ कामन्दकी ५।८१

४. आयुक्तेभ्यश्चौरभ्यः परेभ्यो राजवल्लभात्।
पृथ्वीपतिलोभाच्च प्रजानां पञ्चधा भयम्॥ कायन्दकी ५।८२

इस प्रकार के कार्यों को करने वाला राजा 'कर' पाने का पूर्ण रूप से अधिकारी है।

"राजा को यह पांचों प्रकार का भय दूर करना चाहिए और त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की परिवृद्धि के लिए समय पर प्रजा से 'कर' के रूपमें धन ग्रहण करना चाहिए।"[1]

आजीविका की समस्या का हल—आचार्य कामन्दकी ने आधुनिक युग की भान्ति जनता को आजीविका देने के अनेक प्रयत्न किये हैं। प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्री यह अनुभव करता था कि बिना आजीविका की समस्या के अन्य समस्यायें हल नहीं हो सकती हैं। अतः सर्व प्रथम अधिक लोगों को जीविका देने के प्रबन्ध पर अधिक ध्यान दिया है। अधिक विभागों की स्थापना कर उनमें अधिक से अधिक जनता के लोगों को आजीविका देना, क्या आजीविका की समस्या हल करना न था ? जैसे :—

"१—कृषि २—वाणिज्य ३—मार्गों का निर्माण ४—दुर्ग ५—सेतु ६—हाथियों के बन्धन स्थान ७—खानों से बहुमूल्य धातुओं का निकालना ८—और शून्य स्थानों पर नई बस्तियों का निर्माण।"[2]

"इन आठ वर्गों की अच्छी प्रकार पवित्र ध्येय वृद्धि करे आजीवन जीविका के लिए कार्य करने के प्रतिष्ठानों को खोले।"[3]

"क्षीणवृत्ति होने पर भी राजा को ऐसा कार्य करना चाहिए कि उस-उस व्यापार से आजीविका चलाने वालों के कार्योंमें किसी प्रकार का विघ्न न हो"[4]

इस प्रकार के उद्धरणों से विदित होता है कि अधिक लोगों को आजीविका दिलाने के लिए अनेक नवीन कार्यों को प्रारम्भ किया जाता था और आगे चलकर उन कार्यों की अधिक वृद्धि के लिए प्रयास भी किये जाते थे जिससे वे बन्द न हों

---

१. पंचप्रकारमप्येतदपोह्यं नृपतेर्भयम्।
आददीत धन काले त्रिवर्ग परिवृद्धये॥ कामन्दकी ५।८३

२. कृषिवणिक्पथो दुर्गं सेतुः कुञ्जरबन्धनम्।
खन्याकरधनादानं शून्यानाञ्च निवेशनम्॥

३. अष्टवर्गमिमं साधुस्वच्छवृत्तो विवर्द्धयेत्।
जीवनार्थमिहाजीव्यैः कर्तव्यः करणाधिकै॥

४. तथा यथा प्रवर्तेत वृत्या क्षीणेऽपि पार्थिवः।
तस्यां तस्यां न संरोध कुर्य्यात्पिण्योपजीविनाम्॥ कामन्दकी ५।७८,७९,८०

और आजीविका की समस्या भयंकर रूप न लेले। आजीविका की समस्या के कारण राष्ट्र को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। राष्ट्र के अच्छे लोग दूसरे देशों में चले जाते हैं और आर्थिक विकास के कार्यों में एक बहुत बड़ी बाधा उपस्थित हो जाती है। ऐसे समय में ही आक्रमणकारी शत्रु लाभ उठाता है। राष्ट्र की आय भी कम हो जाती है। एकता राष्ट्रीय प्रेम और अखण्डता समाप्त होने लगती है। ऐसे समय में ही शासक की बुद्धिमत्ता, त्याग और साहस की परीक्षा होती है। शासन के सभी लोग काम में लगे होंगे तो अधिक उत्पादन की वृद्धि करेंगे और उनको व्यर्थ के किसी कार्य को करने, सोचने का समय ही नहीं मिलेगा। आजीविका की समस्या हल न कर सकने वाले राष्ट्र में प्रत्येक प्रकार के अपराधों की संख्या में वृद्धि होने लगती है जैसे—आत्महत्या, अपहरण, अनैतिकता, अत्याचार और व्यभिचार।

आत्महत्या केवल वे ही लोग कर पाते हैं जो सब दृष्टियों से निर्बल और भावुक होते हैं जिनमें संकटों से सामना करने का साहस ही नहीं होता है।

अपहरण की ओर वे लोग अग्रसरित होते हैं जो दुस्साहसी और बुरे लोगों की संगत में फँस जाते हैं एवं परिश्रम करना बुरा और कठिन काम गिनने लगते हैं।

अनैतिकता और अत्याचार अधिक दिनतक कष्ट में रहकर जीवन यापन करने वाला व्यक्ति करता है। उस पर भौतिकवादी विचारधाराओं का अधिक प्रभाव पड़ जाता है।

व्यभिचार की ओर वे लोग प्रवृत होते है जो जीना तो चाहते हैं किन्तु उन्हें कोई कार्य नहीं मिलता और एक बार किसी बुरी संगत से स्वच्छन्द इन्द्रिय जन्य सुख का उपभोग कर लेते है पुन. इसी कार्य को वे सर्वोत्तम समझ कर अपना सर्वस्व उसी में खो देते हैं।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने आर्थिक समस्या के खराब होने पर ही समस्त प्रकार की समस्याओं का जन्म होना जान लिया था। अतः सर्वप्रथम उन्होंने आर्थिक व्यवस्था को सुधारने एवं व्यक्तिगत विकास की ओर भी विशेष ध्यान दिया हैं। ऐसी ही स्थिति में धार्मिक साहित्य का सृजन हुआ है, नीति के माध्यम से व्यवहारकुशलता, कर्म के कारण कर्मठता, विद्याओं का उपार्जन, अच्छे व्यक्तियों का संसर्ग और जगत के सुख के लिए अर्थोपार्जन आवश्यक समझा गया है। उस आर्थिक समस्या के समाधान के लिए प्रत्येक व्यक्ति को उसकी शक्ति, योग्यता और प्रवृत्ति को देखकर आजीविका देने का प्रबन्ध किया है।

राष्ट्र के सर्वोच्च सत्ताधारी वर्ग का यह कर्तव्य है या तो वह उस अधिकार को छोड़ दे या अपने अधिकार का प्रयोग राष्ट्र की जनता की जीविका की समस्याओं को सुलझाने में अपने त्यागमय जीवन और व्यवहार से करके दिखाये ।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने शासक को इसीलिए त्यागमय जीवन व्यतीत करने के निर्देश, अच्छे लोगों से संसर्ग रखने, विद्याओं का ज्ञाता, अर्थ प्राप्ति के साधनों को जानने वाला और आर्थिक योजनाओं द्वारा जनता को आजीविका देनें वाला माना है । समस्त बुराइयों का कारण सत्ताधारी शासक को माना गया है क्योंकि समस्त सत्ता उसके हाथ में है फिर वह अपराधों, समस्याओं और जनकष्टों को बढ़ावा दे रहा हूँ । इसका यही कारण है या तो वह बुरे तत्वों से, बुरे लोगों के प्रभाव सें घिरा हुआ है । जिस जनबल से वह सत्ता पाकर सत्ताधारी बना है, उस जनता के समस्त सुखों दुखों का दायित्व शासक पर है ।

अर्थ का उपभोग और उपयोगः—

अर्थशास्त्र में प्राचीन अथवा आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने अधिक उत्पादन पर बल दिया है । अधिक उत्पादन से क्या लाभ होगा ? उत्पादन या तो उपभोग के लिये होता है या एकत्र करने के लिए होता है । अर्थशास्त्र में दोनों की अति को प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण ने बुरा प्रमाणित किया है । अधिक उपभोग भी बुरा है और न्याय के दृष्टिकोण से दूसरों के अधिकारों का अपहरण है किन्तु एक सीमित मात्रा में उत्पादित—वस्तुओं का उपभोग अच्छा लगता है । उसी प्रकार संकटकालीन स्थिति के लिए संग्रह अच्छा लगता है किन्तु संग्रह करके यदि उसका उपभोग और उपयोग नहीं होता तो उस संग्रह का क्या लाभ ?

आर्थिक दृष्टि से यदि धन का उपभोग और उपयोग नहीं होता है तो उस अर्थ को पृथ्वी के गर्भ में छिपा हुआ धन समझना चाहिए । अर्थ का तो उपभोग, उपयोग होना ही लाभप्रद एवं जीवन और जगत के व्यवहार के लिए अत्यावश्यक है ।

प्राचीन भारतीय विचारकों का तो यहां तक विचार है कि यदि अर्थ का उपभोग या उपयोग नहीं किया जाता अथवा स्वयं उपभोग और उपयोग करना हो तो दान के द्वारा दूसरों सत्पात्रों को उपभोग के लिए दो । यदि दोनों

प्रकार से उसका उपभोग नहीं होता तो उसकी तीसरी गति चोर चुराकर-अपहरण कर लेते हैं। अतः उन्होंने अर्थ की तीन गतियों का वर्णन किया है।

आचार्य कामन्दकी ने अर्थ का वास्तविक स्वरूप व्यक्त करते हुए इस प्रकार स्पष्ठ किया है:—

"जगत में उस लक्ष्मीवान् की लक्ष्मी के विकसित होने अथवा संग्रह करने से क्या लाभ ? जिसको बन्धु और मित्रजन निश्चिन्त होकर उपभोग नहीं कर सकते।"[1]

"अर्थ के उपभोग के लिए उत्साही व्यक्ति व्यवसाय की इच्छा करे कायरता की इच्छा न करे।"[2]

अर्थ का उद्गम स्थान व्यापार को ही माना गया है।

"उत्साही व्यक्ति को सदा अर्थ प्राप्ति के लिए सिंह की वृत्ति को अपनाना चाहिए।"[3]

कायर और अनुत्साही व्यक्ति अर्थ का क्या उपभोग कर सकेगा। जो उपार्जन अथवा उत्पादन कर सकता है वही संसार में सुख और आनन्द से जीवनोपयोगी वस्तुओं का उपभोग और उपयोग कर सकता है। जो उपभोग करना तो जानता है किन्तु उत्पादन करना नहीं जानता तो वह कितने दिन सुख-पूर्वक वस्तुओं का उपभोग कर सकेगा? हानि-लाभ, आय-व्यय, उत्पादन (उत्पत्ति) और उपभोग वस्तुओं का एक युग्म (जोड़ा) बना हुआ है। एकाकी कोई कुछ काम नहीं हो सकता। वस्तुओं का यदि उत्पादन न होगा तो उपयोग मनुष्य किस चीज का करेगा ? उत्पादन के आधार पर ही वस्तुओं में मूल्य वृद्धि और मूल्य ह्रास होता है। जिस वस्तु का उत्पादन अधिक होगा उसकी उस अनुपात से मांग भी कम होगी और जिस वस्तु की मांग अधिक होगी उसका उत्पादन कम होगा एवं वह बाजार में मंहगी विकेगी।

आचार्य कामन्दकी ने अर्थ के उपभोग और उपयोग के विषम में अपना विचार बड़ी अच्छी तरह पर व्यक्त किया है। वस्तुतः मानव अर्थ का संग्रह किस लिये करता है ? जीवन को आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अथवा

---

१. लक्ष्म्या लक्ष्मीवतां लोके विकशिन्या च किन्तया।
बन्धुभिश्च सुहृद्भिश्च विश्रब्धं या न भुज्यते ॥ कामन्दकी ५।७३

२. व्यवसायं सदैवेच्छेन्न हि क्लीववदाचरेत् ॥ कामन्दकी १३।१० उत्तरार्द्ध

३. वशे श्रियं सदोत्साही सैंहीं वृत्तिमुपाश्रित :। कामन्दकी १३।११ पूर्वार्द्ध

जगत में सुखमय जीवन व्यतीत करने के ही लिए करता है। जगत के विषयों (पदार्थों) का सेवन करना चाहिए युक्ति पूर्वक और अधिक आसक्त होकर नहीं। उपभोग की भी एक निश्चित सीमा है, जहां तक वह अच्छा लगता है। यथा :—

"समय के अनुसार ही मनको वशमें करके विषयों का युक्ति पूर्वक सेवन करे। अर्थ का मुख्य फल सुख ही है यदि अर्थ से उस सुख की प्राप्ति न हो सकी तो वह अर्थ व्यर्थ है।"[1]

धर्म और अधर्म किसे कहते हैं? प्रायः जगत में लोग चाहे किसी सम्प्रदाय के क्यों न हो किन्तु धर्म की चर्चा अवश्य करते हैं और मानव कल्याण वाले धर्म को संकुचित स्वार्थगत धर्म में गिनने लगते हैं। धर्म वस्तुतः उन सिद्धान्तों को कहते हैं जिनसे किसी दूसरे को कष्ट न हो और मानने वाले की आत्मा को परम शान्ति की प्राप्ति हो। इस प्रकार आचार्य कामन्दकी ने भी धर्म की परिभाषा दी है :—

"जिस करने योग्य कार्य की आर्य (श्रेष्ठ) लोग प्रशंसा करें वह 'धर्म' है और जिसे विगर्हित (निन्दनीय) कहें उसे 'अधर्म' कहते हैं।"[2]

"अच्छा शासक धर्म और अधर्म को जानता हुआ सद्पुरुषों के बताये हुये मार्ग पर चल प्रजा की रक्षा करे और दुष्टों को नष्ट करदे।"[3]

ऊपर वर्णित उद्धरणों से विदित होता है कि भले मार्ग द्वारा अर्थात् दूसरों का शोषण और अपहरण किये विना अर्थ को कमाना वास्तविक अर्थ प्राप्त करना कहा जाता है, शेष प्रकारों से अर्थ प्राप्त करने को प्राचीन भारतीयों ने अनुचित बताया है। अर्थ प्राप्ति में दोनों प्रकार की विचारधारायें भौतिकवादी और आध्यात्मवादी मानी गई हैं। भौतिकवादी विचारों से प्राप्त होने वाला अर्थ शारीरिक सुख तो दे सकता है किन्तु आध्यात्मिक सुख नहीं दे सकता है।

---

१. सेवन विषयान् काले युक्त्या तत्परतां वशी।
सुखं हि फलमर्थस्य तन्निरोधे वृथा श्रियः॥ कामन्दकी १।४७

२. धर्मसंरक्षणपरो धर्मेणार्थं निबर्धयन्।
ये ये प्रजा प्रबाधेरंस्ताञ्छिष्याच्च महीपतिः॥ कामन्दकी ६।६

३. धर्माधर्मौ विजानन् हि शासनेऽभिरतः सताम्।
प्रजां रक्षेन्नृपः साधु हन्याच्च परिपन्थिनः॥ कामन्दकी ६।८

अर्थ प्राप्ति में बुद्धि और उद्योग का महत्त्व :—आचार्य कामन्दकी ने बुद्धि और उद्योग को अर्थ प्राप्ति का मुख्य कारण माना है। अर्थ की प्राप्ति बुद्धि के प्रयोग और उद्योग के बल पर ही होती है। बिना इस दोनों का उपयोग किए अर्थ का प्राप्त होना अत्यत्य कठिन है। जैसे:—

"जिस प्रकार सुवर्ण अनेक धातुओं में मिला हुआ होने पर भी आग में तपाने पर प्रकट हो जाता है अथवा दही मथने पर घी के रूप में प्रकट होता है। उसी प्रकार निरन्तर कार्यरत व्यक्ति बुद्धि और उद्योग के बल पर निश्चय ही अर्थ रूपी फल पाता है।"[1]

"बुद्धि युक्त, उत्साह सम्पन्न और प्रभुशक्ति से समन्वित शासक लक्ष्मी (अर्थ) पाने का परमपात्र होता है जिस प्रकार समुद्र पानी पाने का बहुत बड़ा पात्र है।"[2]

बुद्धि और उद्योग के द्वारा अर्थ की प्राप्ति तो होती ही है किन्तु उस अर्थ की वृद्धि किसी प्रकार होती है ? अर्थ पाने मात्र से पूर्ण सिद्धि नहीं हो सकती। अर्थ की वृद्धि के उपाय बताना अर्थशास्त्र का ही मुख्य उद्देश्य है। शासक ने इतने बड़े राष्ट्र की रक्षा और परिपालन करना है वह आर्थिक स्थिति को सदा कैसे ठीक रख सकता है ? इस प्रकार अर्थ (लक्ष्मी) की रक्षा तो बुद्धि से होगी किन्तु एक विशाल साम्राज्य की आजीविका आदि की समस्यायें कैसे हल होंगी ? इस प्रकार आचार्य कामन्दक ने अर्थ विस्तार के उपाय इस प्रकार बताये है :—

"जिस प्रकार जल की सम्पत्ति से नलिनी (कमलिनी) का परिपालन होता है, उसी प्रकार बुद्धि रूपी जल से लक्ष्मी रूपी कमलिनी का परिपालन होता है। उद्योग और व्यापार से अर्थ की वृद्धि एवं विस्तार होता है।"[3]

उत्साह और बुद्धि को अर्थ की प्राप्ति एवं अर्थ के विस्तार में परम साधन माना गया है। दोनों गुणों के अभाव में अर्थ प्राप्त होने पर भी उसकी रक्षा

---

१. धातोश्चामीकरमिव सर्पिर्निर्मथनादिव।
बुद्धि प्रयत्नोपगताध्यवसायाद् ध्रुवं फलम् ॥ कामन्दकी १३।३

२. धीमानुत्साहसम्पन्न प्रभुशक्त्या समन्वितः।
श्रियः स्यात्परमं पात्रमपामिव महार्णवः ॥ कामन्दकी १३।४

३. नलिनीवाम्बुसम्पत्त्या बुद्धया श्रीः परिपाल्यते।
उत्थानव्यवसायाभ्यां विस्तारमुपनीयते ॥ कामन्दकी १३।५

और वृद्धि नहीं कर सकता है। यहाँ तक कि उत्साह सम्पन्न और बुद्धि से कार्य करने वाले व्यक्ति के पीछे-पीछे अर्थ घूमता रहता है। इसका प्रमाण इस प्रकार कामन्दकी ने दिया है :—

"उत्साह सम्पन्न और बुद्धि द्वारा शुद्ध कर्म करने वाले व्यक्ति को शरीर की छाया के समान (लक्ष्मी) अर्थ कभी छोड़ नहीं सकता अपितु वृद्धि को ही प्राप्त होता है।"[1]

अर्थ को बुद्धि सम्पन्न व्यक्ति ही पा सकता हैं और उद्योगी व्यक्ति ही उसकी स्थिरता से रक्षा कर सकता है। अन्य आलसी, व्यसनी व्यक्ति उसकी रक्षा नहीं कर सकता है।

अर्थ को कौन प्राप्त कर सकता है ? "जो व्यक्ति व्यसनों से रहित है, परिश्रमी, उत्साही और महामति है। लक्ष्मी उसके पास सदा निवास करती है, जैसे—समस्त नदियाँ समुद्र में आती हैं।"[2]

अच्छी बुद्धि युक्त होने पर ही यदि मनुष्य का मन व्यसनों से ग्रस्त है तो भी लक्ष्मी उसे आलसी समझकर छोड़ देती है जिस प्रकार नपुंसक व्यक्ति का स्त्रियाँ तिरस्कार करती हैं।

"उद्योग के माध्यम से ही अर्थ की वृद्धि करे जिस प्रकार आग लकड़ियों को डालने से अधिक प्रज्वलित होती है उसी प्रकार उद्योग से ही अर्थ की अभिवृद्धि होती है। दुर्बल व्यक्ति भी निरन्तर उद्योगी होने पर लक्ष्मी (अर्थ) को प्राप्त कर लेता है।"[3]

अर्थ प्राप्ति में और अर्थ की वृद्धि में आचार्य कामन्दकी ने व्यापार को प्रमुख और महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। वस्तुतः व्यवसायी व्यक्ति उद्योगी बन कर अत्यन्त दूर जाकर व्यापार के माध्यम से एक गुणा पूंजी का दुगना-तिगुना लाभ प्राप्त कर लेता है। अत्यधिक एकत्र किया हुआ धन अति शीघ्र समाप्त हो जाता है किन्तु व्यवसाय में लगा हुआ अर्थ नित्य प्रति वृद्धि को ही प्राप्त होगा न कि ह्रास को प्राप्त होगा।

---

१. लक्ष्मीरुत्साहसम्पन्नान्बुद्धिशुद्धं प्रसर्पतः।
नापैति कायाच्छायेव विस्तारं चोपगच्छति ॥ कामन्दकी १३।६

२. वीतव्यसनश्रान्तं महोत्साहं महामतिम्।
प्रविशन्ति सदा लक्ष्म्यः सरित्पतिमिवापगाः ॥ कामन्दकी १३।७

३. उत्थाने नैधयेत्सर्वमिन्धनेनैव पावकम्।
श्रियं हि सततोत्थायी दुर्बलोऽपि समश्नुते ॥ कामन्दकी १३।९

ह्रास और क्षय की परिभाषा :—आचार्य कामन्दकी ने अपने कामन्दक नीतिसार में ह्रास और क्षय की परिभाषा इस प्रकार की है :—

"मनुष्य और पशुओं की कमी होना ही **'क्षय'** कहलाता है। सोना और अन्न का नाश होना ही व्यय कहलाता है।"[1]

आचार्य कौटिल्य के पश्चात् उसकी परम्परा एवं प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र का निर्वाह करने वाला आचार्य कामन्दकी ही हुआ है। कामन्दकी ने अपने आर्थिक विचारों द्वारा शासक को राष्ट्र की सेवा, कोष वृद्धि आदि के अनेक उपाय बताये हैं।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति को अच्छा बनाकर अच्छे समाज की स्थापना करना था। अच्छे समाज की स्थापना होने के पश्चात् उस समाज में आर्थिक योजनाओं के माध्यम से विकास करना था। आर्थिक विकास के पश्चात् ही समाज का बहुमुखी विकास होता है। अर्थ से परितृप्त होने पर व्यक्ति अच्छे कार्यों की ओर अग्रसरित होता है। प्राचीन भारतीय विचारकों ने आर्थिक समस्याओं का समाधान एवं अर्थ प्राप्ति के साधनों पर विस्तृत विवेचन कर पुरुष को पुरुषार्थ की ओर लगाया है। अकर्मण्य व्यक्ति को समाज में बुराइयों की बीमारी फैलाने वाला माना गया है।



---

१. मनुष्ययुग्यापचयक्षयो हि हिरण्यधान्यापचय व्ययस्तु ॥

कामन्दकी १५।२३ पूर्वार्द्ध

"किसी भी वस्तु का वास्तविक मूल्य उसके निर्माण में व्यय किये गये श्रम पर ही निर्भर करता है।"

(एडम स्मिथ)

६

प्राचीन भारतीय और पाश्चात्य आर्थिक विचारकों का एक तुलनात्मक अध्ययन

१—एडमस्मिथ २—माल्थस ३—रिकार्डो
४—सिसमांडी ५—कार्लमार्क्स ६—कीन्स

षष्ठ अध्याय

प्राचीन भारतीय और पाश्चात्य आर्थिक विचारों का एक तुलनात्मक अध्ययन

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों के विचारों को पीछे के अध्यायों में वर्णित किया गया है। इस अध्याय में प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों का पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों से एक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। भारतीय विश्वविद्यालयों में अर्थशास्त्र का अध्ययन एक स्वतन्त्र विषय के रूप में होता चला आ रहा है किन्तु भारतीय अर्थशास्त्रवेत्ता, प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन पठन-पाठन की विधि को न जाने क्यों प्रोत्साहित नहीं करते? ऐसा प्रतीत होता है कि हम अर्थशास्त्र के अध्येता पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों को ही अर्थशास्त्र का पिता एवं प्रेरणा के स्रोत माने बैठे हैं किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने वस्तुतः जो कार्य, जो चिन्तन हजारों वर्ष पूर्व किया है उसका हम अच्छी प्रकार परिशीलन नहीं कर सके हैं। पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों और प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों का यदि एक तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने का उपक्रम किया जाये तो संसार के अर्थशास्त्रियों को वास्तविकता स्वतः ज्ञात हो जायेगी। इसी उद्देश्य से इस अध्याय में प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों और पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों का एक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

आर्थिक विचारों के इतिहास का अध्ययन करने पर यह अच्छी प्रकार विदित होता है कि विचारक सदा अपने युग के अनुरूप ही समस्याओं का समाधान खोजते रहे हैं। जिस युग में जैसी आवश्यकता होती है विचारक उस युग के अनुसार चिन्तन कर उपचार खोजता है। संसार के सभी विचारकों का यह मुख्य उद्देश्य रहा है कि समाज में शान्ति रहे, प्रत्येक व्यक्ति के अधिकारों का ध्यान रखा जाये, राष्ट्र के प्रति उसके कर्तव्यों को बताया जाये, जीवनोपयोगी साधनों को एकत्रित कर, व्यक्ति को उद्योगी बनाकर उसके श्रम का उचित मूल्य निर्धारण कर और उसकी आजीविका की समस्याओं का हल ढूंढ़ना रहा है।

प्रायः अर्थशास्त्र का अध्ययन करने पर यह देखा जाता है कि पाश्चात्य अर्थशास्त्री आधुनिक भारतीय अर्थशास्त्रियों के लिए दासता के युग से पथप्रदर्शक रहे हैं। इसी उद्देश्य से आधुनिक युग में वास्तविकता की जानकारी के लिए प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों का उन पाश्चात्य प्रेरणादायक अर्थशास्त्रियों के साथ तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन और उनके सिद्धान्तों पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। तुलना करने से पूर्व इस बात पर सोचना भी जरूरी है कि पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों ने अपने समय के अनुरूप केवल एक-एक समस्या को लेकर अपने आर्थिक विचारकों को केवल **तीन सौ वर्ष** पूर्व ही दिया है।

१—एडम स्मिथ ने श्रम और श्रमविभाजन के सिद्धान्त को देकर एक बहुत बड़ा कार्य किया है।

२—माल्थस ने जनसंख्या वृद्धि का सिद्धान्त बताकर संसार को शीघ्रगति से वृद्धि होने वाली जनसंख्या को बताकर जगत का बहुत बड़ा उपकार किया।

३—रिकार्डो ने अपने वितरण और लगान के सिद्धान्त के द्वारा एक नवीन समस्या का समाधान खोजा।

४—सिसमाण्डी ने उपभोग और वितरण व्यवस्था को ठीक करके वर्गभेद को दूर करने का प्रयास किया।

५—कार्लमार्क्स ने अपने युग के पूँजीपति और श्रमिकों की समस्याओं पर ध्यान देकर शोषणवाद के विरुद्ध एक नया राष्ट्रीयकरण का समाधान खोजा।

६—कीन्स ने मनुष्य की आजीविका की समस्या हल करने के लिये 'पूर्ण रोजगार' का समाधान खोजकर संसार के अर्थशास्त्रियों को **एक नवीन** मार्ग दिखाया।

इस प्रकार पाश्चात्य विचारकों के मूल विचारों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करने पर यह अच्छी प्रकार अर्थशास्त्र के अध्येताओं को विदित हो जायेगा कि पाश्चात्य विचारकों ने मानव के जीवन की किसी एक विशेष समस्या को लेकर ही अपने विचारों को व्यक्त किया है। किन्तु इस विचारधारा के विपरीत प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने सर्वप्रथम मानव को चार विद्याओं का १—आन्वीक्षकी २—त्रयी— ३—वार्ता ४—दण्डनीति का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक माना है। विद्याओं की प्राप्ति के पश्चात् ही व्यक्ति में विवेक का उदय होता है। विवेक होने पर ही व्यक्ति अच्छे कार्यों की ओर प्रवृत्त और बुरे कार्यों के प्रति उदासीन होता है। वास्तविकता क्या है इसका भी ज्ञान तभी होता है। जीवन में व्यवहार के लिए और जगत में निर्वाह के लिए मनुष्य को

अर्थ की नितान्त आवश्यक है। संसार के सभी अर्थशास्त्री एक स्वर से अर्थ का महत्त्व स्वीकार करते हैं और यही भी मानते हैं कि जगत में अर्थ के बिना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। प्राचीन भारतीय विचारकों ने अर्थ को यद्यपि जीवन के लिए आवश्यक माना है किन्तु भारतीय दृष्टिकोण अर्थ के विषय में एक क्रमबद्ध, योजना के अनुरूप रहा है उसके चिन्तन में एक क्रमबद्ध वैज्ञानिक पद्धति रही है। प्राचीन भारतीयों ने जीवन के सूक्ष्म से सूक्ष्म पहलुओं पर चिन्तन कर मानव को भौतिक जगत से ऊपर उठाकर वास्तविकता की ओर लगाया है। प्राचीन भारतीयों की अपनी चिन्तन की प्रक्रिया सबसे विचित्र रही है। धर्म, अर्थ काम और मोक्ष इन चार पदार्थों के माध्यम से जीवन का वास्तविक सुख पाना प्राचीन भारतीयों का उद्देश्य रहा हैं। संसार के कोई भी अर्थशास्त्री इतनी सूक्ष्म दृष्टि से अर्थ का विश्लेषण नहीं कर सके हैं। आर्थिक समस्याओं का समाधान, आर्थिक योजनाओं का विकास और उद्योग को प्रोत्साहन देना प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण की विशेष पद्धति रही है।

पाश्चात्य अर्थशास्त्री भौतिकवादी विचारधारा से अनुप्राणित होकर अग्रसरित हुये हैं और शारीरिक सुख की अनुभूति कर सकते हैं किन्तु आध्यात्मिक सुख की उपलब्धि के लिए वे सदा चिन्तित और भारत की ओर दृष्टि लगाये हुए दिखाई देते हैं। इसका ज्वलन्त उदाहरण आधुनिक युग के पाश्चात्य अर्थशास्त्री अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान् 'शूम पीटर' हैं। उन्होंने यहाँ तक माना है कि यदि अमेरिका की भाँति भारत भी भौतिक पद्धति पर अर्थ एकत्र करने लगेगा तो आध्यात्मिक दृष्टि से जगत को कौन दिशा दिखायेगा?

प्राचीन भारतीयों ने जीवन के चारों पदार्थों को अत्यधिक महत्त्व दिया है। केवल अर्थ को ही जीवन में महत्त्व नहीं दिया है। आध्यात्मिक पद्धति में अर्थ का उपभोग एक निर्धारित और सीमित सीमा में ही व्यक्ति करेगा। भौतिकवादी विचारधारा में औद्योगिक विकास से पूंजीवाद का जन्म होता है। भौतिकवादी विचारधारा वर्ग संघर्ष को प्रोत्साहन देती है और इसमें बड़े छोटे के भेदभाव तीव्रगति से बढ़ते हैं। भौतिकवाद में यन्त्रों की प्रगति इतनी बढ़ जाती है कि मानव का हृदय भी पूंजी एकत्र करने में स्वार्थी और कठोर होने लगता है। पूंजी के एकत्र होने पर पूंजीपतियों का जन्म होने लगता है और इस भौतिकवादी विचारधारा में प्रत्यक्ष रूप से शोषण होने लगता है। इस शोषणयुक्त पद्धति से पूंजीपति और श्रमिक दो वर्ग बन जाते हैं और आगे चल कर इन दोनों का संघर्ष ही समाजवादी विचारधारा को जन्म देता है।

भौतिकवादी विचारधारा से मनुष्य केवल एक ही सुख पा सकता है वह है अर्थ का सुख केवल अर्थ का ही सुख मनुष्य को मानव नहीं अपितु दानव बना देता है। आर्थिक सुख की प्राप्ति के पश्चात् मनुष्य अपने उन समस्त सुखों को स्थायित्व देना चाहता है और स्थायित्व यन्त्रों की सहायता एवं शोषण से ही आ सकता है। शोषण की नीति से व्यक्ति-व्यक्ति का विश्वास खो देता है और अर्थवान् ऐसे समय में अपनी शक्ति का संगठन अस्त्र शस्त्रों के निर्माण के के द्वारा करता है। वह शक्तिशाली शस्त्रों के निर्माण से अपनी समस्त शक्ति यहाँ तक कि उसके चिन्तन का विषय किसी अमोघ शक्ति को पाने की ओर लग जाता है। इसी विचारधारा से अनुप्राणित होकर 'वैज्ञानिक युग' का जन्म हुआ है। इस भौतिकवादी विचारधारा ने संसार के प्रबुद्ध चिन्तनशील वैज्ञानिकों को अपने अर्थ से क्रीत कर लिया है। उसी का परिणाम है कि भौतिकवादी विचारधारा ने अणु और परमाणु शक्ति से संसार को भयभीत कर दिया है। आधुनिक युग में विज्ञान ने जितनी प्रगति की है उसके मूल में भौतिकवादी विचार, अर्थसंग्रह, शोषण, स्वार्थ, पूंजी एकत्र करने की प्रवृत्ति, व्यापार-वृद्धि, साम्राज्य विस्तार और अपनी उत्पादित सामग्री की बिक्री के लिए मंडियों की स्थापना करना है।

इस प्रकार की भौतिकवादी विचारधारा वैज्ञानिक पद्धति से नित्य नवीन से नवीन और सूक्ष्म से सूक्ष्म यंत्रों द्वारा शक्ति परीक्षण हेतु मानव विनाशकारी अस्त्र शस्त्रों का निर्माण होता जायेगा। अतः भौतिकवादी विचारधारा मानवता से दूर हो जायेगी। जो समस्त विश्व के लिए विनाशकारी सिद्ध होगी। विज्ञान के चमत्कार और पूंजीपति साम्राज्यों की शक्ति परीक्षण की होढ़ कभी भी विश्व में शान्तमय वातावरण को तय्यार नही होने देगी। भौतिक विकास, विज्ञान की प्रगति, विनाशकारी यन्त्रों का उत्पादन और शक्तिशाली राष्ट्रों का गुटवाद कुछ दिनों के बाद मानवता का सच्चा शत्रु प्रमाणित होगा। संसार के छोटे राष्ट्र भयभीत और बड़े राष्ट्र परस्पर शंकित बने रहेंगे।

इस प्रकार की पाश्चात्य विचारधारा को देखकर अमेरिका के विख्यात अर्थशास्त्री 'शूमपीटर' ने अपने राष्ट्र से भारत की तुलना करते हुए प्राचीन भारतीयों का अर्थ के प्रति दृष्टिकोण देखकर प्रशंसा की और आधुनिक भारतीय समाज को अपना संदेश दिया है कि अर्थ ही वास्तविक सुख और शान्ति नहीं दे सकता।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने जीवन की एक क्रमबद्ध योजना संसार के समक्ष रखी, जो मानवता को प्रश्रय दे सकती है और देती रही है।

उनका यह भी विश्वास था कि बिना चारों पदार्थों का उपयोग और उपभोग किये बिना मनुष्य परम शान्तिपद कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को इस क्रम से व्यवस्थित किया कि जिससे जीवन में विषमता और वर्ग संघर्ष न आये। धर्म का नाम अर्थ से पूर्व लिया गया है क्योंकि कुछ शुद्ध-बुद्ध पवित्र नियमों के द्वारा मानव, मानव के निकट आये और पाशवीय स्वार्थवृत्ति को छोड़कर अपने श्रम से अर्थ का संग्रह अपने और दूसरों की सेवा से लिए करे। दान शब्द का प्रयोग अर्थ का सदुपयोग करने, अर्थ का वास्तविक उपभोग करने और अपनी समस्त कामनाओं की पूर्ति के लिए ही किया गया है। संसार के सुखों का उपभोग करने के पश्चात् ही भारतीय दृष्टिकोण से मानव की प्रवृत्ति औपनिषदिक् श्रेय मार्ग (आध्यात्मिक जगत) की ओर होने लगती है।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों की चिन्तन प्रक्रिया का ख्याति प्राप्त पाश्चात्य अर्थशास्त्री 'शूम पीटर' आज भी अमेरिका में बैठा सम्मान कर रहा है।

प्राचीन भारतीय सभी अर्थशास्त्रियों ने एक स्वर से एक मत होकर अर्थ को धर्म के पश्चात् ही माना है। मानव जीवन के सभी पक्षों पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार कर सही मार्गों से उसे अर्थ संचय करने की आज्ञा दी है। यद्यपि अर्थ को प्रधान माना गया है किन्तु अर्थ ही सब कुछ नहीं। शास्त्रों का अध्ययन करते हुये सद्गुरुओं से सम्पर्क स्थापित करने को महत्त्व दिया गया है। उद्योग से बल से अर्थ संचय करने पर महत्त्व दिया है। अच्छे व्यक्तियों को आर्थिक विकास के कामों में नियुक्त करने का आदेश दिया है। आर्थिक व्यवस्था में अव्यवस्था न आये, योग्यता और श्रम का महत्त्व कम न हो। अतः जो व्यक्ति जिस कार्य में कुशल हो उनको उसी कार्य में नियुक्ति की जाये। कुछ सार्वभौमिक दृष्टि से प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने राष्ट्र के आर्थिक विकास के लिए अनेक रचनात्मक कार्यों पर मुख्य ध्यान दिया है। यही कारण है कि वे अपने आर्थिक विचारों द्वारा ही अपने राष्ट्र को उन्नत और सामाजिकों को सुखमय जीवन दे सके हैं।

एडम स्मिथ और उसका श्रम का सिद्धान्त

पाश्चात्य आर्थिक विचारकों के विचारों का अध्ययन करने के पश्चात् उनमें सर्व प्रथम 'वणिकवाद' का उदय देखा जाता है। प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने एक मत होकर 'वार्ता' को अर्थशास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। वार्ता में वाणिज्य को ही सर्वोत्तम माना गया है। 'कृषि पाशुपाल्ये वाणिज्या च

वार्ता' (कृषि, पशुपालन और वाणिज्य को वार्ता कहते हैं) वाणिज्य को अर्थ प्राप्ति का साधन माना है और यहाँ तक स्वीकार किया गया है कि 'व्यापारे वसते लक्ष्मी' (व्यापार में ही लक्ष्मी (अर्थ) निवास करती है) अतः वाणिज्य को प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने हजारों वर्ष पूर्व अर्थ प्राप्ति का प्रमुख साधन माना है। वस्तुतः वणिकवाद का उद्देश्य व्यक्ति को, समाज को और अपने देश की आर्थिक स्थिति को उन्नत करना था। किसी भी देश का आर्थिक विकास तभी हो सकता है जब वह कृतसंकल्प होकर उद्योग और वाणिज्य की ओर प्रवृत्त होगा। इन आर्थिक विचारों का उदय भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से स्वीकार किया है। कुछ विद्वानों ने 'अर्थशास्त्र के इतिहास' का विवेचन करते हुए आर्थिक विचारों का जन्म पाश्चात्य जगत में दो सौ वर्ष पूर्व माना है। इसके साथ ही '**एडमस्मिथ**' को अर्थशास्त्र का पिता मानने वाले अनुयायी १७२३ ई० में स्काटलैंड में उत्पन्न होने वाले एवं प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' (राष्ट्रों की सम्पत्ति) के प्रकाशन के पश्चात् १८वीं शताब्दी से मानते हैं।

एडमस्मिथ ने **'अर्थ के उत्पादन' विनिमय** और **वितरण** पर अधिक बल दिया है। एडमस्मिथ ने 'श्रम' को ही सब कुछ माना है। वस्तुतः 'श्रम' का महत्व स्थापित करने में पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों में एडमस्मिथ का स्थान सर्वप्रथम है। इसीलिए पाश्चात्य विचारधारा के लोग एडमस्मिथ को अर्थशास्त्र में सर्वोच्च स्थान देते हैं। एडमस्मिथ का 'श्रमसिद्धांत' पाश्चात्य जगत के लिए एक सर्वथा नवीन सिद्धांत था। इससे पूर्व श्रम एवं श्रमविभाजन की इतनी सुव्यवस्थित रूप से किसी ने सम्भवतः व्याख्या ही न की हो। पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों के आर्थिक विचारकों का अध्ययन करने वाले अनुयायियों की ऐसी धारणा बनी हुई है। आज भी भारत के अर्थशास्त्री ही नहीं अपितु संसार के समस्त अर्थशास्त्री एडमस्मिथ को उसकी ख्याति प्राप्त रचना और 'श्रम सिद्धान्त' के कारण अर्थशास्त्र का जनक मानते हैं।

प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र का उद्गम ऋग्वेद को माना गया है। अर्थ, उद्योग, कृषि, अन्न, पशु आदि की दैवीय शक्तियों से कामना की गई है :—

"हे वास्तोष्पति ! हमें चेतना दो। हमारे यहाँ रोग न रहें। मांग के अनुसार हमें धन दो। हमारे पशु और मनुष्यों को सुख प्रदान करें।"[1]

---

१. वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः।
यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शंनो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥

ऋग्वेद ७ मंडल ५४ सूक्त १ मन्त्र

'हे मित्र वरुण ! तुम द्यावा पृथिवी पर धन और अन्न प्रदान करते हो। जल से सम्पन्न वृद्धि तुम्हारी आश्रित है।"[१]

"हे पृथ्वी ! हमको अन्न, पशु, धन आदि प्रदान करो, जिससे हम प्रसन्नता देने वाले सोम को पा सकें।"[२]

इस प्रकार वेदों में आर्थिक व्यवस्था को सुधारने के उस युग के अनुरूप अनेक उदाहरण मिलते हैं। जिन उदाहरणों से प्राचीन भारतीयों के आर्थिक विचारों का ज्ञान होता है। उनके अर्थशास्त्र के साधनों का परिज्ञान होता है। वे अर्थ कैसे प्राप्त करते थे ? उसमें उद्योग-श्रम ही एक मुख्य आधार था। सामाजिक अर्थव्यवस्था का सुचारु रूप से संचालन श्रम विभाजन के कारण ही होता था।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक आचार्य कौटिल्य ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व हो चुका है और उसने श्रम (उद्योग) को (अर्थं) पूँजी प्राप्ति का मुख्य कारण माना है। अर्थ का मूल कारण उद्योग को माना गया है।[३] आचार्य कौटिल्य की विचारधारा का प्रभाव एडम स्मिथ पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। आचार्य कौटिल्य ने अपने से पूर्व के सभी आचार्यों की सारभूत वस्तुओं को अपनाया है और राष्ट्र के विकास के लिये पूँजी (कोष) को अत्यावश्यक माना है। कोष के बल पर सेना संगठित की जा सकती है।[४] कोष को इतना महत्त्व दिया गया गया है कि राष्ट्र के समस्त कार्य कोष पर ही निर्भर हैं।[५] इस प्रकार कोष के रहने पर ही राष्ट्र के समस्त कार्य हो सकते हैं। मनुष्य के पास अथवा शासक के पास जितनी पूँजी (कोष) होगी उतने ही वह उद्योग-धन्धों से उत्पादन की वृद्धि कर सकता है।

एडम स्मिथ ने श्रम के विभाजन को सर्वोत्तम माना है क्योंकि श्रम के विभाजन से कार्य का सम्पादन शीघ्रता और सरलता से हो जाता है। श्रम के महत्त्व को पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों में सर्वप्रथम 'एडम स्मिथ' ने माना और यह

---

१. सं या दानूनि येमथुर्दिव्याः पार्थिवीरिषः।
नभस्वतीरा वां चरन्तु वृष्टयः। ऋग्वेद ८ मंडल २५ सूक्त ६ मंत्र

२. अस्मभ्यं रोदसी रयिं मध्वो वाजस्य सातये।
श्रवो वसूनि सं जितम् ॥ ऋग्वेद ९ मण्डल ७ सूक्त ९ मंत्र

३. अर्थस्य मूलं उत्थानम् ॥ कौटिल्य १।१९।४०

४. कोष मूलो हि दण्डः। कौ. ८।१।४७

५. कोषपूर्वाः सर्वारम्भाः। कौ. २।८।१

अनुभव किया कि बिना श्रम के आर्थिक व्यवस्था नहीं सुधर सकती एवं औद्योगिक विकास नहीं हो सकता है। प्राचीन भारतीय आचार्य कौटिल्य ने अधिकारियों की नियुक्ति कर श्रम का विभाजन एवं अधिक उत्पादन वृद्धि का सिद्धान्त अपनाया है। कौटिल्य अधिक उत्पादन वृद्धि हेतु यहाँ तक मानता है कि समय और शक्ति का दुरुपयोग न हो अतः जो लोग जिस कार्य को करने में कुशल हों उन्हीं को उसी कार्य में नियुक्त करना चाहिये। "यो यस्मिन् कर्मणि कुशलस्तेतस्मिन्नेव योजयेत्।" श्रम के विभाजन और योग्य श्रमिकों को उनकी योग्यता के अनुकूल कार्य देने से कार्य का शीघ्र सम्पादन, श्रम और अनुभव का सदुपयोग एवं राष्ट्र का आर्थिक विकास होगा। अतः श्रम के सिद्धान्त को उसने सर्वोत्तम माना है।

आचार्य कौटिल्य ने उत्पादित वस्तुओं की खपत के लिए विपणन का विकास, जनपदों का निर्माण, व्यापार का संगठन श्रम का मूल्यांकन किया है। आचार्य कोटिल्य ने श्रम के विभाजन को जहाँ अच्छा माना है वहाँ दूसरी ओर श्रमिकों के कल्याण के लिए अनेक कार्य करके उनके श्रम का उचित पुरस्कार देने की व्यवस्था भी की है। उचित पुरस्कार पाकर ही श्रमिक अधिक श्रम कर के उत्पादन की वृद्धि करता है।

आचार्य कौटिल्य ने यद्यपि मानवीय जीवन के सभी पक्षों पर अत्यधिक विस्तृत विवेचन किया है और एडम स्मिथ ने १८ शताब्दी में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक (राष्ट्रों की सम्पत्ति) 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' में अपने आर्थिक सिद्धान्तों का मुख्यरूप से १—उत्पादन २—विनिमय और ३—वितरण पर अधिक विवेचन किया है। एडमस्मिथ के सिद्धान्तों का अध्ययन करने से यह अच्छी प्रकार ज्ञात होता है कि 'स्मिथ' ने अपने से पूर्व के पाश्चात्य आर्थिक विचारकों के माध्यम से कौटिल्य के आर्थिक विचारों को अवश्य पाया है।

एडमस्मिथ यद्यपि अपने समय की परिस्थितियों में उत्पन्न होकर अपने समाज में होने बाली घटनाओं से प्रभावित होने के पश्चात् ही आर्थिक विचारों को देने में सफल हुआ। आचार्य कौटिल्य का नाम जगत को विस्मित करने वाले "कौटिल्य अर्थशास्त्र" के द्वारा सारे विश्व में प्रसिद्ध हो चुका था। अतः किसी न किसी रूपमें प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक आचार्य कौटिल्य की चिन्तन प्रक्रिया का एडम स्मिथ पर प्रभाव अवश्य पड़ा है। एडम स्थिथ ने 'श्रम के महत्त्व' को स्वीकार करते हुए अर्थशास्त्र में उसे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। पाश्चात्य विचारकों में एडम स्मिथ का स्थान सर्वोत्तम मानते हुए उसे अर्थशास्त्र का पिता माना गया है।

अर्थशास्त्र के अध्येता निष्पक्षभाव से प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों के विचारों से 'एडम स्मिथ' की प्रसिद्ध रचना का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करके देखें तो उन्हें स्पष्ट रूप से प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण और आचार्य कौटिल्य का उस पर प्रभाव दिखाई देगा। एडम स्मिथ ने अपने युग की एक श्रमकी समस्या को लेकर पाश्चात्य अर्थशास्त्र और पाश्चात्य विचारकों में अत्यन्त ख्याति प्राप्त की किन्तु कौटिल्य अपनी अर्थशास्त्रीय दृष्टि से सर्वोपरि है। कौटिल्य ने मानवीय जीवन के सभी पक्षों पर अपने कौटिल्य अर्थशास्त्र' में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत कर संसार को आश्चर्य चकित किया।

'एडम स्मिथ' से हजारों वर्ष पूर्व प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्री अपने चिन्तन के कार्य में पूर्ण रूप से सफल हो चुके थे। उन्होंने जगत में व्यवहार को चलाने के लिए अर्थ को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। अर्थ कैसे प्राप्त हो? जिस अर्थ के बल पर समस्त संसार का व्यवहार चल रहा है। अर्थ प्राप्ति का (उद्योग) श्रमको मूल साधन माना गया है। पूँजीकी उत्पत्ति का कारण श्रम (उद्योग) है। श्रम के बल पर ही उत्पादन की वृद्धि होती है। श्रम का विभाजन इसलिये आवश्यक माना गया है कि उससे सामाजिक कार्यों में सहयोग की भावनाओं का उदय होता है। प्राचीन भारतीय सभी अर्थशास्त्रियों ने अपनी पुस्तकों में 'वर्ण व्यवस्था' का विवेचन भी सामाजिक श्रम के विभाजन के उद्देश्य से ही किया है। इस वर्णव्यवस्था[1] का ध्येय भी 'वर्ण' के द्वारा श्रम विभाजन करना था। कार्य विभाजन के पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता का पूर्ण परिचय देता हुआ सहयोग की ओर अग्रसरित होता है।

१—श्रम के सहयोग से ही अर्थ शक्ति की वृद्धि होती है। इसलिए उद्योग को अर्थ का मूल कारण माना गया है।

२—श्रम विभाजन सामाजिक कार्यों एवं अर्थ वृद्धि के कार्यो में शीघ्रता और सुगमता लाता हैं। वर्णव्यवस्था प्राचीन भारत में इसी आधार पर स्थित चली आ रही है।

३—कार्य विभाजन के पश्चात् ही वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि का होना स्वाभाविक है। इस व्यवस्था से ही राष्ट्र का आर्थिक विकास हुआ है।

४—श्रम विभाजन से समय की सबसे अधिक बचत होती है और कार्य

---

१. विस्तृत अध्ययन के लिए लेखक की "प्राचीन भारतीय सामाजिक संस्थायें" एवं प्राचीन भारतीय सामाजिक विचारक 'पुस्तक' देखें।

अधिक मात्रा में होता है। प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने इसी आधार पर 'वर्ण व्यवस्था' को अपने आर्थिक चिन्तन में महत्त्व दिया है।

५—एक व्यक्ति किसी कार्य को निरन्तर करते रहने के पश्चात् उस काय में पूर्ण दक्षता पा लेता है और पुनः शीघ्रता और कुशलता से कार्य सम्पन्न हो जाता है। एक कार्य को एक व्यक्ति जब एक लम्बी अवधि से तन्मय होकर करता रहता है तो उसमें कुछ समय के पश्चात् यह अनेक सुधार कर लेता है एवं उस कार्य की सूक्ष्म से सूक्ष्म विधियों को भी सीख जाता है और उसमें विशेषज्ञ माना जाता है।

प्राचीन भारतीय समाज में श्रम के सिद्धान्त के आधार पर ही जाति प्रथा का उदय हुआ है। अपने-अपने निर्धारित कार्यों को करने के कारण लोग उसी नाम से सम्बोधित हो गये।

अर्थशास्त्र के अध्येता एडम स्मिथ के श्रम और श्रम विभाजन सिद्धान्तों के साथ प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक कौटिल्य आदि के आर्थिक विचारों का अध्ययन करके देखें कि कहां तक इन दोनों में साम्यता दिख रही है। ये प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्री पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों से पूर्व अपने विचारों को दे चुके थे। अतः प्राचीन भारतीयों पर पाश्चात्यों का प्रभाव तो नहीं हो सकता किन्तु पाश्चात्यों पर प्राचीन भारतीय अर्थशस्त्रियों का अधिक प्रभाव दृष्टिगत होता है।

एडम स्मिथ का मैंने आचार्य कौटिल्य के कुछ कार्यों से इसलिए तुलनात्मक विवेचन करने की चेष्टा की है कि अर्थशास्त्र के अध्येता पाश्चात्यों के आर्थिक विचारों के पठन पाठन के साथ प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों के विचारों का भी अध्ययन करें और वास्तविकता से प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों के चिन्तन को समझ सकेंगे।

आचार्य कौटिल्य ने प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों के विचारों को एकत्रित कर एक महान् ग्रन्थ का सृजन कर भारतीय अर्थशास्त्री मस्तिष्क का परिचय और प्राचीन भारत का विश्व में गौरव बढ़ाया। जिससे आचार्य कौटिल्य का नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध और प्रकाश में आया।

एडम स्मिथ को भी अर्थशास्त्र के विद्वानों ने इसलिये अर्थशास्त्र का पिता कहकर सम्मान दिया क्योंकि इस महान् विचारक ने अपने से पूर्व के विचारकों के बिखरे विचारों को क्रमबद्ध रूप में एकत्रित कर आधुनिक अर्थशास्त्रियों के समक्ष उपस्थित किया। एडम स्मिथ की पुस्तक 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' का अध्ययन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि उसने अपना एक मौलिक ग्रन्थ रचा है किन्तु

वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। अपने से पूर्व के सैकड़ों विचारकों के बिखरे हुए अच्छे विचारों को उसने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में एकत्रित करने का एक स्तुत्य कार्य किया जिससे वह प्रसिद्ध होकर अमर हो गया। अतः उसका नाम पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों में सर्वप्रथम गिना जाता है।

प्राचीन भारतीय आर्थिक बिचारकों ने सुशासन के संचालन के लिए आर्थिक विकास के लिए एवं सच्चे न्याय करने के लिए राजा को आवश्यक माना है। शासक के बिना अराजकता आ जाती है किन्तु 'एडमस्मिथ' ने आर्थिक विकास में राजा एवं सरकार को बाधक माना है। उसने कर्मचारी तन्त्र को केवल वेतनभोगी कहा है। सरकारी नौकरी करने वाला अपनी कार्य दक्षता को बढ़ाना नहीं चाहता। उसे केवल अपने वेतन पाने की इच्छा होती है। उसी प्रकार शासक भी टैक्सों द्वारा धन कमाता है। एडमस्मिथ ने यहां तक अपने विचार व्यक्त किये हैं कि यदि कृषि का कार्य सरकार अपने हाथ में ले लेगी तो उत्पादन का आधा भाग ही समाप्त हो जायेगा।

आचार्य कौटिल्य आदि प्राचीन भारतीय विचारकों ने राज्य की सभी चीजों की सुव्यवस्था के लिए राजा को आवश्यक माना है और आचार्य कौटिल्य ने कर्मचारी तन्त्र को अच्छा काम करने के लिए उनकी गति विधियों को जानने के लिये गुप्तचर, विभाग का भी संगठन किया हुआ था।[1] प्राचीन भारतीय और पाश्चात्य आर्थिक विचारधारा में अत्यधिक अन्तर है। प्राचीन भारतीय विचारक राजा को, कर्मचारियों को सदाचार आदि गुणों के द्वारा सुधारने पर अधिक बल देते रहे हैं। नैतिक विचारों से उनके हृदयों को परिवर्तित करने पर विश्वास करते हैं जब कि एडमस्मिथ जैसे पाश्चात्य विचारक इन पर विश्वास नहीं करते।

आज का युग वर्णव्यवस्था को यद्यपि अनुचित मानता जा रहा है किन्तु प्राचीन काल में सामाजिक संरचना को स्थिर करने, आर्थिक व्यवस्था को दृढ़ करने और अपने-अपने श्रम से समाज को उन्नत करने के लिए श्रम का विभाजन वर्णव्यवस्था के रूप में किया गया था। जो व्यक्ति जिस कार्य को अपनी योग्यता, दक्षता और क्षमता से कर सकता था उसे वही कार्य देकर श्रम के सिद्धांत के अनुरूप कार्य किया गया था। श्रम संगठित रूप से संचालित हो अतः उसे चार वर्गों (वर्णों) में शीघ्र कार्य सम्पादन के लिए विभाजित किया गया

---

१. 'आचार्य कौटिल्य और उसके गूढ़ पुरुष' शीर्षक में लेखक की "प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारक' पुस्तक में पृष्ठ १४१ से १५० तक देखें।'

था । उस वर्ण व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य समाज को संगठित कर श्रम के सिद्धांत से समाज में श्रम का विभाजन कर सभी को कार्य में लगाकर राष्ट्र को आर्थिक दृष्टि से पूर्ण उन्नत करना था ।

एडमस्मिथ ने 'अर्थशास्त्र' की परिभाषा इस प्रकार बताई है :—'अर्थ के विज्ञान को ही अर्थशास्त्र कहते है' अर्थ प्राप्ति के उपायों को बताने वाले विज्ञान को अर्थशास्त्र का नाम दिया गया है ।

अचार्य कौटिल्य ने भी अर्थशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार दी है :—

पृथ्वी को पाने और रक्षा करने के उपायों को बताने वाले शास्त्र को 'अर्थशास्त्र' कहते हैं । भूमि को ही और उससे प्राप्त होने वाली वस्तुओं को भी अर्थ कहते हैं । समस्त वस्तुएँ इस पृथ्वी में ही उत्पन्न होती हैं । अतः इसे अर्थदात्री, रत्नगर्भा आदि माना गया है । इसीलिये आचार्य कौटिल्य ने पृथ्वी को 'अर्थशास्त्र' में गिना हैं ।

माल्थस और उसका जनसंख्या का सिद्धान्त :—

टामस रावर्ट माल्थस इग्लैंड के एक धनाढ्य व्यक्ति के पुत्र थे । यह नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र का अच्छा ज्ञाता था । सन् १७६६ में उसका जन्म हुआ था । वस्तुतः प्रत्येक विचारक चाहे वह भारतीय हो अथवा पाश्चात्य सभी का जन्म समाज की समस्याओं का समाधान करने के लिए हुआ है । विचारक अपने समय की समस्याओं पर गम्भीरतापूर्वक एक दार्शनिक की भाँति चिन्तन करता है और उन्हें हल करने में अपना विचार समाज के समक्ष प्रस्तुत करता है । इस पाश्चात्य अर्थशास्त्री माल्थस ने भी अपने समय की एक गम्भीर समस्या पर विचार किया । सन् १७९८ ईस्वी में अपने ('जनसंख्या सिद्धान्त') 'ऐसे ऑन द प्रिन्सिपल ऑफ पौपुलेशन' नामक निबन्ध को प्रकाशित किया । उस समय इग्लैंड में जनसंख्या की वृद्धि अत्यन्त तीव्रगति पर बढ़ रही थी । माल्थस जनसंख्या वृद्धि के विषय में चिन्तित था । उसने अपने निबन्ध द्वारा इस जनसंख्या वृद्धि पर अपने विचार व्यक्त किये । उस युग में आज हमारे देश की भाँति अराजकता, भूखमरी, अवर्षण, खाद्य सामग्री में अत्यन्त मूल्यवृद्धि, गरीबी, बेरोजगारी, बीमारियों और देश में चारों ओर अन्न का अभाव था । अर्थ और वस्तु वितरण व्यवस्था में अत्यधिक विषमता आ चुकी थी । इस भयंकर खाद्य संकट में इंग्लैंड की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही थी । इस जनसंख्या वृद्धि के समाधान को माल्थस ने अपने 'जनसंख्या सिद्धान्त' में ही खोजा । अराजकता, युद्ध, खाद्य संकट एवं भयंकर बीमारियों के समय राष्ट्र में पूंजी-

पतियों, जमाखोरों और मुनाफाखोरों का जन्म होता है। ऐमे ससय पर ही ये लोग राष्ट्र का शोषण कर धन एकत्र करते हैं। खाद्य वस्तुओं का मूल्य आकाश को छूने लगता है। निर्धन और साधारण जनता पर इसका सबसे बुरा प्रभाव पड़ता है।

इंग्लैंड में ऐसी बुरी स्थिति में भी स्वार्थी लोगों की कमी न थी ऐसे दो प्रकार के लोग जनसंख्या वृद्धि को अच्छा समझने लगे थे। क्योंकि—

१—जनसंख्या वृद्धि सैनिक वृद्धि में अत्यन्त लाभप्रद थी।

२—औद्योगिक प्रतिष्ठानों में कम वेतन पर अधिक लोग मिल जाते थे।

अतः इस जनसंख्या की वृद्धि से राष्ट्र के दो वर्गों को लाभ था। एक शासक को दूसरे पूंजीपतियों को।

अपने 'जनसंख्या सिद्धान्त' के कारण ही पाश्चात्य अर्थशास्त्री माल्थस जगत में अधिक प्रसिद्ध हुआ।

वस्तुतः जिस राष्ट्र में जितनी अधिक गरीबी होगी उस राष्ट्र की जनसंख्या में उतनी ही वृद्धि होगी। इसका मुख्य कारण यह है कि 'गरीब' व्यक्ति के पास आमोद-प्रमोद एवं मनोरंजन का एक मात्र साधन 'यौन सुख' होता है। अर्थ के अभाव में वह कहीं जा नहीं सकता। देश में बेरोजगारी के कारण अच्छी नौकरी भी नहीं पा सकता अर्थ के अभाव में कोई कारोबार भी नहीं खोल सकता। भरपेट भोजन नहीं पा सकता। जो कमाता है उसे उत्पन्न किए हुये बच्चों पर व्यय कर देता है। इस प्रकार की जनसंख्या राष्ट्र के लिए घातक होती है क्योंकि स्वास्थ्य, मस्तिष्क और अर्थ इनके पास न होने से राष्ट्र की भावी पीढ़ी भी अच्छी नहीं हो सकती। ऐसी ही परिस्थिति में जनसंख्या अधिक तीव्र गति से बढ़ती है और खाद्य सामग्रियाँ जनसंख्या के अनुपात से बहुत ही कम उत्पादित होती हैं।

जनसंख्या की वृद्धि के साथ ही साथ समाज में सबसे बड़ा यदि कोई व्यक्तियों में परिवर्तन आता है तो वह आता है अकर्मण्यता का और अकर्मण्यता के कारण ही समाज में जनसंख्या की वृद्धि से अधिक अपराधों की वृद्धि होने लगती है जहाँ जितनी घनी आबादी होगी वहाँ उतने ही प्रकार के अपराधों की वृद्धि होगी। जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ अपराध वृद्धि एवं रोगवृद्धि जनसंख्या सिद्धान्त के अनुपात से कई गुना अधिक बढ़ जाती है। जनसंख्या की वृद्धि में समाज में दो ही वर्ग जीवित रह सकते हैं :—

१—सबसे गरीब और २—सबसे अमीर।

जनसंख्या वृद्धि की दरें—माल्थस ने ज्यामिति के आधार पर जनसंख्या की दुगनी गति से वृद्धि को माना है और खाद्य सामग्री की वृद्धि की दरें ठीक जनसंख्या वृद्धि के विपरीत हो जाती हैं। इस सारणी में ये दरें स्पष्ट हो जायेंगी :—

माल्थस की दृष्टि से जनसंख्या वृद्धि की दरे :—

१ : २ : ४ : ८ : १६ : ३२ : ६४ : १२८ : २५६

यद्यपि आधुनिक विचारकों ने जनसंख्या की वृद्धि की दरें माल्थस की दरों से अधिक बढ़ती हुई सिद्ध की हैं।

माल्थस की दृष्टि में खाद्य सामग्री की वृद्धि की दरें :—

१ : २ : ३ : ४ : ५ : ६ : ७ : ८ : ९ :

जनसंख्या वृद्धि और प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक :—

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने इस जनसंख्या वृद्धि के सिद्धान्त पर नियन्त्रण पाने के लिये मानवीय दुर्बलताओं पर एक कुशल 'नाड़ी विज्ञान वेत्ता' की भाँति हजारों वर्ष पूर्व समाधान निकाल दिया था। उस समाधान को भौतिक सुखवादी संसार शीघ्रता से नहीं समझ सकता है। मानव का स्वभाव है कि वह जैसी संगत में रहेगा एवं जैसे साहित्य का अध्ययन करेगा वैसे ही उसके जीवन का निर्माण प्रारम्भ हो जायेगा।

प्राचीन भारतीय सभी आर्थिक विचारक मानवीय मनोवृत्ति को अच्छी प्रकार जानते थे। उन्होंने सर्वप्रथम मनुष्यों को चार विद्याओं का ज्ञान होना आवश्यक माना है क्योंकि विद्या एक प्रकाश है जिसके द्वारा मनुष्य जगत का वास्तविक व्यवहार जान जाता है। विद्याओं के ज्ञान के पश्चात् मनुष्य नैतिकता के आधार पर अपनी इन्द्रियों को जीतने की चेष्टा करता है। इन्द्रियजित व्यक्ति मे विवेक, अविवेक, अपने भले, बुरे का ज्ञान होने लगता है। उसे अपने जीवन के मुख्य उद्देश्य का भी ध्यान होने लगता है। वह यौनसुख को जीवन विनाशक, जनसंख्या वृद्धि कारक, अपराध सम्वर्धक और दुख का कारण मानने लगता है। इसीलिए प्राचीन भारतीय सभी अर्थशास्त्रियों ने जीवन के केवल एक पक्ष पर ही चिन्तन नहीं किया अपितु मानव जीवन के प्रत्येक अंग पर गम्भीरता के साथ चिन्तन करके मानव के लाभ के लिए कुछ अनुभूतियाँ भी दी हैं। प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों की उपलब्धियों से यदि आज का विचारक लाभ उठाये तो मानव जाति का महान् उपकार हो सकता है और जनसंख्या वृद्धि की समस्या को सिद्ध करने में सहायक हो सकती है।

जिस प्रकार एडमस्मिथ के 'श्रम सिद्धान्त' में कार्य करने एवं श्रम विभाजन हेतु 'वर्णव्यवस्था' पर विवेचन किया गया है। उसी प्रकार जनसंख्या की वृद्धि के नियन्त्रण पर प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों की 'आश्रम व्यवस्था'[1] को भी एक सर्व सुलभ उपाय मानना चाहिए। आज का वैज्ञानिक जन संख्या वृद्धि के समाधान के लिए प्राचीन भारतीय चिन्तन प्रक्रिया के अधिक सन्निकट आने लगा है। प्राचीन भारतीयों ने मानव की सभी आवश्यकताओं का एवं सभी प्रकार की क्षुधाओं का पूर्ण ध्यान रखा है। समाज के संरक्षण और संबर्द्धन में स्वस्थ शरीर और स्वस्थ मस्तिष्क का मुख्य योगदान माना गया है। अतः प्राचीन भारतीयों ने युग के अनुरूप मनुष्य को १०० वर्ष की आयु मान कर उसको चार भागों में एक क्रमबद्ध योजना के अनुसार संसार के समक्ष उसके कल्याणार्थ एवं वास्तविक सुख प्राप्ति के हेतु प्रस्तुत किया है।

प्रथम आश्रम 'ब्रह्मचर्य आश्रम' है जिसमें भावी नागरिक और भविष्य का राष्ट्र निर्माता नगरों के दुषित वातावरण से दूर रहकर २५ वर्ष तक शारीरिक और बौद्धिक उन्नति के लिए सुयोग्य, अनुभवी और वृद्ध विद्वानों के सम्पर्क में ब्रह्मचर्य आश्रमों में जीवनोपयोगी एवं रुचिगत विद्याओं का उपार्जन करता था। उसके पश्चात् ही २५ वर्ष उपार्जित ज्ञान और बल से जगत के व्यवहार को चलाने के लिये एवं उसके सुखों का उपभोग करने के लिए अर्थ उपार्जन करता था और एक व्यवस्थित पद्धति पर यौनसुख भोगता हुआ 'ऋण त्रय'[2] सामाजिक दृष्टि से व्यक्ति के दायित्व के निर्वाह के लिए एवं एक सुव्यवस्थित सामाजिक व्यवस्था को चलाने के लिए तीन ऋणों १—देवऋण २—ऋषिऋण और ३—पितृऋण से उऋण होने का उपक्रम करता था। गृहस्थ में व्यक्ति नियमित एवं संयमित जीवन व्यतीत करता था।

जगत के सभी सुखों का उपभोग करने के पश्चात् जगत के कल्याण के लिये अपने ज्ञान और भुक्त सुखों का सच्चा अनुभव बताता था। ५० वर्ष की

---

१. विस्तृत अध्ययन के लिये लेखक की इन पुस्तकों का अध्ययन करें।
(अ) "प्राचीन भारतीय सामाजिक संस्थायें" (आ) "प्राचीन भारतीय सामाजिक विचारक"।

२. विस्तृत अध्ययन के लिये 'ऋणत्रय' को लेखक की 'प्राचीन भारतीय सामाजिक संस्थायें' नामक पुस्तक के द्वितीय अध्याय में 'ऋणत्रय' पृष्ठ ३५ से ३८ तक देखें।

एक निश्चित आयु में वह इन सभी सुखों का उपभोग करने के पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश कर लेता था।

इस प्रकार माल्थस के जनसंख्या वृद्धि के सिद्धान्त का प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने अपने समाज की अर्थव्यवस्था एवं सीमित भूमि और असीमित इच्छाओं को दृष्टि में रखते हुये होने वाली जनवृद्धि को नियन्त्रित करने के लिए हजारों वर्ष पूर्व अपने चिन्तन से एक सुगम उपाय दिखाकर समाधान बता दिया था।

जनसंख्या वृद्धि का सिद्धान्त माल्थस के मस्तिष्क में अपने देश की परिस्थितियों के कारण सन् १७९८ ई० में आया किन्तु 'प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों' के मस्तिष्क में जनवृद्धि की समस्या एवं उसका समाधान हजारों वर्ष पूर्व आ चुका था। अतः आर्थिक क्षेत्र में पाश्चात्य अर्थ शास्त्रियों की अपेक्षा प्राचीन भारतीयों का अधिक योगदान है। संसार इन प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों के प्रति सदा कृतज्ञ रहेगा क्योंकि उन्होंने पाश्चात्यों की भाँति एक पक्षीय चिन्तन नहीं किया और किसी राष्ट्र विशेष के लिए समाधान नहीं खोजा अपितु मानवीय मनोवृत्तियों का अध्ययन कर उनको ही दृष्टि में रखकर कार्य किया।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने एक मत होकर स्वस्थ समाज की स्थापना करने के लिये एवं जनसंख्या वृद्धि पर नियन्त्रण पाने के लिये विवाह की एक २५ वर्ष की निश्चित सीमा निर्धारित की। शारीरिक त्रुटि युक्त व्यक्ति को सामाजिक संरचना को दृष्टि में रखते हुये विबाह करने का निषेध किया है। शारीरिक, मानसिक विकास एवं शारीरिक नियमों का ज्ञान होने के पश्चात् ही विवाह करने की अनुमति दी है। सामाजिक दृष्टिकोण से, शारीरिक सुरक्षा एवं जनसंख्या की वृद्धि का ध्यान रखते हुए गृहस्थाश्रम में रहने वाले व्यक्तियों को यौनसुख भोगने के लिए कुछ समय वर्जित किये गये हैं। 'पितृऋण' से उऋण होने के लिये केवल एक दो सन्तान ही मान्य थी। यौनसुख भोगने के लिये गृहस्थाश्रम में ऋतुकाल के पश्चात् कुछ दिन संयमशील जीवन व्यक्ति व्यतीत करे तो अधिक सन्तान कभी हो ही नहीं सकती। आधुनिक युग की भांति 'सन्तति निरोध' के कृत्रिम उपायों को प्रयोग में लाकर जनसंख्या वृद्धि को नहीं रोका जाता था। कुछ सामाजिक नियम ही आश्रम व्यवस्था एवं नैतिक दृष्टि से ऐसे बनाये हुए थे जिससे जनसंख्या की वृद्धि पर पूर्ण नियन्त्रण था। आज जैसे-जैसे हम प्राचीन सामाजिक नियमों की अवहेलना

करते जा रहे हैं। वैसे-वैसे समस्यायें बढ़ती जा रही हैं। जिन पर नियन्त्रण पाने के लिए संसार कृत्रिम उपायों का सहारा लेता जा रहा है जो अप्राकृतिक होने के कारण प्राचीन पद्धति से स्वास्थ के लिए घातक हैं।

कुछ आधुनिक लोगों का प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों पर यह भी आक्षेप है कि उनके विचारों में धार्मिकपन है किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है अपितु सामाजिक संरचना को आर्थिक व्यवस्था से सुदृढ़, उन्नत और जन संख्या की वृद्धि को एक वैज्ञानिक पद्धति पर नियन्त्रित किया गया है। यदि कहीं धार्मिक पन दृष्टिगत हो रहा हो तो वह इस बात का द्योतक है कि भारतीय धर्म अर्थात् कुछ मौलिक सिद्धांतों—नियमों को पवित्रता से पालन करते थे। जिससे उनमें कुछ लोगों को धार्मिक स्वरूप दृष्टिगत होता है। प्राचीन भारतीय आश्रम व्यवस्था में सामाजिक व्यवस्था को सुस्थिर रखना मुख्य उद्देश्य है नियमों को पवित्रता देकर धार्मिक स्वरूप देना गौणरूप है। ये जनसंख्या वृद्धि को नियन्त्रित करने वाले, दीर्घजीवी बनाने वाले, स्वस्थ रखने वाले, अच्छी सन्तान देने वाले और साधनों के अनुरूप समाज को सुखी रखने वाले आश्रम व्यवस्था के नियम आज भी लाभप्रद हो सकते हैं। ये पवित्र नियम एक देशीय नहीं है अपितु सार्वभौमिक है। इन्हें मानवमात्र प्रयोग में लाकर सुखी रह सकता है।

आधुनिक युग में दुर्भाग्य का विषय है कि हमारे देश के अर्थशास्त्री तुलनात्मक दृष्टिकोण से भारतीय विश्वविद्यालयों में प्राचीन और पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्तों का अध्ययन नहीं होने देना चाहते हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात् भी भारतीय विश्वविद्यालयों में अर्थशास्त्र के पठन पाठन का मुख्य विषय पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्त ही रहे हैं। यदि पाश्चात्य और प्राचीन विचारधाराओं के अनुरूप अध्ययन, अध्यापन का उपक्रम किया जाये तो प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों का वास्तविक चिन्तन संसार के समक्ष उपस्थित हो सकेगा।

हमारे देश के विद्यालय, महाविद्यालय और विश्वविद्यालयों में अभी तक पाश्चात्य विचारकों के अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों का अनुशीलन होता चला आ रहा है। जब तक अंग्रेजी राज्य निर्मित पाठ्यक्रमों और शिक्षण पद्धति में आमूलचूल परिवर्तन नहीं आयेगा तब तक प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों का प्रकाश में आना अत्यन्त कठिन कार्य है। यद्यपि इधर कुछ दिनों से कुछ प्रबुद्ध भारतीय अर्थशास्त्रियों ने अपने लेखों एवं 'आर्थिक विचारकों का इतिहास'

नामक पुस्तकों में कुछ प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों का नामांकन करना प्रारम्भ कर दिया है। माल्थस अर्थशास्त्रियों का प्रिय एवं उसका जनसंख्या का सिद्धान्त, एक नवीन और रोचक विषय हो सकता है किन्तु प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों के अटूट सिद्धान्तों और अकाट्य युक्तियों के समक्ष एवं हजारों वर्ष पूर्व वर्णित विचारों के सामने ये सिद्धान्त नवीन नहीं हैं, हाँ वैज्ञानिक विकास और समय के परिवर्तन के साथ इनमें कुछ नवीनता हो सकती है किन्तु मौलिकता नहीं हो सकती है।

जनसंख्या वृद्धि सिद्धान्त के अनुसार प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने जो कार्य किये, अपने वर्षों के चिन्तन के द्वारा जो व्यवस्था दी वह पाश्चात्य विचारक 'माल्थस' के सिद्धान्तों से कई गुना स्पष्ट, उन्नत और वैज्ञानिक दृष्टि से सुव्यवस्थित एवं सुनियोजित हैं। माल्थस ने केवल दो सौ वर्ष पूर्व संसार की बढ़ती हुई जनसंख्या को देखकर यह विचार कर लिया था कि यदि इसी अनुपात से जनसंख्या में वृद्धि होगी तो भोजन, आजीविका, निवास आदि की समस्या अत्यन्त कष्टप्रद हो जायेगी। किन्तु प्राचीन भारतीयों ने संसार की आर्थिक स्थिति, व्यक्ति की शक्ति, पृथ्वी की उत्पादन क्षमता, आवास के लिए सीमित स्थान, उत्पादन के लिए निश्चित भूमि और मनुष्य की असीमित इच्छाओं की पूर्ति के लिए सीमित साधनों को देखते हुये संसार के समाजों की यौन सुख प्रवृत्ति को एक व्यवस्थित रूप देकर आश्रम व्यवस्था के नैतिक सिद्धान्तों का हजारों वर्ष पूर्व प्रतिपादन कर दिया था।

प्राचीन भारतीयों के जीवन का उद्देश्य संयमित जीवन व्यतीत कर 'जीवेम शरदः शतम्' सौ वर्ष जीने की कामना रही है। रोगी और दीन बनकर जीना प्राचीन भारतीयों के जीवन का ध्येय न था। वे सौ वर्ष तक जीना चाहते थे यहाँ तक की वे समाज के कल्याण के लिए शरीर को स्वस्थ रखना चाहते थे। सौ वर्ष तक वे जीना चाहते थे, सौ वर्ष तक वे अच्छी प्रकार सुनना चाहते थे, 'सौ वर्ष तक वे बोलना चाहते थे, देखना चाहते थे, सौ वर्ष तक वे शक्ति सम्पन्न और अर्थ सम्पन्न रह कर जीना चाहते थे।'[1] दुखी होकर, रोगी होकर झींक-झींक कर जीवित नहीं रहना चाहते थे।

---

१. तच्चक्षुर्देवहितं, पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्,
पश्येम शरदःशतं जीवेम शरदः शतं श्रृणुयाम शरदःशतं
प्रब्रवामशरदशतं अदीनास्याम शरदःशतं भूयश्च शरदः शतात् ॥

प्राचीन भारतीयों ने असंयमित जीवन से व्यक्ति को रोगी, चिन्ताग्रस्त, भयभीत, समाज में अनैतिकता फैलाने वाला और अल्पायु माना है। मानवीय जीवन में चारों पदार्थों (१ धर्म २ अर्थ ३ काम ४ मोक्ष) को एक निश्चित मात्रा में उपभोग और उपयोग करना माना है। इन पदार्थों का युक्तिसंगत रूप से प्रयोग करने वाला कभी दुखी नहीं रह सकता है। इनमें किसी एक पदार्थ विशेष का सेवन करने मात्र से जीवन सफल उन्नत और सुखी नहीं हो सकता। यहाँ तक कि व्यक्ति के निर्माण, समाज की संरचना, जनसंख्या वृद्धि पर नियन्त्रण पाने और सुखी जीवन व्यतीत करने के लिये "युक्तिपूर्वक आहार, विहार और कार्य करने वाला होना चाहिये।"[1] व्यक्ति को संयमित और नियमित जीवन व्यतीत करने के लिए प्राचीन भारतीयों ने अधिक निर्देश दिये हैं। इन सब का मुख्य उद्देश्य पूर्ण स्वस्थ रहकर जनसंख्या को एक निश्चित अनुपात में रखना था। पाश्चात्य भौतिकवादी विचारधाराओं ने, यौनसुख सम्बन्धी प्रवृत्तियों ने, आचार व्यवहार ने, अवस्था से पूर्व यौन साहित्य के अध्ययन के सुखों ने, विलासिता ने और अकर्मण्यता ने जनसंख्या वृद्धि में बहुत बड़ा योगदान दिया है।

संयमित जीवन व्यतीत करने पर व्यक्ति मृत्यु तक को जीत सकता है। जैसे—'ब्रह्मचर्य और तप के बल से देवताओं ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की।'[2]

शरीर सुरक्षा के नियमों का पालन करने से संयमित व्यक्ति जनसंख्या वृद्धि के नियन्त्रण में तो योगदान देता ही है किन्तु साथ ही साथ समाज को सुखमय जीवन व्यतीत करने का भी मार्ग दिखाता है। प्राचीन भारतीय विचारकों ने विषयों के चिन्तन पर भी महत्त्व दिया है। जैसी वस्तुओं का व्यक्ति चिन्तन करता है पुनः उन्हें पाने के लिये प्रयत्नशील हो जाता है। 'विषयों का चिन्तन करने से व्यक्ति उन विषयों का संग चाहता है। संग के पश्चात् विषयों की कामना उत्पन्न होती है और काम से क्रोध की उत्पत्ति होती है।'[3]

इस प्रकार प्राचीन भारतीय विचारधारा में जनसंख्या वृद्धि पर नियन्त्रण

१. युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। गीता ६ अध्याय १७ श्लोक
२. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नता।
३. ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
गीता २ अध्याय ६२ श्लोक

पाने के लिए वैध, प्राकृतिक, शरीर सम्बर्धन और व्यक्ति के लाभ के लिए अनेक उपायों का वर्णन किया है। इन उपायों को माल्थस ने भी स्वीकार किया है।

माल्थस के अनुयायियों ने कामजन्य सुख को रोकने को बुरा माना है किन्तु प्राचीन भारतीयों ने अपनी आश्रम व्यवस्था के अनुसार क्रमशः सभी आश्रमों के सुखों के भोगने की आज्ञा दी है जिससे मनुष्य कभी अतृप्त, अपूर्ण रहकर अनैतिक कार्य न करें।

इस प्रकार पूर्व वर्णित पाश्चात्य अर्थशास्त्री माल्थस का जनसंख्या का सिद्धान्त भारतीयों के लिए कोई नवीन सिद्धान्त नहीं है। पाश्चात्य जगत के लिए यह सर्वथा नवीन और माल्थस का समाधान नया हो सकता है किन्तु प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों के समक्ष उतना महत्त्व नहीं रखता। जनसंख्या वृद्धि का सिद्धान्त और उसका समाधान प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने एक सुव्यवस्थित रूप से उपस्थित कर लिया था। पाश्चात्य आर्थिक विचारक टामस राबर्ट माल्थस के जनसंख्या के सिद्धान्त का अर्थशास्त्र के अध्येता तुलनात्मक दृष्टिकोण से अध्ययन करके स्वयं निश्चित कर सकेंगे कि प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों की दृष्टि कितनी सार्वभौमिक और दूरदर्शितापूर्ण थी। जिन बातों पर पाश्चात्य आर्थिक विचारकों ने दो सौ चार सौ वर्ष पूर्व चिन्तन किया है उस पर प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक हजारों वर्ष पूर्व चिन्तन करके समाज को सही दिशा दिखा चुके थे। प्राचीन को पुराना और नवीन को नया कह कर प्राचीन भारतीयों का जनसंख्या सन्तुलित रखने का सिद्धान्त पुराना माना जाने लगा है एवं पाश्चात्य माल्थस का नवीन और वैज्ञानिक पद्धति-युक्त यह जनसंख्या का सिद्धांत माना जाने लगा है।

डेविड रिकार्डो का वितरण और लगान का सिद्धान्त

डेविड रिकार्डो का जन्म सन् १७७२ में एक यहूदी परिवार में हुआ। रिकार्डो अपने युग का एक सफल व्यापारी और प्रसिद्ध अर्थशास्त्री माना गया है। रिकार्डो पर एडम स्मिथ के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'राष्ट्रों की सम्पत्ति' का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। इस प्रकार की पुस्तकों का अध्ययन करने के पश्चात् रिकार्डो की रुचि अर्थशास्त्र विषय के अध्ययन की ओर जाग्रत हुई। रिकार्डो ने भी अपने आर्थिक सिद्धान्तों के द्वारा कई नवीन सुधारपूर्ण कार्य किये हैं। रिकार्डो के समय तक आर्थिक व्यवस्था में कई प्रकार के परिवर्तन आ गये थे। रिकार्डो के

समय पूँजीवादी विचारधारा का भी उदय हो गया था। यहाँ रिकार्डो के दो सिद्धांतों पर ही विवेचन किया जा रहा है। रिकार्डो १८वीं शताब्दी में उत्पन्न हुआ था। उसने अपने युग की समस्याओं का अपने सिद्धान्तों में प्रतिपादन किया है।

रिकार्डो का वितरण का सिद्धान्त :—

संसार में सभी आर्थिक विचारकों ने सर्वप्रथम अर्थ प्राप्ति के साधनों पर अधिक ध्यान दिया है। अर्थ प्राप्त होने एवं उत्पादन की वृद्धि होने पर सबसे बड़ी जो समस्या उपस्थित होती है वह है **वितरण व्यवस्था** की समस्या। इस समस्या का समाधान करने से अनेक कार्य सुगमता से हल हो सकते हैं। आर्थिक विषमता, वितरण व्यवस्था के कारण ही सफल और असफल होती है। आज संसार के देशों में जो विद्रोह, असन्तोष, भ्रष्टाचार और बड़े छोटे का भेद-भाव बढ़ रहा है उसमें मुख्य कारण वितरण व्यवस्था ही है।

पाश्चात्य अर्थशास्त्री रिकार्डो ने सर्वप्रथम इस वितरण के सिद्धान्त को संसार के समक्ष रखा। वस्तुतः रिकार्डो ने राष्ट्रीय आय का प्रमुख रूप से तीन व्यक्तियों को सहभागी माना है। १—पृथ्वी का स्वामी २—श्रमिक ३—उत्पादक, उत्पादित वस्तु का पूर्णरूप से इन तीनों को ही समान भाग मिलना चाहिये। यदि इन तीनों में समानरूप से वितरण नहीं होगा तो वितरण व्यवस्था बुरी और असफल प्रमाणित सिद्ध होगी। जैसे—भूस्वामी को यदि वितरण व्यवस्था में उचित भाग न मिलेगा तो वह अपनी भू को किसी को क्यों देगा? यदि श्रमिक को वितरण के नियमों के अनुरूप फल न मिलेगा तो वह श्रम क्यों करेगा? उसी प्रकार उत्पादक भी और इन तीनों में ही जब व्यवस्था ठीक न होगी तो समाज की वितरण व्यवस्था कैसे ठीक हो सकेगी?

रिकार्डो ने भू स्वामी, श्रमिक और उत्पादक इन तीनों को अपने वितरण के सिद्धान्त में महत्त्वपूर्ण स्थान देकर स्पष्ट किया है कि प्रत्येक को अपना-अपना अंश मिलना आवश्यक है। भूस्वामी को **लगान**, श्रमिक को **मजदूरी** और उत्पादक को उचित लाभ, इस प्रकार सभी के अधिकारों का ध्यान रखने पर वितरण व्यवस्था सुचारु रूप से चल सकेगी। यदि सभी का ध्यान न रखा जायेगा तो वितरण व्यवस्था में बाधा, विषमता और सर्वप्रथम खाद्य संकट उपस्थित हो जायेगा। रिकार्डो को इस वितरण व्यवस्था के कारण ही अर्थशास्त्र में महान् अर्थशास्त्री कहकर सम्मानित किया गया है। वस्तुतः १८ वीं शताब्दी में रिकार्डो ने अर्थशास्त्र के जगत में अपने 'वितरण सिद्धान्त' को देकर बहुत बड़ा कार्य किया है। रिकार्डो के पूर्व के अर्थशास्त्रियों ने अपने आर्थिक विचारों का योगदान

देकर आर्थिक व्यवस्था को सुधारा तो है किन्तु रिकार्डो ने उनसे सुव्यवस्थित रूप देकर वितरण जैसी व्यवस्था को ठीक करके अपने 'वितरण सिद्धान्त' का एक सफल अर्थशास्त्री की भाँति सामाजिक सहयोग, राष्ट्रीय आय वृद्धि एवं एकता के लिए एक नवीन सिद्धान्त देकर जगत का उपकार किया है।

अब १८ वीं शताब्दी में अपने 'वितरण सिद्धान्त' को देने वाले महान् पाश्चात्य अर्थशास्त्री से प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों के सिद्धान्तों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करके वास्तविकता देखी जायेगी कि प्राचीन भारतीयों ने इस वितरण व्यवस्था के सिद्धान्त को रिकार्डो से कितने वर्ष पूर्व जान लिया था।

वितरण का सिद्धान्त समान अधिकार के रूप में अपना एक विशेष महत्त्व रखता है। वितरण व्यवस्था के अच्छी रहने पर ही राष्ट्र की आर्थिक स्थिति पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। आज के युग में किसी भी राष्ट्र की आर्थिक स्थिति उसकी वितरण व्यवस्था के अनुरूप ही अच्छी बुरी मानी जाती है। वितरण व्यवस्था के अच्छा न होने पर स्वामी, श्रमिक और उत्पादक पर बुरा प्रभाव पड़ता है। स्वामी अपने लाभ न होने के कारण पूँजी का विनियोग नहीं करना चाहता, श्रमिक अपने श्रम का उचित पुरस्कार न मिलने के कारण कुशलता और तत्परता से कार्य नहीं करना चाहता, उत्पादक उचित लाभ न मिलने के कारण उत्पादित वस्तुओं को रोक लेता है।

प्राचीन भारतीय सभी आर्थिक विचारकों ने एक मत होकर कुछ मूलभूत बातों पर अधिक ध्यान दिया है। सभी के अधिकारों का ध्यान रखते हुए लाभ का उचित रीति से वितरण के सिद्धान्त को अपनाया है। किसी के मन में असमानता वाली वितरण की व्यवस्था न आये। समान वितरण व्यवस्था से सभी प्रसन्न होकर अपने-अपने कार्यों को कुशलता और तत्परता से करते हैं। प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक समान वितरण व्यवस्था के लाभों को अच्छी प्रकार जानते थे। अतः उन्होंने इस वितरण व्यवस्था को समानरूपता देकर सभी के कल्याण और राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था को उन्नत करने के लिए अपनाया है।

मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह बिना किसी लाभ के किसी भी छोटे या बड़े कार्य को करने को उद्यत नहीं होता है। शासक–राजा प्रजा के कल्याण के लिए सभी चीजों से सहायता करता है क्यों? भू स्वामी अपने खेतों को दूसरों को देता है क्यों? कृषक अधिक उत्पादन की वृद्धि करता है क्यों? श्रमिक कष्ट सहकर श्रम करता है क्यों? विद्यार्थी विद्या अध्ययन करता क्यों? मकान

मालिक मकान को किराये पर देता है क्यों ? व्यापारी अपनी पूँजी को लगा कर आपत्ति लेता है क्यों ? सभी का एक ही उद्देश्य होता है लाभ प्राप्ति। यदि लाभ की आशा न हो तो कोई भी व्यक्ति कार्य करने की ओर क्यों प्रवृत्त होगा और उद्योगी बन कर विनियोग क्यों करेगा ?

इन सबके मूल में समान वितरण का सिद्धान्त ही एक ऐसा माध्यम रहा है जिसने सभी को अधिक और तत्परता से कार्य करने के लिए बाध्य किया हैं। क्रेता और विक्रेता में वस्तु वितरण यदि उचित रीति से न होगा तो समाज में वितरण व्यवस्था दोषपूर्ण मानी जाती है। क्योंकि यदि मूल्य का निर्धारण ही सन्तोषप्रद न होगा तो वितरण व्यवस्था में बाधा अवश्य आयेगी और वितरण व्यवस्था ठीक न होने पर आर्थिक व्यवस्था कभी भी सुनियोजित ढंग पर नहीं चल सकती है।

प्राचीन भारत में राज्य की रक्षा के लिए राजा ही एकमात्र सर्वोच्च सत्ता थी। राजा और प्रजा का परस्पर पिता पुत्र जैसा घनिष्ठ सम्बन्ध था। दोनों अपने-अपने कर्तव्यों का 'धर्म' पवित्र नियम समझकर पालन करते थे। संसार के सभी देशों में भूमि ही जीविका का एकमात्र साधन थी। अतः वही भूमि का स्वामी होता था। वह प्रजा के लोगों की समस्त प्रकार की सुविधाओं का ध्यान रखता था।

समान वितरण के लिए प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारों ने माप-दण्ड एवं प्रतिमानों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया हैं। वस्तु के मूल्य नियन्त्रण पर भी विशेष ध्यान रखा है। वस्तु नियन्त्रण और समान वितरण के नियम से स्वामी, श्रमिक और उत्पादक, क्रेता, विक्रेता एवं उत्पादन-कर्ता सभी के अधिकारों का ध्यान रखा जायेगा। उत्पादक के सामान का मूल्य राज्य की ओर से नियन्त्रित किया जायेगा तो उसके समस्त खर्चों को जोड़कर ही लाभ को दिया जायेगा एवं क्रेता को भी उचित मूल्य पर वस्तु का वितरण किया जायेगा। जिस श्रमिक ने कार्य को किया उसे भी उसके श्रम का उचित पुरस्कार देकर सम्मानित किया जायेगा। प्राचीन भारतीय विचारकों ने मूल्य निधारण आर समान वितरण के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर हजारों वर्ष पूर्व इस प्रकार की असमानताओं का अन्त कर दिया था। रिकार्डो से पूर्व वे इस प्रकार अपने-अपने विचारों को दे चुके थे।

मनु के विचार :—"राजा तुलामान (तराजू) प्रतिमान (बाट) की अच्छी

प्रकार परीक्षा करे और पुनः प्रत्येक छह मास पर उन दोनों की परीक्षा करता रहे।"[1]

प्रत्येक व्यक्ति को उसके धन का उचित भाव पर सामान मिले। अतः तुलामान और प्रतिमानों के माध्यम से भी समान वितरण व्यवस्था को अपनाया गया था। समाज में विषमता न आये अतः सभी को समान रूप से सभी क्षेत्रों में समान वितरण की व्यवस्था को अपनाया गया था।

मूल्य निर्धारण :—"आयात, निर्यात, स्थान और सामान के आने जाने की दूरी, हानि, लाभ दोनों का एवं उसके सम्पूर्ण खर्चों का ध्यान रखते हुए बाजार में सामान को क्रय-विक्रय करावे।"[2]

इस प्रकार वितरण व्यवस्था में सभी के अधिकारों का ध्यान रखते हुए प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारों ने बहुत पहले ही व्यवस्था निर्धारित की हुई थी। श्रम के माध्यम से ही अर्थ प्राप्त हुआ किन्तु वितरण व्यवस्था में पूंजी और श्रम की विषमता से संघर्ष उत्पन्न हो जाता है और यहीं से आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याओं का जन्म होता है।

रिकार्डो का लगान का सिद्धान्त :—रिकार्डो ने लगान का सिद्धान्त शुद्ध रूप से भूमि पर ही माना हैं और शुद्ध उत्पादन को ही लगान माना गया है। जैसा कि प्रगतिवादी मानते हैं। रिकार्डो के शब्दों में लगान का अर्थ इस प्रकार माना गया है :—'भूमि की उत्पत्ति का वह भाग लगान है जो भू-स्वामी को भूमि को उपयोग में लाये जाने के रूप में दिया जाता है।'

प्राचीन भारतीय विचारकों ने खेती के अनुरूप ही लगान निश्चित किया है और वह उस लगान का प्राप्त कर्त्ता राजा ही होता था।

रिकार्डो का लगान वैज्ञानिक पद्धति से एक अपना नवीन स्वरूप अवश्य रखता है किन्तु प्राचीन भारतीयों ने भी लगान को शुद्ध रूप से भूमि के ही उपयोग में लाये जाने वाले के प्रतिरूप में दिया जाने वाला भाग-अंश-बलि लगान आदि नामों से पुकारा है। प्राचीन भारतीयों ने भूमि के अनुरूप ही लगान निश्चित किये हैं। उनका उद्देश्य कृषक से उसके श्रम और उत्पादन के ही अनुसार लगान लेना था ताकि स्वेच्छा से मनमाना शोषण के रूप में उससे न लिया जाय।

---

१. अर्थ व्यवस्थापक मनु—पृष्ठ ८०—मनुस्मृति—८ अध्याय ४०३ श्लोक

२. विस्तृत तुलना के लिए अर्थ व्यवस्थापक मनु पृष्ठ ७८ से ८२ तक देखें। मनुस्मृति ८ अध्याय ४०१ श्लोक।

सिसमाण्डी

पाश्चात्य अर्थशास्त्री सिसमाण्डी का जन्म स्विटजरलैंड में सन् १७७३ में हुआ किन्तु यह बाद में फ्रांस में आ बसने के कारण सिसमाण्डी के जीवन में फ्रांस की क्रान्ति युद्धों ने और औद्योगिक क्रान्ति ने ही एक महान् परिवर्तन ला दिया था, औद्योगिक विकास से पूंजीपतियों का जन्म हुआ और श्रमिक वर्ग का शोषण हुआ। नैपोलियन बोनापार्ट की युद्ध नीति आदि को सिसमाण्डी ने अपनी आँखों देखा था। युद्ध से होने वाले सामाजिक विनाश को देखकर सिसमाण्डी का हृदय द्रवीभूत हो गया। अपने युग के अर्थशास्त्रियों—एडमस्मिथ, रिकार्डो एवं माल्थस आदि के आर्थिक विचारों का सिसमाण्डी पर भी बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। सच्चे विचारकों पर उनके समय की हृदय विदारक घटनाओं का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। विचारक समाज में होने वाले अत्याचारों और बुराइयों को सहन नहीं कर सकता है। लिखित और भाषणों के रूप में अच्छे विचारक समाज की समस्याओं का समाधान ढूंढ कर जनता में जाग्रति लाने का कार्य करते हैं। सिसमाण्डी ने भी अपनी "दी कॉमर्सियल वेल्थ" और "न्यू प्रिन्सिपल्स ऑफ पोलिटिकल इकोनोमी" के द्वारा समाज में अत्यधिक आर्थिक परिवर्तन लाये।

अपने युग के आर्थिक विचारकों की अपेक्षा सिसमाण्डी ने उपभोग और वितरण व्यवस्था पर अधिक बल दिया है। वस्तुतः उपभोग और वितरण व्यवस्था की त्रुटियों के कारण ही समाज में विषमतायें आती हैं। सिसमाण्डी, एडम स्मिथ के विचारों के विपरीत उपभोग और वितरण व्यवस्था में राजा का हस्तक्षेप आवश्यक रूप से मानता है। अच्छा शासक ही उपभोग और वितरण व्यवस्था में सुधार लाकर जनसाधारण को जीवित रहने की वस्तुएँ दिला सकता है।

परम्परावादी अर्थशास्त्रियों ने अति उत्पादन और मशीनों के उत्पादन पर अधिक बल देकर जनकल्याण को दृष्टि में रखते हुए लाभप्रद माना है किन्तु सिसमाण्डी ने मशीनों के विकास को श्रमिकों के लिए हानिकारक माना है क्योंकि अधिक हाथों से होने वाले कार्य को कम हाथों वाले मशीन कम समय में अधिक उत्पादन करके दिखा देती है। मशीनों के उपयोग से श्रमिकों की बेरोजगारी की संख्या में अत्यधिक वृद्धि होगी और समाज में पूंजीपतियों की संख्या में भी वृद्धि होगी। सिसमाण्डी का मत है कि ऐसी स्थिति में समाज में केवल दो ही वर्ग रह जाते हैं। गरीब और अमीर।

वितरण की विषमता को ही सिसमाण्डी ने सबसे बुरा माना है। वितरण व्यवस्था के सुन्दर होने पर राष्ट्र में किसी को कष्ट नहीं होता। सभी लोग उपभोग की वस्तुओं को सुगमता से प्राप्त कर लेते हैं। सरकार को सिसमाण्डी ने पूंजीपती और श्रमिक दोनों वर्गों के तनाव को दूर करने का एक मात्र साधन माना है।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने उद्योग को एक राष्ट्र के निर्माण, व्यक्ति के कल्याण और समाज के विकास में सर्वोत्तम साधन माना है। सभी प्रकार से उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के उपभोग का प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार दिया है। प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुरूप आजीविका देने की राज्य की ओर से व्यवस्था की हुई थी। प्रत्येक व्यक्ति वितरण व्यवस्था का लाभ उठा सके। अतः व्यापारी वर्ग को वस्तुओं के वितरण का पूर्ण दायित्व दिया हुआ था। देश, विदेश से व्यापारीवर्ग सामान लाकर जनता की आवश्यकताओं की समान वितरण के द्वारा पूर्ति करता था। राज्य की ओर से मूल्य देखने वाले, वितरण व्यवस्था का निरीक्षण करने वाले, व्यापारियों के तौलने के माप दण्डों का सर्वेक्षण करने वाले अनेक अधिकारी थे और व्यापारियों एवं अधिकारियों की सच्चाई को देखने के लिए गुप्तचर विभाग नियुक्त था, जो सक्रिय होकर राजा को इसकी सही सूचना देता था। सूचना पाते ही राजा कठोर दण्ड देकर विषमता फैलाने वाले, मुनाफाखोर, रिश्वत लेने वाले अधिकारियों और व्यापारियों को समता लाने का पाठ पढ़ाता था।

आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में सीताध्यक्ष पण्याध्यक्ष, पौताध्यक्ष, नगराध्यक्ष आदि अधिकारियों द्वारा उत्पादन, उचित मूल्यपर क्रय—विक्रय, समान वितरण व्यवस्था को सुव्यवस्थित रूप से चलाने का कार्य किया हुआ था। वितरण व्यवस्था के अच्छी प्रकार चलने से अथवा जनता उचित रूप से बिभाजन का ध्यान रखने से कभी भी असन्तोष और अराजकता की भावनायें नहीं फैलती हैं। प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने उस युग के अनुरूप 'असमानता' को दूर करने के लिए वैश्य वर्ग को ही व्यापार का समस्त दायित्व दिया हुआ था। उनकी लोभमयी वृत्ति पर नियन्त्रण पाने के लिए अपने-अपने विषयों के विशेषज्ञ लोगों की नियुक्ति कर व्यवस्था की हुई थी।

पाश्चात्य अर्थशास्त्री 'सिसमाण्डी' ने अतिउत्पादन, मशीन उद्योग आदि के संकटों पर नियन्यण पाने के लिए प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों की भाँति राजा का होना आवश्यक माना है जब कि एडमस्मिथ ने उत्पादन की वृद्धि में

राजा को बाधक माना है। अशान्ति को दूर करने, विषमताओं को हटाने में, वितरण व्यवस्था को प्रमुख स्थान दिया है। वितरण व्यवस्था के पश्चात् ही शासन के सभी कार्य सुचारु रूप से चलने लगते हैं। असमान वितरण को ही सिसमांडीने आर्थिक संकट का मुख्य कारण माना है।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों की विचारधारा का भी पाश्चात्य अर्थशास्त्री सिसमाण्डी पर प्रभाव अवश्य पड़ा है। प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने सर्वप्रथम उत्पादन के पश्चात् वितरण व्यवस्था पर अत्यधिक ध्यान दिया है उसी का कारण है कि प्राचीन भारतीय आर्थिक व्यवस्था में त्रुटियाँ न रह सकी।

श्रमिकों की समस्याओं पर भी प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों ने अधिक ध्यान दिया है। उसी का फल था कि सभी क्षेत्रों में उत्पादन की प्राचीन भारत में वृद्धि ही थी। श्रमिकों को किसी प्रकार की समस्यायें नहीं थीं क्योंकि राज्य की ओर से उनकी समस्यायें स्वतः ही हल हो जाती थीं।

प्राचीन भारतीय सभी आर्थिक विचारकों के श्रम का महत्त्व स्वीकार कर उनको उचित मूल्य एवं वेतन देने की व्यवस्था की हुई थी।

अति उत्पादन और न्यून उत्पादन व्यवस्था को पाश्चात्य अर्थशास्त्री सिसमाण्डो ने बुरा माना है किन्तु प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्री अधिक उत्पादन को किसी रूप में भी बुरा नहीं मानते। क्योंकि उनका उद्देश्य समाज में विषमता लाना नहीं था। अधिक उत्पादन और न्यून उत्पादन का बाजार पर अवश्य मूल्य वृद्धि और ह्रास पर इसका प्रभाव पड़ता है किन्तु सुनियन्त्रित एवं सुनियोजित आर्थिक व्यवस्था पर इससे कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है।

कार्ल मार्क्स

संसार के समाजों में अति प्राचीन काल से यह देखा जाता है कि जब-जब सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति के अधिकारों का हनन होने लगता है ऐसी स्थिति में किसी शक्तिशाली विचारक का जन्म होता है। सन् १८१८ ईस्वी में जर्मनी में एक यहूदी परिवार में कार्ल हेनरिच मार्क्स का भी जन्म ऐसी ही परिस्थिति में हुआ। मार्क्स का पिता उसे सरकारी नौकरी पर एक उच्च अधिकारी बनाना चाहते थे किन्तु प्रकृति ने उसे किसी और ही कार्य के सम्पादन के लिए उत्पन्न किया था। जेना विश्वविद्यालय से सन् १८४१ में कार्ल मार्क्स ने दर्शन-शास्त्र में डाक्टर की उपाधि प्राप्त की। कार्ल मार्क्स का विचार था कि मैं एक अध्यापक बनूं किन्तु वह एक सम्पादक बन गया। कार्ल मार्क्स अपने प्रगतिशील

विचारों के कारण अपने देश से निकाला गया। मार्क्स का विचार था कि उसके सिद्धान्त व्यवहारिक रूप लेलें और अन्त में हुआ भी ऐसा ही कि संसार के अधिक भूभाग पर साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव फैला। पूँजीवादी विचार-धारा के विघठन करने में बेल्जियम के एञ्जिल ने कार्ल मार्क्स को सबसे बड़ा सहयोग दिया। मार्क्स ने कई पुस्तकें लिखीं किन्तु चार भागों में निर्मित **"कैपिटल"** ही सबसे अधिक प्रसिद्ध हुई।

कार्ल मार्क्स पर अपने पूर्ववर्ती एडम स्मिथ, माल्थस, रिकार्डो आदि के विचारों का भी प्रभाव अवश्य पड़ा है। मार्क्स के समय समाज दो भागों में विभक्त हो गया था १—पूँजीपति २—श्रमिक। पूँजीपति श्रमिक को पूँजीपति व्यवस्था में कुछ भी नहीं समझता। पूँजी पर समस्त अधिकार पूँजीपतियों का ही होता है। पूँजीपति श्रमिक के श्रम का शोषण करता है।

मार्क्स और उसके अनुयायी पूँजीवादी व्यवस्था एवं शोषण की परम्पराओं को समाप्त करने के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति को भी समाप्त करना आवश्यक मानते हैं। उत्पत्ति के साधनों का राष्ट्रीयकरण होने से शोषण की समस्यायें स्वतः ही हल हो जायेंगी और पूँजी का एकत्रीकरण भी समाप्त हो जायेगा ऐसा मार्क्स का विचार है।

मार्क्सवादी विचारधारा क्रान्ति पर अधिक विश्वास करती है। मार्क्स के विचारों पर पाश्चात्य विचारकों ने ही अनेक प्रकार की आलोचनायें की हैं।

जो कुछ भी हो किन्तु कार्ल मार्क्स अपने युग का एक महान् विचारक था। उसके सिद्धान्तों का उसके जीवन काल में इतना अध्ययन नहीं हुआ था जितना उसकी मृत्यु के पश्चात् हुआ। उसके विचारों का अनुशीलन आज के युग में समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री एवं राजशास्त्री भी करते आ रहे हैं।

कार्ल मार्क्स ने यद्यपि एडम स्मिथ और रिकार्डो के आर्थिक चिन्तन से लाभ उठाया किन्तु अपने युग के विचारों को एकत्रित कर बड़े ही स्पष्ट और सबल शब्दों में संसार के समक्ष प्रस्तुत किया है। श्रमिकों पर होने वाले शोषण का मार्क्स ने एक सच्चा आर्थिक सुधारक बनकर विशद वर्णन किया है। मार्क्स से पूर्व भी पाश्चात्य विचारकों ने इस क्षेत्र में चिन्तन अवश्य किया है किन्तु कार्ल मार्क्स के समान पूँजीवाद का उन्मूलन करने की व्यवस्था किसी ने नहीं दी है।

प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों के समक्ष उनके युग के अनुरूप कार्ल मार्क्स जैसी कोई समस्या न थी। क्योंकि वे तो किसी के श्रम का अपहरण ही नहीं करना चाहते थे। पूँजी एकत्र करने का कहीं प्रश्न ही नहीं उठता था। राजा

राष्ट्र का सर्वोपरि शासक था। राजा स्वयं कुछ सामाजिक नियमों से बंधा था। वह अपने को प्रजा का रक्षक न कि भक्षक मानता था। प्रजा के सुखों का उसे सर्वप्रथम ध्यान था। जिस राष्ट्र में इस प्रकार की विचारधारा होगी वहाँ वर्गभेद कैसे होगा? वर्गभेद के माध्यम से ही शोषण की भावनाओं का उदय होता है।

ईशावास्य उपनिषद् के प्रथम मंत्र में प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण स्पष्ट परिलक्षित होता है कि किसी के धन को ग्रहण मत करो।[1]

कौटिल्य अर्थशास्त्र में उत्पादन की वृद्धि में श्रमिकों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है। उत्पादन वृद्धि के लिए श्रमिकों के साथ अच्छा व्यवहार करना चाहिये। जैसे आचार्य कौटिल्य ने माना है:—

"काम को करते समय जिन श्रमिकों के साथ जिस प्रमाण से काम, समय और वेतन का निश्चय किया जा चुका हो ऐसे श्रमिकों और शिल्पियों से कार्य समाप्ति तक अच्छा सम्बन्ध रखना चाहिये।"[2]

इस प्रकार के उद्धरणों से श्रम का महत्त्व, श्रमिकों के लाभ, उनके कार्य का समय एवं उचित वेतन देने की व्यवस्था का ज्ञान होता है। जिस राष्ट्र में सार्वभौमिक दृष्टि से प्रजावर्ग के सुख दुखों का ध्यान रखा जाता था वहाँ शोषण, पूँजी एकत्रित करने की भावनायें कैसे आ सकती थीं? श्रमिकों और पूँजीपतियों के किसी प्रकार के भी बड़े छोटे झगड़े प्राचीन भारतीय विचारकों की पुस्तकों में दृष्टिगत नहीं होते।

श्रम जीविकों की सुरक्षा के लिए जिस प्रकार कार्ल मार्क्स ने अपने युग की विचारधाराओं के विरुद्ध श्रमिकों के कल्याण के लिए अनेक कार्य किये और अपने चिन्तन के द्वारा संसार के समस्त श्रमिकों को एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न किया।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने हजारों वर्ष पूर्व अपने ग्रन्थों में श्रम कल्याण पर अत्यधिक ध्यान दिया है। श्रमिकों के श्रम का प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने अच्छा मूल्यांकन भी किया है। यही कारण था कि उस युग में इस प्रकार की समस्यायें नहीं थीं।

श्रमिकों के कल्याण की भावना से आचार्य शुक्र ने उनको अवकाश की व्यवस्था भी दी है।

---

१. मा गृधः कस्य स्विद् धनम् ॥ ईशावास्योपनिषद् १ मन्त्र।

२. कृतकर्मप्रमाणकाल वेतनफलनिष्पत्तिभिः कारुभिश्च कर्म कारयेत्प्रति संसर्गं च गच्छेत् ॥ कौ० २।२३।८

"भृत्यों को प्रतिदिन अपना घर का काम करने के लिए आधुनिक समय का तीन घंटे का अवकाश और रात्रि में नौ घंटे का अवकाश देना चाहिये। दैनिक वेतन पर काम करने वालों को डेढ़ घंटे का अवकाश देना चाहिये।"[1]

जॉन मेयनर्ड कीन्स और उसका पूर्ण रोजगार :—

बीसवीं शताब्दी के पाश्चात्य प्रसिद्ध अर्थ शास्त्रियों में जॉन मेनार्ड कीन्स का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है, कीन्स को परिस्थितियों ने अत्यधिक सहयोग दिया क्योंकि योग्य अर्थशास्त्री पिता, सम्मानिता माता और कुशल अर्थशास्त्री मार्सल जैसे गुरुका साथ एवं कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय का पठन-पाठन का वातावरण प्राप्त हुआ। कीन्स का जन्म इंग्लैण्ड में सन् १८८३ ईस्वी में हुआ। कीन्स की प्रतिभा सम्पन्नता एवं आर्थिक विचारों का अमेरिका के राष्ट्रपति 'रूजवेल्ट' ने सम्मान करते हुये उन्हें अपने देश में क्रियान्वित किया। पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों में सबसे अधिक ग्रन्थ 'कीन्स' ने ही लिखे हैं।

कीन्स का 'पूर्ण रोजगार' का सिद्धान्त आधुनिक युग के लिये एक नवीन देन है क्योंकि आधुनिक युगमें मनुष्य क्या चाहता है **रोजी और रोटी**। कीन्स अपने समय का एक सफल पाश्चात्य अर्थशास्त्री था। उसने अपने समय के अनुकूल अर्थशास्त्र में सराहनीय कार्य किये और उस युग की समस्याओं को सुगमता से हल भी किया।

वस्तुतः विचारकों के विचारों का महत्त्व उनके युग की परिस्थितियों से समन्वय करने पर ही विदित होता है। समय बलवान् है और वही मनुष्य को युग के अनुरूप बनाता रहता है। भारत पर अंग्रेजों का शासन रहा और अंग्रेजों ने भारतीय वाङ्मय के अमर साधकों को भारतीय समाज के समक्ष सही रूप में कभी भी प्रकट नहीं होने दिया। स्वतन्त्रता के कारण अंग्रेज भारतीयों से सभी दृष्टि में अच्छे थे। अतः वे प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों को प्रकाश में लाकर अपने गौरव को क्यों कम करते? पाश्चात्य अर्थशास्त्री, राजनीतिज्ञ पहले और अर्थशास्त्री बाद में बने। राजनीतिज्ञ दूसरों की उन्नति कैसे सहन कर सकते हैं। अतः प्राचीन भारतीय मस्तिष्कों को अंग्रेजी शासकों ने प्रकाशमें नहीं आने दिया। जैसा कि आचार्य कौटिल्य के प्रसंगमें चतुर्थ अध्यायमें वर्णन किया गया है।

पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों ने मानवीय जीवन के केवल एक-एक पक्ष को लेकर आर्थिक चिन्तन करने से अर्थशास्त्र में पूर्णता प्राप्त करली किन्तु प्राचीन

---

१. आचार्य शुक्र पृष्ठ १०९ पर देखें।

भारतीय अर्थशास्त्रियों ने मानवीय जीवन के समस्त पक्षों पर विस्तृत, सारगर्भित और सार्वभौमिक रूप से सब कुछ लिखा है किन्तु फिर भी भारत ही जहाँ उन प्राचीन विचारकों ने जन्म लिया और विचारों को दिया, वहीं के गुण ग्राही अर्थशास्त्री उन्हें नहीं मानते और जानते पुनः विदेशियों से कैसे आशा की जाये। यद्यपि हमारी अपेक्षा विदेशियों ने हमारे प्राचीन ग्रन्थों का अधिक अध्ययन किया है और उन ग्रन्थों का रचनाकाल मन माने रूप से एवं उसका मनमाना अर्थ लगाकर अपने गौरव को सिद्ध किया है।

पाश्चात्य प्रसिद्ध अर्थशास्त्री कीन्स ने अपने देश की परिस्थितियों के अनुसार उठने वाली समस्याओं को बड़ी गम्भीरता से प्रस्तुत किया है। जन-संख्या की वृद्धि के कारण रोजगार-आजीविका की समस्या एक बहुत बड़ी समस्या है, जिस पर सर्व प्रथम कीन्स ने ही विचार किया। कीन्स के 'पूर्ण रोजगार' सिद्धान्तका सर्वत्र स्वागत हुआ। पूँजीवादी व्यवस्थामें बेरोजगारी की समस्या की उत्पत्ति को कीन्स ने माना है और इसप्रकार की समस्याओं का निदान शासन के द्वारा ही कीन्स ने खोजा। पूर्ण रोजगार तभी सफल होगा जब पूर्ण विनियोग व्यवस्था अपनाई जाये।

पाश्चात्य अर्थशास्त्री 'कीन्स' के 'पूर्ण रोजगार' की तुलना हम प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों और विशेष कर आचार्य कौटिल्य की आर्थिक व्यवस्था से करते हैं। कौटिल्य अर्थशास्त्र का विवेचन चतुर्थ अध्याय में विस्तृत रूप से किया गया है। आचार्य कौटिल्य आदि प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों ने उद्योग को अर्थ प्राप्ति का मूलकारण माना है और उद्योग पूर्ण कार्यों के विकास से ही अधिक से अधिक लोगों को आजीविका मिलने की व्यवस्था दी है। अकर्मण्य सामाजिक को प्राचीन भारतीय विचारकों ने अत्यन्त बुरा माना है। प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्य में लगा हुआ अपनी जीवनोपयोगी वस्तुओं का उपार्जन करता रहता है।

प्रायः देखा जाता है कि भूखा रहने पर ही मनुष्य सामाजिक नियमों का उल्लंघन करता है। प्रत्येक व्यक्ति को इसीलिये जीविका की आवश्यकता होती है। जीवन यापन के लिए मनुष्य जीविका खोजता है। जब अच्छे मार्गों के द्वारा वह उपार्जन नहीं कर सकता पुनः बुरे मार्गों का अनुसरण कर वह जीवन यापन करता है। प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने आजीविका–रोजगार की समस्या को सुलझाने के लिए 'अर्थ को जगत के लिए अत्यावश्यक माना है।' अर्थ का मूलकारण उद्योग को ही माना गया है। पूँजी का एकत्रीकरण

होना पूँजीपतियों को जन्म देना होता है। अतः प्राचीन भारतीयों ने राजा को राज्य की रक्षा के लिए आवश्यक माना है। अच्छा राजा पूँजीपतियों पर नियन्त्रण रखता है और राष्ट्र के कुछ ही लोगों के स्वार्थ का ध्यान नहीं रखता अपितु समस्त प्रजा की आजीविका का ध्यान रखता है।

आचार्य कौटिल्य ने इसीलिए राजा को प्रजा के कल्याण के लिये आवश्यक माना हैं क्योंकि वह अपना सर्वस्व लगाकर अपनी प्रजा की रक्षा करता है :—

'प्रजा के सुख में ही राजा का सुख और प्रजा के हित में ही राजा को अपना हित समझना चाहिये। अपने आपको प्रिय लगने वाले कामों का करना राजा का हित नहीं, किन्तु प्रजा के प्रिय कामों का करना ही राजा का अपना सबसे बड़ा हित है।'[1]

इस प्रकार के उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रजा राजा का अत्यधिक सम्मान करती थी और राजा प्रजा के कल्याण को अपना सुख समझता था। आचार्य कौटिल्य ने राजा को प्रजा के कल्याण के लिए आवश्यक माना है। राजा प्रजा के आर्थिक जीवन को उन्नत करने में सबसे बड़ा माना गया है। राजा अपनी प्रजा के लिए अनेक प्रकार के रोजगार देने की नवीन से नवीन कई परियोजनायें चलाता था। जिससे प्रजावर्ग को अधिक से अधिक रोजगार मिलता था और आजीविका की समस्या स्वतः हल होने लगती थी।

कीन्स ने 'पूर्ण रोजगार' की समस्या को हल करने के लिए शासन को पूर्ण दायित्व दिया है। सरकार का कर्तव्य है कि वह अपने देशकी जनता को व्यापारिक कार्यों को खोल कर रोजगार देना चाहिये। आचार्य कामन्दकी ने प्रजा की आजीविका के लिए राजा पर ही पूर्ण दायित्व छोड़ा है। यदि शासक प्रजा की पूर्ण रोजगार की समस्या हल नहीं कर सकता तो प्रजाजन ऐसे शासन को छोड़ देती है। जैसेः—

"राजा मेघों के समान भूमि में सब प्राणियों को आजीविका (पूर्ण रोजगार) देने वाला होता है और जो आजीविका नहीं दे सकता उसे सारी प्रजा इस प्रकार छोड़ देती है जैसे पक्षी सूखे पेड़ को छोड़ देते हैं।"[2]

---

१. प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥
कौटिल्य १ अधिकरण १९ अध्याय ३९ श्लोक।

२. अजीव्यः सर्वभूतानां राजा पर्ज्जन्यवद्भुवि।
निराजीव्यं त्यजन्त्येनं शुष्कवृक्षमिवाण्डजाः॥ कामन्दकी ५ सर्ग ५९ श्लोक

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने २० वीं शताब्दी के पाश्चात्य आर्थिक विचारक से पूर्व ५ वीं शताब्दी में ही आजीविका का समस्त दायित्व राजा पर छोड़ दिया था। कीन्स ने तो १४ सौ वर्ष पश्चात् अपने देश की परिस्थितियों के कारण पूर्ण रोजगार की समस्या पर ध्यान दिया।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों के आर्थिक विचारों और सिद्धान्तों की तुलना पाश्चात्य आर्थिक विचारकों के साथ आधुनिक भारतीय अर्थशास्त्र के अध्येता देखें और प्राचीन भारतीयों को मानवीय जीवन के समस्त अंगों पर बहुमुखी प्रतिभा को एवं उनकी चिन्तन प्रक्रिया को देखने से यह अच्छी प्रकार विदित हो जायेगा कि भारतीयों ने आर्थिक क्षेत्र में कितना विकास कर लिया था।

"राजा को जीविका देने के विषय में कल्पवृक्ष से तुलना की गई है। आजीविका को चाहने वाले व्यक्तियों को जीविका हेतु राजा की सेवा करनी चाहिये।"[1]

राजा का यह भी कर्तव्य है कि जो लोग अपनी पूंजी लगाकर कार्य खोलना चाहते हों उन्हें संरक्षण देकर प्रोत्साहित करना चाहिये। जिससे वे अधिक से अधिक लोगों को रोजगार देने के लिए विनियोग कर सकें। अर्थवान् प्रायः अपने अर्थ का तभी विनियोग करता है जब उसे अपनी पूंजी की वृद्धि, सुरक्षा और राज्य का भय नहीं रहता है तभी वह लाभ के लिए पूंजी का विनियोग करता है। अर्थवान् सरकार से टैक्सों के कारण भी भयभीत रहता है। अतः शीघ्रता से पूंजी का विनियोग नहीं करता।

कीन्स ने पूंजीवाद को पूर्ण रोजगार में समाप्त करने का विचार तो नहीं दिया किन्तु पूंजीवाद में वह सुधार अवश्य चाहता था। कीन्स ने बेरोजगारी की समस्या को व्यवहारिक नीति और बुद्धि के बल पर ही सुलझाने का परामर्श दिया है।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने विद्या का अर्थशास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान निर्धारित किया है। क्योंकि विद्या के बल पर ही व्यक्ति को विवेकशीलता आती है और विवेकी व्यक्ति ही व्यवहारज्ञ, नीति का ज्ञाता होता है।

आचार्य शुक्र ने तो इसलिये जगत के व्यवहार चलाने के लिए नीति को

---

१. इत्यर्थवृत्ति सम्पन्नाः कल्पवृक्षोपमं नृपम्।
अभिगम्य गुणैर्युक्तं सेवेयुरनुजीविनः॥ कामन्दकी ५ सर्ग १ श्लोक

महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। नीति शास्त्र के ज्ञान के द्वारा ही व्यक्ति में व्यवहार-ज्ञता और कार्य कुशलता आती है। जैसे:—

"सम्पूर्ण लोक व्यवहार की स्थिति बिना नीतिशास्त्र के उसी प्रकार नहीं हो सकती, जिस प्रकार भोजन के बिना प्राणियों की देह की स्थिति नहीं रह सकती।"[1]

आचार्य शुक्र ने इस नीति शास्त्र के बल पर ही राजा को व्यवहारज्ञाता और नीति निपुण माना है।

"राजा इसी शास्त्र के द्वारा ही नीति में निपुण होते हैं।"[2]

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने भी अपने युग के अनुरूप पूर्ण रोजगार दिलाने की पूर्ण व्यवस्था की हुई थी। वे यह अच्छी प्रकार अनुभव करते थे कि अकर्मण्य व्यक्ति ही समाज का सबसे बड़ा घातक होता है। अतः उन्होंने प्रत्येक व्यक्तिको काम पर लगाया हुआ था।

आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अध्ययन करने पर यह अच्छी प्रकार विदित होता है कि शासन के संचालन के लिए, प्रजाजन को पूर्ण रोजगार देने के लिए, सामाजिक नियमों का परिपालन करने के लिए और अपने राष्ट्र की आर्थिक स्थिति उन्नत करने के लिए एवं राष्ट्र को सुसंगठित रखने के लिए अनेक विभागों की स्थापना की हुई थी। जैसे :—

१—आमात्यों की नियुक्ति २—मन्त्री और पुरोहितों की नियुक्ति ३—गुप्तचरों की नियुक्ति ४—दूतों की नियुक्ति ५—भवन निर्माण करने वालों की नियुक्ति ६—कोषागार की स्थापना—सन्निधाता की नियुक्ति ७—समाहर्ता और कर संग्रह करने वालों की नियुक्ति ८—कोष्ठागाराध्यक्ष ९—पण्याध्यक्ष १०—कुप्याध्यक्ष ११—आयुधागाराध्यक्ष १२—शुल्काध्यक्ष १३—सूत्राध्यक्ष १४—सीताध्यक्ष १५—सुराध्यक्ष १६—सूनाध्यक्ष १७—गणिकाध्यक्ष १८—नावध्यक्ष १९—गोऽध्यक्ष २०—अश्वाध्यक्ष २१—हस्त्यध्यक्ष २२—रथाध्यक्ष २३—मुद्राध्यक्ष २४—विवीताध्यक्ष—इस प्रकार अनेक विभागों की स्थापना की गई थी। इन विभागों के द्वारा ही प्रजा के अधिक से अधिक लोगों को

१. सर्व लोक व्यवहार स्थितिर्नीत्या विना नहि।
यथाऽशनैर्विना देहस्थितिर्न स्याद्धि देहिनाम्॥
शुक्र १ अध्याय ११ श्लोक

२. सुनीतिकुशला नित्यं प्रभवति च भूमिपा॥ शुक्र १ अध्याय ७ श्लोक

रोजगार मिलेगा। रोजगार की समस्या को हल करना प्राचीन भारतीय अर्थ-शास्त्रियों का प्रमुख उद्देश्य रहा है। प्रजा के सभी लोगों को पूर्ण रूप से आजीविका देना शासक का प्रबन्ध था। शासक अपने शासन में किसी भी व्यक्ति को बिना आजीविका के नहीं रहने देता था। जो व्यक्ति जिस कार्य को जानता था उसे उसी कार्य में लगाकर उसकी योग्यता से लाभ उठाता था और उसे आजीविका (रोजगार) की चिन्ता से मुक्त कर देता था। सभी को रोजगार देने से सबसे बड़ा राष्ट्र का जो कार्य होगा वह यह होगा कि राष्ट्र अपनी आर्थिक स्थिति को उन्नत कर सकेगा। आर्थिक उन्नति के पश्चात् ही राष्ट्र शक्तिशाली बनता है।

आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में वस्त्रोद्योग का वर्णन करते हुए आजीविका का कितना बड़ा ध्यान रखा हुआ था। आचार्य कौटिल्य ने पुरुषों की ही आजीविका का ध्यान नहीं रखा अपितु समाज में आश्रय रहित स्त्रियों तक को वस्त्रोद्योग में सूत कातने का काम दिया हुआ था। उस कार्य में भी उन स्त्रियों के सम्मानादि का विशेष ध्यान रखा था। जैसे :—

"ऊन, पेड़ों की छाल के रेशों से, सन, जूट, कपास, सेमल आदि को विधवा, विकलांग, कन्या, संन्यासिनी, अपराधिन, वेश्याओं की वृद्धा माता, वृद्धा राजदासी और देवालय की परिचारिकाओं से सूत कतवायें।"[१]

समाज में रोजगार-आजीविका के कारण कोई दुखी न रहे और सामाजिक संरचना पर उस बेरोजगारी—आजीविकारहित लोगों पर बुरा प्रभाव न पड़े अतः सर्वप्रथम जीविका की चिन्ता पर ध्यान दिया है। काम करने वालों के प्रति सदा सद्व्यवहार किये जाने के आदेश दिये हुए थे :—

"जो महिलायें अपने घर पर ही काम करना चाहें उनके घरों में सूत्राध्यक्ष दासियों द्वारा सूत कतवाने का काम कराने और उनके साथ अच्छा व्यवहार करें।"[२]

इस प्रकार के उद्धरणों से अवगत होता है कि कौटिल्य आदि प्राचीन आर्थिक विचारकों ने अपने सामाजिकों का 'पूर्ण आजीविका' का अच्छा प्रबन्ध

१. ऊर्णावल्ककार्पासतूलशणक्षौमाणि च विधवान्यङ्गाकन्याप्रव्रजितादण्डप्रति-कारिणीभी रूपाजीवामातृकाभिर्वृद्धराजदासीभिर्व्युपरतोपस्थान देवदासीभिश्च कर्तयेत् ॥ कौटिल्य २ अधिकरण २३ अध्याय २ श्लोक

२. याश्चानिष्कासिन्यः प्रोषितविधवा न्यङ्गा कन्यका वात्मानं विभृयुस्ताः स्वदासीभिरनुसार्य सोपग्रहं कर्म कारयितव्याः ॥ कौ. २।२३।१२

किया हुआ था। 'कीन्स' ने १९ वीं शताब्दी में व्यक्ति की 'पूर्ण अजीविका' पूर्ण रोजगार की व्यवस्था पर ध्यान दिया किन्तु प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्री हजारों वर्ष पूर्व इस आजीविका की समस्या का समाधान और प्रत्येक व्यक्ति को जीविका देने की व्यवस्था कर चुके थे। समाज का प्रत्येक व्यक्ति उद्योगी हो अतः सर्व प्रथम 'राज्ञो हि व्रतं उत्थानम्' अर्थात् राजा को उद्योग करने का व्रत लेना चाहिये। इस प्रकार दृढ़निष्ठा से उद्योगपूर्ण कार्यों को जब सर्वोच्च सत्ताधारी राजा करेगा तो उसको देखते हुए अन्य सामाजिक आलसी कैसे बैठ सकते हैं ? ऐसी व्यवस्था में बेरोजगारी का प्रश्न ही नहीं उठता।

'कीन्स' के शब्दों में ही प्राचीन भारतीय आर्थिक व्यवस्था सफल और जनता के लिए परमोपयोगी थी। किसी भी देश की अर्थ व्यवस्था तभी अच्छी मानी जायेगी जब उसमें पूर्ण आजीविका (पूर्ण रोजगारी) की व्यवस्था होगी और कोई भी व्यक्ति आजीविका से दुखी न होगा।

रोजगार से तात्पर्य उस समस्या का समाधान है कि जिसमें कार्य करने की क्षमता रखने वाले सभी लोगों को आजीविका मिल सके। बाल और वृद्ध दोनों इसमें नहीं गिने जाते हैं क्योंकि वे आजीविका के योग्य नहीं रहते हैं।

प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों ने उद्योगपूर्ण कार्यों एवं विनियोग को अर्थ प्राप्ति का साधन और प्रजा के अधिक से अधिक लोगों को रोजी-रोटी देने वाला माना है। प्राचीन भारतीयों के विचारों के अनुरूप पाश्चात्य अर्थशास्त्री कीन्स महोदय ने भी बिनियोग को 'पूर्ण रोजगार' का महत्त्वपूर्ण साधन माना है। वस्तुत उद्योग ही आजीविका की समस्या हल कर सकता है।

इस प्रकार ऊपर के विवरणों से ज्ञात होता है कि कीन्स के 'पूर्ण रोजगार' के सिद्धान्त से हजारों वर्ष पूर्व प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों ने प्रजा के लोगों की आजीविका की समस्या को समाधान करने के लिए उपाय सोच लिये थे।

अर्थशास्त्र के अध्येताओं के समक्ष तुलनात्मक विचार करने के लिए दोनों विचारधाराओं को प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। मुझे विश्वास है कि पाश्चात्य विचारधारा से अनुप्राणित हुए अध्येता दोनों विचारधाराओं की वस्तुस्थिति का अवलोकन कर सार ग्रहण करते हुए उन प्राचीन भारतीयों की वर्षों की चिन्तन प्रक्रिया पर निष्पक्ष भाव से विचार करेंगे।

कामन्दकी ने सामाजिकों को पूर्ण रोजगार के लिए अनेक प्रकार की कई नई-नई योजनाओं को भी प्रारम्भ किया था। प्रजा का कोई भी व्यक्ति बिन

आजीविका का न रहे, अतः राज्य की ओर से अनेक नवीन कार्यों को इस प्रकार योजनावद्ध किया हुआ था :—

"१—कृषि, २—वाणिज्य ३—मार्गों का निर्माण ४—दुर्ग ५—सेतु ६—हाथियों के बन्धन स्थान ७—खानों से बहुमूल्य धातुओं का निकालना ८—शून्य (निर्जन) स्थानों पर नई बस्तियों का निर्माण करना।"[1]

इस प्रकार के उद्धरणों से विदित होता है कि कीन्स के पूर्ण रोजगार की दृष्टि से प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक कामन्दकी नें प्रत्येक आजीविका चाहने वाले व्यक्ति की आजीविका दिलाने के लिए कितने ही नवीन कार्य दिखाये हैं। जिसने मनुष्य अपनी आजीविका की समस्या हल कर सकता है।

आज के युग में आजीविका की समस्या संसार के सभी राष्ट्रों में अपना भयंकर रूप दिखाये हुये हैं। इस आजीविका का सबसे बुरा प्रभाव यदि किसी पर पड़ा है तो शिक्षित नवयुवकों पर पड़ा है। उसका सबसे बड़ा कारण शिक्षा पद्धति का दोष है क्योंकि आज की शिक्षा बहुमूल्य, अंग्रेजों की तरह कार्यालयों में काम करा के पराङ्मुख पेक्षी (दूसरों के मुख देखने वाली) बनाती है। आज की शिक्षा समाप्त होने के बाद ही आजीविका की समस्या तय्यार करती है। वास्तविक विद्या और शिक्षा वह है जो शिक्षित एवं प्रशिक्षित की ही आजीविका की समस्या हल न करे अपितु राष्ट्र के अन्य लोगों को भी जीविका दिला सके। प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों ने इसलिये विद्य का महत्त्व बताते हुये 'वर्ता' के ज्ञान पर अधिक बल दिया है। यह वार्ता ही उद्योग द्वारा समस्त बेरोजगारी को दूर करती हुई लोगों को पूर्ण रोजगार दे सकती है।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों ने अपने चिन्तन के द्वारा ही यह निर्णय दिया है कि 'विद्या' के द्वारा अज्ञान और 'उद्योग' के द्वारा विपन्नावस्था (गरीबी) अति सुगमता से हटाई जा सकती है। गरीबी और अज्ञान मानवता के सबसे बड़े शत्रु हैं, जो मनुष्य को कभी भी प्रसन्न और उन्नत नहीं होने देते हैं। गरीबी से आलसी और अज्ञान से मूर्ख कब संघर्ष कर सकता है ? जब वह भूख, परतन्त्रता से अत्यधिक प्रपीड़ित किया जाता है तब उसके शरीर में उद्योग की शक्ति संचारित होती है और अज्ञानी अंधकार

१. कृषिवणिक्पथो दुर्गं सेतुः कुञ्जर बन्धनम्।
खन्याकरधनादानं शून्यानाञ्च निवेशनम्॥ कामन्दकी ५ सर्ग ७८ श्लोक

में भटकता हुआ किंकर्तव्य विमूढ़ होने पर जब अपने में एकाग्रता एवं चिन्तन शक्ति जाग्रत करता है, तभी दोनों गरीबी और अज्ञान से संघर्ष लेकर विजय प्राप्त कर सकते हैं।

आज संसार के अर्ध-विकसित राष्ट्रों के समक्ष 'गरीबी' ही एक सबसे बड़ी समस्या एवं सबसे भयंकर शत्रु बना हुआ है। इस शत्रु को पराजित करने के लिये एकमात्र उपाय उत्साह, धैर्य, एकता, विवेक, त्याग और उद्योग ही हैं। उद्योग के ही बल से बेरोजगारी, गरीबी, भेदभाव, अकर्मण्यता, आलस्य, अनेकता, स्वार्थ और अनुत्साह समाप्त हो सकते हैं। संसार के अन्य किसी मन्त्र में इनको पराजित करने की शक्ति नहीं रह गयी है। गरीबी और बेरोजगारी को भगाने का 'उद्योग' (श्रम) ही एक सबल और सफल मन्त्र है। जो सभी कालों में, सभी राष्ट्रों में अपना चमत्कार दिखा चुका है और दिखा रहा है।

जिन समस्याओं के समाधान के लिये पाश्चात्य और आधुनिक अर्थशास्त्री अपने नवीनतम विचारों को दे रहे हैं, उन्हें प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारक आज से हजारों वर्ष पूर्व दे चुके थे जिससे उन्हें गरीबी, बेरोजगारी और अकर्मण्यता का सामना नहीं करना पड़ता था।

श्रम का महत्त्व एवं श्रम विभाजन, जनसंख्या वृद्धि की समस्या, मूल्य निर्धारण, वस्तु वितरण, लगान, श्रम और पूंजी, बेरोजगारी की समस्या, विशाल खाद्यान्न भंडारों का निर्माण, अज्ञान का निराकरण और गरीबी से संघर्ष इन सभी प्रकार की समस्याओं का समाधान प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकोंके पूर्ववर्णित आर्थिक सिद्धान्तोंमें अच्छी प्रकार अभिव्यक्त किया गया है।

मेरा पूर्ण विश्वास है कि आधुनिक युग के उन्नति चाहने वाले राष्ट्रों को इन प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों के सिद्धान्तों को क्रियान्वित करके देखना चाहिये, जिससे उन्हें समस्याओं के समाधान का सही मार्ग अवश्य मिलेगा।

उद्योग ही अर्थप्राप्ति का साधन, आजीविका की समस्या का समाधान और गरीबी को मिटाने का मूल मंत्र है।

"अर्थस्य मूल-उत्थानं = उद्योगम्" (कौटिल्य १।१९।४०)

History